MATS UNIVERSITY

NAAC GRADE A+ ACCREDITED UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR OPEN & DISTANCE EDUCATION

प्रतिनीधि राजनीतिक विचारक एवं विचारधारा

बैचलर ऑफ़ आर्ट्स (बी.ए.)

तृतीय सेमेस्टर

SELF LEARNING MATERIAL

COURSE DEVELOPMENT EXPERT COMMITTEE

1- Prof.(Dr.) Reshma Ansari, HOD Hindi Department , MATS University Raipur Chhattisgarh
2- Dr. Sudhir Sharma , Subject Expert ,HOD Hindi Department, Kalyan College, Bhilai
3- Dr. Kamlesh Gogia Associate Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh
4- Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh
5- Dr. Rajesh Kumar Dubey , Subject Expert, Principal , Shahid Rajeev Pandey Government College ,Bhatagaon , Raipur ,Chhattisgarh
6- Dr. Naaz Benjamin , Principal ,Government Mata Shabri Naveen Girls College, Bilaspur, Chhattisgarh

COURSE COORDINATOR

Mr. Khileshwar Raxsel ,Assistant Professor, MATS University ,Raipur, Chhattisgarh

COURSE /BLOCK PREPARATION

Dr. Sunita Shashikant Tiwari Associate Professor, MATS University Raipur Chhattisgarh

March, 2025

@MATS Centre for Distance and Online Education, MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

All rights reserved. No part of this work may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form, by mimeograph or any other means, without permission in writing from MATS University, Village- Gullu, Aarang, Raipur-(Chhattisgarh)

Printed & Published on behalf of MATS University, Village-Gullu, Aarang, Raipur by Mr. Meghanadhudu Katabathuni, Facilities & Operations, MATS University, Raipur (C.G.)

Disclaimer-Publisher of this printing material is not responsible for any error or dispute from contents of this course material, this is completely depends on AUTHOR'S MANUSCRIPT.

Printed at: The Digital Press, Krishna Complex, Raipur-492001(Chhattisgarh)

अनुक्रमणिका

माड्यूल	विषय – प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक एवं विचारधारा – III	
माड्यूल – 1	**प्रमुख भारतीय विचारक – I**	
	इकाई – 1 कौटिल्य	1-5
	इकाई – 2 कौटिल्य की सामाजिक व्यवस्था	6-13
	इकाई – 3 राजाराममोहन राय	14-18
	इकाई – 4 राजाराममोहन राय के सामाजिक विचार	19-24
	इकाई – 5 स्वामी दयानंद सरस्वती	25-30
	इकाई – 6 स्वामी दयानंद सरस्वती के सामाजिक विचार	31-37
माड्यूल – 2	**प्रमुख भारतीय विचारक – II**	
	इकाई – 7 स्वामी विवेकानंद	38-42
	इकाई – 8 स्वामी विवेकानंद और उनकी सामाजिक विचार	43-49
	इकाई – 9 गोपाल कृष्ण गोखले	50-55
	इकाई– 10 गोपाल कृष्ण गोखले के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार	56-59
	इकाई– 11 बाल गंगाधर तिलक	60-63
	इकाई– 12 बाल गंगाधर तिलक के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार	64-77
	इकाई– 13 महात्मा गांधी	78-82
	इकाई– 14 महात्मा गांधी के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार	83-89
	इकाई– 15 डॉ. भीमराव अंम्बेडकर	90-95
	इकाई– 16 डॉ. भीमराव अंम्बेडकर के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार	96-99
	इकाई– 17 डॉ. राममनोहर लोहिया	100-103
	इकाई– 18 डॉ. राममनोहर लोहिया के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार	104-107
माड्यूल – 3	**पाश्चात्य विचारक – I**	
	इकाई– 19 प्लेटो	108-120
	इकाई– 20 पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा और प्लेटो के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार	120-147

Acknowledgement

The Material (Pictures and images) we have used is purely for educational purpose. Every effort has been made to trace the copyright holders of material reproduced in this book. Sould any infringement have occurred, the publishers and editors apologize and will be pleased to make the necessary corrections in future of this book.

माड्यूल – 1 प्रमुख भारतीय विचारक – 1
इकाई – 1 कौटिल्य (Kautilya)

जीवन वृत – कौटिल्य भारत के महान राजनीति वेत्ता तथा कूटनीतिज्ञ माने जाते हैं। परन्तु उनके जीवन वृत्त की प्रमाणिकता आज तक सिद्ध नहीं हो पाई है। उनके नाम भी कई रहे हैं, यथा विष्णुगुप्त, कौटिल्य और चाणक्य । कौटिल्य का वास्तविक नाम विष्णुगुप्त था। कौटिल्य उन्हें इस कारण कहा गया क्योंकि उनका जन्म कुटिल नामक ब्राह्मण वंश में हुआ था । चणक के पुत्र होने के कारण वे चाणक्य कहलाये। कौटिल्य के जन्म स्थान के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार उनकी जन्मभूमि तक्षशिला है तो जैन ग्रन्थों के अनुसार उनकी जन्मस्थली नेपाल की तराई थी। इनकी शिक्षा नालन्दा विश्वविद्यालय में हुई थी। उस काल में मगध राज्य पर नन्द वंश का शासक था, जिसका अन्तिम शासक महापदमानन्द था, जिसका प्रधानमंत्री सकदार था। एक कथा प्रचलित कुछ ब्राह्मणों है कि सकटार अपने राजा महापदमानन्द से असन्तुष्ट था। एक दिन राजा ने शकधर को को निमन्त्रित करने का कार्य सौंपा। शकधर ने एक दिन इस काले शिखाधारी चाणक्य को कटीली झाड़ियों में मठा डालकर समूल नष्ट करते देखा । शकधर के पूछने पर उसने बताया कि इन झाड़ियों के कौटों ने उसके पैरों को घायल कर दिया था। अतः वह इनकी जड़ों में मठा डालकर नष्ट कर देगा। सकटार ने उसे निमन्त्रण दे दिया तथा उसे सबसे ऊँचे आसन पर बिठाया। महापदमानन्द ने कौटिल्य के काले रंग को देखकर उसका अपमान कर दिया तो उसी समय कौटिल्य ने अपनी शिखा खोलकर यह प्रण किया कि जब तक नन्द वंश का नाश नहीं कर लूँगा, तब तक अपनी शिखा में गाँठ नहीं लगाऊँगा । चन्द्रगुप्त के सहयोग से उसने नन्द वंश का विनाश किया। जब सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था, तब चाणक्य तक्षशिला विश्वविद्यालय में अध्यापक थे और नीतिशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान थे। इसी विश्वविद्यालय में चन्द्रगुप्त ने शिक्षा पाई थी। जब चन्द्रगुप्त मौर्य मगध के शासक बने तो चाणक्य उनके प्रधानमंत्री बन गये और मौर्य शासन को सुदृढ किया तथा उसका विस्तार भी किया। चाणक्य बड़े निस्पृह, देशभक्त, सदाचारी तथा स्वाभिमानी प्रधानमंत्री थे। स्वार्थ तयाग कर राष्ट्र सेवा उनका लक्ष्य था। सालेटोर ने उनके विषय में लिखा है कि, ष्प्राचीन भारत की राजनीतिक विचारधाराओं में सेबसे अधिक विचार देने योग्य कौटिल्य की विचारधारा है ।

रचनाएँ – कौटिल्य की प्रसिद्ध कृति अर्थशास्त्र है। इस ग्रन्थ में राजनीतिक सम्बन्धी समस्त विषयों का वर्णन किया गया है। राजनीति से सम्बन्धित समस्त विषयों का वर्णन इस पुस्तक में जितना है, उतना विश्व की किसी भी राजनीति की पुस्तक में नहीं है। अपने ग्रन्थ को कौटिल्य ने इन शब्दों में प्रारम्भ किया है, ष्प्राचीनकाल में नीतिशास्त्र के आचार्यों ने पृथ्वी को जीतने और पृथ्वी का पालन करने के सम्बन्ध में जितने विषय का वर्णन किया है प्रायः उन सबका तत्व निकालकर अर्थशास्त्र का निर्माण किया है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र कौटिल्य की एक महान रचना है। अर्थशास्त्र की रचना कब हुई, इस सम्बन्ध में विद्वानों में परस्पर मतभेद है । कतिपय विद्वान जैसे – विण्टरनित्य आदि अर्थशास्त्र को ईसा की तीसरी शताब्दी का ग्रनी मानते हैं, किन्तु डॉ० श्यामशास्त्री, डॉ० काशी पायसवाल फलीट और स्मिथ, एन० एन० लॉ और डी० आर० मण्डारकर, गणपति शास्त्री आदि विद्वान अर्थशास्त्र को मौर्यकालीन अर्थात तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व की रचना मानते हैं। यह द्वितीय मत ही प्रामाणिक माना गया है ।

कौटिल्य अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ श्अर्थशास्त्र में अर्थशास्त्र की परिभाषा करते हुये कहते हैं कि, ष्मनुष्य की जीविका और जिस भूमि पर वे रहते हैं, वे दोनों अर्थ हैं। अतः यह शास्त्र

अर्थशास्त्र है, जिससे मनुष्यों वाली भूमि के लाभ और उसका पालन करने के उपायों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार कौटिल्य का अर्थशास्त्र केवल धन संग्रह के उपायों का ही अध्ययन नहीं करता है, वरन् विभिन्न उपायों द्वारा प्राप्त की गई भूमि में सुव्यवस्था स्थापित करने तथा मनुष्यों के भरण–भोषण के उपायों का भी वर्णन करता है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में शासन–व्यवस्था का पूर्ण विवेचन किया गया है।

डॉ० अल्तेकर अर्धशास्त्र का वही स्थान है जो व्याकरणशास्त्र के वाड्मय में पाणिनी अष्टाध्यायी का है। पाणिनी की भाँति ही कौटिल्य ने समस्त पूर्ववर्ती विचारकों को परदे में पीछे कर दिया, उनके ग्रन्थ धीरे–धीरे उपेक्षित व लुप्त हो गये । कौटिल्य ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र की रचना तथा पद्य दोनों में ही की है। इसमें 15 अधिकरण हैं जो कि निम्नवत है।

प्रथम अधिकरण– विनयाधिकरण है। इसमें राजा के जीवन और व्यवहार का सामान्य

द्वितीय अधिकरण– अन्यक्ष प्रचार है जिसमें राज्य के विभिन्न प्रशासकीय अध्यक्षों के विभागों और कर्तव्यों का वर्णन है।

तृतीय अधिकरण– धर्मस्थलीय है, जिसमें दीवानी मुकदमा की सुनवाई और निर्णण आदि न्यायिक बातों का वर्णन किया गया है।

चतुर्थ अधिकरण– कण्टक शोधन है। इसमें समाज के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने वालों के लिये दण्ड विधान की व्यवस्था का वर्णन है ।

प्रचम अधिकरण– योगवृत है, जिसमें राज्य कर्मचारियों के कर्तव्यों का उल्लेख तथा अराजभक्तों को दण्ड देने के नियमों का वर्णन किया गया है।

हैं।

षष्ठ अधिकरण– मण्डलयोनि है। इसमें शत्रु राष्ट्रों को वश में करने के उपाय बताये गये।

सप्तम् अधिकरण– षाड्गुण्य है । वैदेशिक सम्बन्धों का वर्णन किया गया है। इसमें शत्रुओं के प्रतिकार के उपाय बताये गये हैं ।,

अष्ठम् अधिकरण– व्यसनाधिकरण में राज्य की विपत्तियों के मूल कारणों तथा उन्हें दूर करने के उपाय बताये गये है ।

नवम् अधिकरण–इसका अभियारत्कर्म कहा है, जिसमें विषय के लिये प्रस्थान करने से पूर्व के विचारणीय प्रश्नों का वर्णन है।

गया है।

दशम् अधिकरण– सांग्रामिक है। इसमें विजय के लिये युद्ध सम्बन्धी नियमों का वर्णन है।

एकादश अधिकरण– संघवृत में संघ राज्यों में फूट डालने की विधियों का वर्णन किया

द्वादश अधिकरण– अवलियस है। इसमें निर्बल राजाओं द्वारा सबल राजाओं के प्रतिकार के उपाय बताये गये है ।

त्रयोदश अधिकरण– औपनिषदक है। इसमें शत्रु पर विष जादू–टोना आदि को प्रयोग करने की विधियों का वर्णन किया गया है।

पंचमोदर अधिकरण– इसमें अर्थशास्त्र के अर्थ की सामान्य विवेचना की गई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कौटिल्य द्वारा रचित अर्थशास्त्र राजनीति और शासन कला की एक महान रचना है। इसका प्रतिपाद्य विषय प्रमुख रूप से दण्ड नीति है ।

कौटिल्य की सामाजिक व्यवस्था

कौटिल्य भी मनु के समान ही वर्णाश्रम धर्म की स्थापना तथा उसके विधिवत् पालन पर बल देता है। कौटिल्य का विचार है कि मानव तथा समाज के लाभ के लिये वर्णाश्रम धर्म की स्थापना करना परम आवश्यक है। कौटिल्य के सामाजिक विचारों को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है–

(अ) वर्ण व्यवस्था

मनु तथा कौटिल्य दोनों ही वैदिक परम्परानुसार वर्णाश्रम धर्म को मानते हैं। कौटिल्य भी मनु की तरह ही समाज को धर्म और कर्म के आधार पर चार वर्णों में विभाजित करते हैं– (1) ब्राह्मण (2) क्षत्रिय (3) वैश्य (4) शूद्र

(1) ब्राह्मण वर्ण – कौटिल्य ने भी मनु की तरह ब्राह्मण वर्ण को सामाजिक व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान दिया हैं कौटिल्य का विचार है कि ब्राह्मण वर्ण का प्रमुखं धर्म ज्ञान प्राप्त करना, वेदों का अध्ययन करना, अन्य व्यक्तियों को वेदों का ज्ञान करांना, यज्ञ करना तथा कराना, दान लेना तथा दान देना है।

(2) क्षत्रिय वर्ण – कौटिल्य के मतानुसार क्षत्रियों का प्रमुख धर्म प्रजा की रक्षा करन, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना हैं। क्षत्रियों का यह भी कर्तव्य हैं कि वह अन्य लोगों को स्वधर्म का पालन करने तथा अपराध वृत्ति का त्याग के लिए उद्यत तथा बाध्य करें। इसके अतिरिक्त क्षत्रियों को विषयों में आसक्ति नहीं रखनी चाहिये तथा उन्हें अपने अधिकारों का दुरूपयोग भी नहीं करना चाहिए ।

(3) वैश्य वर्ण– कौटिल्य के मतानुसार राज्य की आर्थिक व्यवस्था का संचालन करना वैश्य वर्ण का प्रमुख धर्म है। पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, व्यापार तथा कृषि कार्य करना वैश्यों का प्रमुख कार्य है।

(4) शूद्र वर्ण–शूद्र वर्ण की प्रमुख कर्त्तव्यों ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण के लोगों की सेवा करना है। इसके साथ ही शिल्प, गायन, वादन व चारण भाट आदि का कार्य भी शूद्रों द्वारा ही किया जाना चाहिये ।

(ब) आश्रम व्यवस्था– कौटिल्य ने मनु के सामान जीवन को चार आश्रमों में विभाजित किया है। जीवन के ये चार आश्रम है।

(1) ब्रह्माचर्य आश्रम, (2) गृहस्थाश्रम, (3) वानप्रस्थाश्रम, (4) सन्यासाश्रम

(1) ब्रह्मचर्य आश्रम–कौटिल्य के मतानुसार मानव अपनी 25 वर्ष की आयु तक इसी आश्रम में रहेगा तथ यह अवस्था अध्ययन तथा ज्ञान प्राप्त करने की है। इस व्यवस्था में ब्रह्मचारी को वेदों का अध्ययन, अग्निहोम, भिक्षाटन करना चाहिये तथा जीवन पर्यन्त गुरू के निकट रहना चाहिये । ब्रह्मचारी का जीवन पवित्र होना चाहिए तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह आलस्य, असत्य तथा परनिन्दा से दूर रहना चाहिए।

(2) गृहस्थाश्रम – कौटिल्य के अनुसार 25 से 50 वर्ष की आयु तक मनुष्य अपना जीवन गृहस्थाश्रम में व्यतीत करेगा। ब्रह्मचर्य आश्रम के पश्चात् व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करेगा। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति का प्रमुख कार्य है–अन्य तीनों आश्रमों में रहने वाले व्यक्तियों का भरण–पोषण करना। गृहस्थाश्रम में व्यक्ति एक ओर तो धर्म, अर्थ और काम की साधना करता है तो दूसरी ओर वह कुल तथा समाज का परमार्थ करता है। इसीलिए इस आश्रम व्यवस्था को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है।

(3) वानप्रस्थाश्रम–वानप्रस्थ का अर्थ है– वन की ओर प्रस्थान करना । व्यक्ति 50 वर्ष की आयु पूर्ण करने के उपरान्त व्यक्ति इस आश्रम में प्रवेश करता था। वानप्रस्थी का धर्म है–– सबके प्रति मित्र भाव तथा दया भाव बनाये रखना, अतिथियों का सत्कार करना । यह काल विभिन्न विषयों पर चिन्तन मनन करने तथा दूसरों को ज्ञान देने का काल है।

(4) सन्यासाश्रम– कौटिल्य का विचार है कि 75 वर्ष की आयु पूर्ण करने के पश्चात् व्यक्ति सन्यासाश्रम में प्रवेश करता है । यह अन्तिम आश्रम है। सन्यासी को जितेन्द्रित होना चाहिए तथा कर्म से अपने को पवित्र रखना चाहियें। उसे जंगल में भी एक निश्चित स्थान पर नहीं रहना चाहिये तथा स्वल्प आहार ही लेना चाहिए।

वर्णाश्रम धर्म का महत्व

कौटिल्य ने समाज तथा राज्य में व्यवस्था बनाये रखने के लिए वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रतिपादन किया है। उसका मत है कि इनसे ही व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

अतः राजा का कर्तव्य है कि वह वर्णाश्रम धर्म को बनाए रखे। कौटिल्य कहते हैं कि, जिस राजा की प्रजा आर्य मर्यादा के आधार पर व्यवस्थित रहती है, जो वर्ण और आश्रम के नियमों का पालन करती हैं और जो त्रयी (तीन वेद) द्वारा निहित विधान से रहती है, वह प्रजा सदैव प्रसन्न रहती है और उसका कभी नाश नहीं होता।

राज्य की उत्पत्ति– राज्य की उत्पत्ति के समबन्ध में कौटिल्य ने सामाजिक अनुबन्धवाद के सिद्धान्त को माना है। उसने एक स्थान पर कहा है कि राज्य से पूर्व समाज में मत्स्य न्याय फैला था । शक्तिशाली निर्बलों पर मनमाने अत्याचार करते थे और नग्न हिंसक वृत्ति का साम्राज्य था। इस अवस्था से तंग आकर लोगों ने विवस्वान के पुत्र मनु को अपना राजा बना लिया। उन्होंने उत्पन्न हुए अन्न का छटा भाग, व्यापार द्वारा प्राप्त धन का दसवाँ भाग और स्वर्ण का कुछ भाग कर के रूप में अपने राजा के पास नियत किया। मनुष्यों ने राज्य की आज्ञाओं के पालन की प्रतिज्ञा की और इसके बदले में राजा ने अपने प्रजाजानों के ध
ान–जन की रक्षा का वचन दिया। इस प्रकार कौटिल्य ने उस संविदा सिद्धान्त का वर्णन किया, जिसका विशद और व्यापक विवेचन आगे चलकर हॉब्स, लॉक और रूसों ने किया। अपने अर्थशास्त्र में कहीं–कहीं राजा के ईश्वरीय अंश का उल्लेख किया है और राज्य के दैवीय सिद्धान्त का वर्णन किया है। वह यह भूल जाता है कि दोनों सिद्धान्तों में कोई संगति नहीं बैठ सकती । उसकी विवेचना से प्रतीत है कि उसका मूल विश्वास तो संविदा सिद्धान्त में है, परन्तु राजा के प्रति भक्ति दृढ करने के लिए तथा उसमें धार्मिक भाव उत्पन्न करने के लिए उसने दैवीय सिद्धान्त का सहारा लिया है।

इकाई – 2 कौटिल्य की सामाजिक व्यवस्था

सप्तांग सिद्धान्त – भारतीय राजशास्त्र में राज्य की कल्पना एक जीवित शरीर के रूप में की गई है। उसे एक सावयव माना गया है। शुक्रनीति में भी राज्य के अंगों की तुलना मानवीय अंगों से की गई है। शुक्रनीति में कहा गय है कि, इस शरीर रूपी राज्य में मूर्धा (सिर), आमात्य (आँख), सुहत (कान) कोष (मुख), बलमन, दुर्ग (हाँथ) और राष्ट्र (पेट) है। इस प्रकार राज्य के सात अंग माने है । आचार्य विष्णुगुप्त कौटिल्य ने भी राज्य को सप्त अंग या प्रकृत्ति युक्त माना है। राज्य की ये सात प्रकृत्तिया या सात अंग इस प्रकार है– (1) स्वामी, (2) आमात्य, (3) जनपद (प्रदेश) (4) दुर्ग, (5) कोष, (6) दण्ड और (7) मित्र। कौटिल्य ने इसका विशद् विवेचन किया है–

(1) स्वामी

आचार्य ने राज्य का स्वामी राजा को माना है। राजा की स्थिति राज्य में सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानी गई है। वही राज्य पर शासन करने वाला तथा आदेश देने वाला है। वह राजा को सर्वोपरि मानते हुए भी राजा में विनय, विवेक, शास्त्र ज्ञान, समयानुकूल व्यवहार करने की योग्यता, प्रजा के पोषण की क्षमता, राष्ट्र रक्षा की सामर्थ्य, शत्रु–मित्र की पहचान, चापलूसों की पहचान आदि गुण होने चाहिए। राजा का आचरण शुद्ध होना चाहिए। उसे संयमी तथा चरित्रवान होना चाहिए। उसे अपने कर्तव्यों के प्रति भी सदैव सजग रहना चाहिए।

(2) आमात्य – आमात्य राजा के सहायक होते हैं। ये लोग राजा के परामर्शदाता होते हैं। उच्च शासनाधिकारी भी इन्हीं में आते हैं। कौटिल्य ने आमात्यों में ऐसे व्यक्तियों को रखने की सलाह दी है, जो राजा के सम्बन्धी न हों तथा राजा के चापलूस भी न हों। आचार्य ने राजा को ऐसे व्यक्तियों से सचेत रहने की सलाह दी है, अतः वे ऐसे व्यक्तियों को आमात्य पद पर नहीं देखना चाहते।

(3) जनपद–कौटिल्य ने जनपद में जनता तथा भूमि दोनों को शामिल किया है। इनमें भूमि तो जन के उपयोग की वस्तु है तथा इसके बिना जन रह भी नहीं सकता। भूमि में नदी, तालाब, वन, खाने, जलीय व स्थलीय मार्ग, उपजाऊ मिट्टी, हर प्रकार के पशु–पक्षी, दुर्ग और पर्वत होने चाहिए। जनता के विषय में उसका मत है कि वह गुणवान, निष्ठावान, सम्पन्न तथा स्वामिनी होनी चाहिए। उसमें स्वेच्छापूर्वक कर चुकाने की आदत होनी

चाहिए। कौटिल्य भी ऑस्टिन की तरह इस बात पर जोर देता है कि जनता में शासक की आशाओं का स्वाभाविक रूप से पालन करने की क्षमता होनी चाहिए।

(4) दुर्ग – दुर्ग को भी कौटिल्य ने राज्य व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण अंग माना है। इसे वह राज्य की रक्षा के लिए आवश्यक अंग समझता है। वह राज्य को आक्रमण शक्ति का भी प्रतीक मानते हैं। उनकी दृष्टि में दुर्ग ऐसा होना चाहिए, जिसका सेना द्वारा मोर्चाबन्दी के लिए अच्छा प्रयोग किया जा सकें। इसमें भोजन सामग्री, पानी तथा हथियारों आदि की कारगर व्यवस्था होनी चाहिए। कौटिल्य ने चार प्रकार दुर्ग बतायें हैं–

1 औदिक–चारों ओर से पानी से घिरा होने वाला दुर्ग ।

2 पार्वत– पर्वतों के मध्य में स्थित दुर्ग

3 धान्वन–निर्जन मरुं प्रदेश में बना दुर्ग ।

4 वन दुर्ग–वनों के मध्य स्थित दुर्ग

(5) कोष – इस प्रकार दुर्ग व्यवस्था द्वारा कौटिल्य ने कोष पर सर्वाधिक महत्व दिया है।. राज्य के पास आय के समुचित तथा समर्थ साधन होने चाहिये। कोष के लिए राजा प्रजा से उत्पादन का 1ध्6 भाग ले सकता है। उसे अपने कोष को बहुमूल्य धातुओं और मुद्राओं से भी भरना चाहिये । परन्तु कौटिल्य का यह भी कथन है कि, कोष का संचय धर्मपूर्वक किया जाना चाहिये । वह मात्रा में इतना अधिक होना चाहिये कि उससे आपत्ति के समय में भी दीर्घ समय तक निर्वाह हो सके ।

(6) दण्ड अथवा सेना – कौटिल्य के अनुसार जिस राजा पर सैन्य बल अधिक होता है, उससे शत्रु राजा भी मित्रता करना पसन्द करते हैं। आचार्य सेना में क्षत्रियों को रखने के पक्षपाती हैं। उनका यह भी कहना है कि सेना सदैव सन्तुष्ट रहनी चाहिए, क्योंकि सन्तुष्ट सेना ही विजय की कुंजी होती है। कौटिल्या ने आवश्यक्ता बताई है। उन्होंने इस बात को जोर देकर लिखा है कि राजा को चाहिये कि वह सेना को अच्छा वेतन तथा भौतिक सुविधाएँ सुलभ करके सन्तुष्ट रखे, तभी राजकाज सुचारू रूप से चलेगा तथा बाहरी शत्रुओं का भी खतरा टलेगा।

(7) मित्र – कौटिल्य ने मित्र को भी राज्य का एक आवश्यक अंग माना है। मित्र बनावटी या दिखावटी नहीं होना चाहिए। वह आनुवांशिक तथा वफादार होना चाहिये। वह ऐसा होना चाहियें जो आवश्यक्ता पड़ने पर सहायता के लिए तुरन्त साथ आ सकता हो । जो मित्र का सच्चे ह्रदय तथा त्याग से साथ दे सकता हों

निष्कर्ष – इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य के सप्तांग सिद्धान्त की विवेचना कर यह बता दिया हैं कि राज्य के लिए क्या–क्या आवश्यक है । कौटिल्य ने अपने इस सिद्धान्त द्वारा राजकीय संस्था लौकिक एवं धर्म–निरपेक्षता रूप प्रदान किया है। उसमें उन्होंने पुरोहित को स्थान प्रदान न करके उसके महत्व को कम कर दिया है। पर उसे सच्चरित तथा प्रजा का हित चिन्तक बने रहने की शर्तें भी लगा दी है। प्राचीनकाल में जरूरत के अनुसार कोष और दुर्ग पर भी उन्होंने बल दिया है।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राज्य के सप्तांग सिद्धान्त का वर्णन करते हुये राजा को सर्वोच्च स्थान दिया है। इस प्रकार उन्होंने राजतन्त्र का ही समर्थन किया है। कौटिल्य के अनुसार शासन की सफलता राजा की अयोग्यता और शक्ति पर निर्भर करती है। आचार्य ने लिखा भी है कि उसने इस अर्थशास्त्र की रचना राज्यपति (राजा) के लिए की है। राजा शासनतन्त्र की धुरी है। वह शासन के संचालन में प्रमुख रूप से भाग लेता है और शासन को गति प्रदान करने में राजा की महत्वपूर्ण भूमिका है। उन्होंने राजा के शील प्रजा का शील माना है। यदि राजा सच्चरित, परिश्रमी और गुणी होगा तो प्रजा भी उसके आदर्शों का अनुसरण करेगी। यथा राजा तथा प्रजा कौटिल्य का सिद्धान्त है।

राजर्षि राजा – कौटिल्य राजा को राजर्षि के रूप में देखना चाहते हैं। वे राजा को आदर्श व्यक्ति मानते हैं। तथा उसे एक महान कर्तव्यपालक तथा विचारक के रूप में देखते

हैं। उनके अनुसार राजर्षि की रचना तभी हो सकती है, जबकि राजा शासन–मर्यादा को चाहने वाला, कृतज्ञ, दृढ़ निश्चयी, विचारशील और धार्मिक हो । इन गुणों की प्राप्ति के लिए आचार्य राजा की शिक्षा की बात भी कहते है।

राजा की शिक्षा इस विषय में कौटिल्य का कथन है कि प्रत्येक राजकुमार को अक्षर अभ्यास और गणित ज्ञान के साथ–साथ अर्थशास्त्र का भी ज्ञान होना चाहिये। राजपुत्र को योग्य आचार्यों से विभिन्न विद्याएँ सीखनी चाहिये। शिक्षा–दीक्षा संस्कार युक्त होनी चाहियें। यह आरम्भ से ही चलनी चाहिये । राजपुत्र के अध्ययन के लिए कौटिल्य ने इन विभागों को आवश्यक बताया है–

(1) राज्य शासन तथा दण्ड नीति (2) सैन्य विद्या (3) मानव शासन तथा इतिहास, (4) धर्मशास्त्र और (5) अर्थशास्त्र

राजा के गुण – कौटिल्य ने एक आदर्श राजा के नीचे लिखे गुणों की आवश्यकता बताई –(2) उच्च कुल जन्मा (2) वृद्धों का सम्मानकर्ता (3) विवेकवान (4) धर्मनिष्ठा (5) सत्य–वादी (6) परस्पर विरोधी बातों में न उलझने वाला (7) उच्च लक्ष्य वाला (8) उत्साही (9) अन्य राजाओं को वंश में करने में समर्थ (10) परिषद् पर नियन्त्रण रखने वाला तथा उसे प्रभावित करने वाला, (11) कलाप्रिय (12) दोषरहित तथा दूरदर्शी (13) तीव्र निश्चयी (14) धर्म– नियन्त्रण में रहने वाला (15) काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ पर नियन्त्रण रखने वाला ।

कौटिल्य ने यह भी कहा है कि ये सभी गुण एक व्यक्ति में नहीं मिल पाते। अतः ये गुण कुछ स्वाभाविक तथा कुछ अर्जित हो सकते हैं। प्रशिक्षण द्वारा भी राजा अनेक गुणों को धारण कर सकता है। कौटिल्य ने कहा भी है कि, जिस प्रकार घुन लगी हुई लकड़ी शीघ्र नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार जिस राजकुमार के राजकुल शिक्षित नहीं होते, वे राजकुल बिना युद्ध के ही नष्ट हो जाते हैं।

राजा के कर्तव्य – राजा को प्रजा के सुख का चिन्तन करने वाला होना चाहिये। राजा तथा प्रजा का सम्बन्ध पिता–पुत्र का रहना चाहियें। राजा का कार्य विलास में डूब जाना न होकर सदैव सजग रहकर राष्ट्रहित में लगे रहना चाहिये। राजा के आचार्य ने नीचे लिखे कार्य बताये हैं–

(1) वर्णाश्रम धर्म को सुचारू और प्रभावी रूप में बनाये रखना राजा का कर्त्तव्य है । (2) उसे समाज में दण्ड की व्यवस्था करनी चाहिये अन्यथा अन्याय होगा और निर्बल सताये जायेंगे

(3) आय तथा व्यय का लेखा–जोखा रखा जाना चाहिये ।

(4) राजा को राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर योग्य तथा सच्चरित व्यक्तियों का नियुक्ति करनी चाहिये द्य योग्य व्यक्तियों का पदोन्नति भी होनी चाहियें

(5) लोकहित के कार्य किये जाने चाहिये, यथा– दान, असहायों की सहायता, गर्भवती स्त्रियों के लिए प्रसूति गृह, बाजार, जल–मार्ग, दुर्भिक्ष में सहायता, कृषकों के लिए अच्छे बीज की व्यवस्था, प्रजनन केन्द्रों की व्यवस्था आदि ।

(6) युद्ध करना तथा भूमि सीमा–वर्धन ।

राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुये कौटिल्य ने लिखा है कि, श्प्रजा के सुख में राजा का सुख है, प्रजा हित में राजा का हित है। राजा के लिए प्रजा के सुख से भिन्न अपना सुख सुख नहीं है, प्रजा के सुख में ही उसका सुख हैं।ष

क्या कौटिल्य का राजा निरंकुश है?

कौटिल्य ने राजतन्त्र को ही श्रेष्ठ माना है और राजा द्वारा किये गये शासन को ही पुष्ठ, ढूंढ़ और स्वाभाविक बताया है। उन्होंने राज्य के सप्तांगों में भी राजा को ही सर्वोच्च स्थिति प्रदान की है। फिर भी कौटिल्य का राजा निरंकुश नहीं कहा जा सकता। उन्होंने राजा पर ऐसे प्रतिबन्ध लगाये हैं कि जिनके कारण राजा मनमानी नहीं कर सकता। ये प्रतिबन्ध इस

प्रकार हैं। –

(1) अनुबन्धवादी प्रतिबन्ध इस विषय में डा० पुखराज जैन ने लिखा है कि, ष्मनुष्यों ने राजा की आज्ञाओं के पालन की जो प्रतिज्ञा की, उसके बदले में राजा ने अपने प्रजाजन के ध ान–जन की रक्षा का वचन दिया था। इसका स्वाभाविक रूप यह है कि राजा के द्वारा प्रजा के धन–जन को हानि पहुँचाने वाला कोई कार्य नहीं किया जा सकता। कौटिल्य ने एक स्थान पर बताया है कि राजा की स्थिति वेतन भोगी सैनिक के समान ही होती है। इसका तात्पर्य यह है कि राजा कर्तव्य पालन के लिए बाध्य है और वह राजकेष से निश्चित वेतन ही ले सकता है। कौटिल्य के अनुसार राजा को मनमाने ढंग से राज्य की सम्पत्ति और भोग–विलास के साधन प्राप्त करने का अधिकार नहीं था । (2) धार्मिक नियमों तथा रीति–रिवाजों का प्रतिबन्ध – धार्मिक नियम तथा रीति–रिवाज भी राजा पर प्रतिबन्ध रखते हैं। तत्कालीन जीवन में धर्म तथा परलोक की भावना प्रबल थी, रीति–रिवाज भी राजा पर प्रतिबन्ध रखते हैं। तत्कालीन जीवन में धर्म तथा परलोक की भावना प्रबल थी, अतः राजा स्वार्थी और अन्यायी नहीं बन पाते थे। नरक का भय राजा को मनमानी से रोकता था। इसी प्रकार रीति–रिवाजों के बन्धन में भी राजा रहता था। राजा को भय रहता था कि यदि उसने इनका उल्लंघन किया तो प्रजा उसका वध भी कर सकती है ।

(4) राजा की शिक्षा का प्रतिबन्ध – कौटिल्य ने राजा का शिक्षा का विवेचन किया है। यह शिक्षा भी राजा पर प्रतिबन्ध लगाती है और उसे जन–कल्याण के मार्ग से विमुख नहीं होने देती । सर्वगुण सम्पन्न राजा अपने स्वभाव से ही निरंकुश नहीं हो सकता ।

इस प्रकार कौटिल्य का राजा निरंकुशता की ओर जाने से रुका रहता है। श्रीकृष्ण राव ने लिखा है कि, कौटिल्य का राजा अत्याचारी नहीं हो सकता, चाहे वह कुछ बातों में स्वेच्छाचारी रहे, क्योंकि वह धर्मशास्त्र और नीतिशास्त्र के सुस्थापित नियमों के अधीन रहता है।

निष्कर्ष – इस प्रकार हम देखते हैं कि कौटिल्य ने राज्य व्यवस्था में राजा को सर्वोपरि स्थान दिया है, फिर भी उसे निरंकुश हो जाने की छूट नहीं दी है। स्मलेटोर के शब्दों में, ष्वह अपना राज्य और जीवन में जनता ऐसे राजा को सहन नहीं कर सकती थी । यद्यपि राजा का पद सर्वोच्च था, किन्तु न तो वह जनता जनता से पृथक था और न उसके लिए विदेशी ही और वह जैसा चाहे, जनता के प्रति व्यवहार करने के लिए स्वतन्त्र था । ष

कौटिल्य के अनुसार राजा कार्यपालिका का अध्यक्ष होता है। उसको राज्य के कार्यों में परामर्श एवं सहायता देने के लिए एक मंत्रीपरिषद होती है

मंत्रीपरिषद की आवश्यकता – मंत्री आमात्य आदि ही राजा को विपत्ति से बचाते हैं तथ ये लोग ही समय–विभाग रूपी चाबुक से एकान्त रनिवास आदि में समय व्यतीत करते हुये राजा को सचेत करते रहते हैं। कौटिल्य के अनुसार राज्य एक रथ है, जैसे– रथ एक पहिये से नहीं चल सकता, उसी प्रकार मंत्रियों की सहायता के बिना अकेला राज्य का संचालन नहीं कर सकता। अतः राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह योग्य मंत्री रखे और उनके परामर्श पर भी उचित ध्यान दे। उसका विचार है कि मन्त्रियों के परामर्श के बिना राजा का कार्य नहीं चल सकता।

मन्त्रगोपन– कौटिल्य का कथन है कि मन्त्र का फूट जाना राजा तथा मन्त्रियों दोनों के लिए कल्याण का द्योतक है, अतः मन्त्रगोपन का विशेष रूप से प्रयत्न करना चाहिए। उन्होंने कछुए का उदाहरण दिया है और कहा है कि जिस प्रकार कछुआ अपने अंगो को समेटे रहता और केवल आवश्यक्ता पड़ने पर ही उनको बाहर करता है, उसी प्रकार राजा को मन्त्रगोपन अथवा प्रकाशन करना चाहिए। मन्त्रणा का स्थान एकान्त और सुरक्षित होना चाहिए कि वहाँ की बाचतीत कोई सुन न सके । पक्षी भी उस स्थान पर अपना पंख न मार सके । मन्त्र भेदी को राजा राज्य से निकाल दे अथवा शूली पर चढ़ा दे । कौटिल्य ने मंत्रीपरिषद के सदस्यों की संख्या मन्त्रीपरिषद के सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं की है।

इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि मन्त्रीपरिषद के सदस्यों की संख्या समय परिस्थिति के अनुसार होनी चाहिउ उनके अनुसार सामान्यतः तीन याचार मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा की जानी चाहिए।

मन्त्रियों की योग्यता – कौटिल्य के अनुसार अपने देश (जनपद) में जन्में कुलीन समय पर भली प्रकार अपने अनुकूल चलाये जाने अथवा उत्तम बन्धुबान्धवों से सम्पन्न, शिल्प विद्या में कुशल, विद्वान, कार्यकुशल, भाषा में निपुण, स्मृतिमान, शीघ्र प्रबन्ध करने में समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली, क्लेश सहने में समर्थ, दृढ़, राजभक्त, सुशील, बलवान, आरोग्य सम्पन्न, धैर्यशाली, निराभिमानी, स्थिर स्वभाव, सौम्य, प्रियदर्शन तथा व्यर्थ में किसी से बैर भाव न मोल लेने वाले व्यक्ति को ही मन्त्री बनाना चाहिये ।

वेतन – कौटिल्य मन्त्रियों को पद के अनुसार वेतन देने के पक्ष में हैं। उसके अनुसार मन्त्रियों को इतना वेतन अवश्य दिया जाना चाहिए कि उसका परिवार विधिवत् भरण–पोषण कर सके और उन्हें अन्य साधन न अपनाने पड़े। यदि वेतन न्यून होता है तो अधिकारी कुपित हो जाते है जिसके फलस्वरूप राजा और राज्य दोनों ही क्षतिग्रस्त होते हैं.

मन्त्रिपरिषद द्वारा राजा पर नियन्त्रण – राजा और मन्त्रिपरिषद में क्या सम्बन्ध हो, पर कौटिल्य कहत है कि राजा को सदैव अपने मन्त्रियों के परामर्श के अनुसार चलना चाहिए। किन्तु मन्त्रिपरिषद की मंत्रणा कार्यसिद्ध प्रतीत न होने पर राजा अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता है। किन्तु इसके साथ ही साथ कौटिल्य इस बात को नहीं भूला है कि एक दुराचारी भो विलास में लिप्त अयोग्य या अति धार्मिकता के कारण राज्य के हितों की चिन्ता न करने वाले राजा पर मन्त्रिपरिषद के नियन्त्रण की आवश्यकता होती है। कौटिल्य का कथन है कि यदि राजा ऐसे कार्यों में लग जाये तो प्रजा के लिए अहितकर हो तो मन्त्रियों का यह अधिकार अधिकार अवश्य हैं कि उसके विरुद्ध खड़े हों। कौटिल्य ने राजा को ऐसी परिस्थितियों से सदैव बचे रहने की सलाह दी है जिसके कारण सेना या प्रजा विद्रोह न कर दें।

निष्कर्ष – इस प्रकार हम देखते है कि कौटिल्य ने राज व्यस्था में मन्त्रिपरिषद को महत्वपूर्ण स्था दिया है। कौटिल्य ने स्वयं मौर्य साम्राज्य के महामन्त्री के रूप में जिस प्रकार से कार्य किया उससे भी राज व्यवस्था में महामन्त्री और मन्त्रिपरिषद की भूमिका का महत्व नितान्त स्पष्ट हो जाता है ।

कौटिल्य ने प्रशासनिक व्यवस्था के सम्बन्ध में स्पष्ट और निश्चित विचार प्रस्तुत किये है। ये विचार उसकी व्यवहारिकता के परिचायक हैं।

प्रशासन के विभिन्न विभाग और उच्च अधिकारी – उसके अनुसार सम्पूर्ण प्रशासन को राजस्व सेना वाणिज्य व्यापार कृषि वन और शिल्पकला आदि विभिन्न विभागों में विभक्त किया जाना चाहिए। प्रत्येक का एक अध्यक्ष होना चाहिए। कौटिल्य ने अध्यक्षों का उल्लेख करते कर्तव्यों की विषद् व्याख्या की है ।

राजा को चाहिए कि वह अध्यक्षों के विषय में देश, काल, कार्य, वेतन और लाभ आदि बातों की जानकारी रखें। उच्च अधिकारियों को भी चाहिए कि वे राजा के आदेशानुसार एक दूसरे से द्वेष न करते हुए अलग–अलग रहकर अपने कार्य में लगे रहें। वे परंपरा द्वेष राजकार्यो को हानि पहुँचायेंगे और यदि वे मिल जायेंगे तो राज–धन का अपहरण करेंगे। कौटिल्य ने यह व्यवस्था की कि राज्य के उच्च स्तरीय कर्मचारियों के कार्यों और आचरण पर पूर्ण निगरानी रखनी चाहिए, जिससे कि वह अपने पद तथा अधिकारों का भ्रष्ट तरीके अपनाकर दुरुपयोग न करें और राज्य की आय तथा प्रजा के कल्याण को आघात पहुँचाकर स्वयं स्वार्थ की सिद्धि में लग जायें। कौटिल्य ने अपनी प्रशासनिक व्यवस्था में गुप्तचर व्यवस्था को भी स्थान दिया है। गुप्तचरों के माध्यम से राजा सभी कर्मचारियों के आचरण का ज्ञान रख सकता है। उसे यह जानते रहना चाहिए कि सामान्य प्रजाजन और सरकारी

कर्मचारी उसके प्रति क्या भाव रखते हैं। गुप्तचरों की सहायता से भाासन के उच्च अधिकारियों के कार्यों पर विशेष निगरानी रखनी चाहिए। राजा को किसी गुप्तचर पर भी पूरा विश्वास नहीं करना चाहिए। उसे गुप्तचर की देखभल के लिए अन्य गुप्तर रखना चाहिए।

मूल्यांकन – कौटिल्य द्वारा जिस व्यापक प्रशासन तन्त्र की व्यवस्था की गई है और उसे कार्यकुशल बनाने के लिए जो सुझाव दिये गये हैं, उससे उसकी दूरदर्शिता स्पष्ट हो जाती है।

न्यायिक व्यवस्था – कौटिल्य के अर्थशास्त्र में न्यायिक व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है। वह न्याय को राज्य का प्राण समझता था। वह कहता है कि जो राजा अपनी प्रजा को न्याय प्रदान नहीं कर सकता, वह भीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

दो प्रकार के न्यायालय कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्री में दो प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है – धर्म स्थलीय तथा कण्टक भोधन ।

(1) धर्म स्थलीय – कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के तीसरे अधिकरण में धर्म स्थलीय न्यायालयों का वर्णन किया है। धर्म स्थलीय का अभिप्राय नागरिकों के पारस्परिक व्यवहारों से उत्पन्न होने वाले विवादों का निर्णय करने से है। इसके अन्तर्गत सम्पत्ति, संविदा, उत्तराधिकार, विवाह, गाँवों का बन्दोबस्त, ऋण, मजदूरी और साझेदारी आदि वर्तमान समय के दीवानी विवाद और मारपीट, बलात्कार, डाका, जुआ आदि वर्तमान समय के फौजदारी विद्या आते हैं।

(2) कण्टक भाोधन – अर्थशास्त्र के चौथे अधिकरण में कण्टक भोधन का वर्णन है। प्रजा के दिन पतिदिन के सम्पर्क में आने वाले धोबी, जुलाहे, रंगरेज, सुनार, वैद्य, नट–नर्कट आदि द्वारा किये गये प्रजा के भोषण तथा धनहरण से सम्बन्धित विवाद, दुष्टजनों द्वारा प्रजा पीड़न के कार्य आदि को कौटिल्य ने कण्टक भोधन की श्रेणी में रख है। इनका पता लगाने के लिए राजा को गुप्तचरों की सहायता लेनी चाहिए।

न्यायिक संगठन एवं प्रक्रिया

कौटिल्य ने न्यायिक संगठन का भी वर्णन किया है। 10 ग्रामों के लिए संग्रहण, 400 ग्रामों के बीच द्रोणमुख, 800 ग्रामों के मध्य स्थानीय और समूचे जनपद के लिए सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की गई है। ग्रामो के लिए पंचायती न्यायालयों का सुझाव दिया जाता है। प्रशासनिक कर्मचारियों के मध्य उत्पन्न होने वाले विवादों का निर्णय विभागाध्यक्ष की अध ीनता में प्रशासकीय न्यायालयों द्वारा किये जाने का सुझाव दिया है।

न्यायिक प्रक्रिया में उसके द्वारा वादी प्रतिवादी के वक्तव्य साथी और गुप्तचर व्यवस्था को अपनाने का सुझाव दिया गया है। तथ्यों को ज्ञात करने के लिए लिखित प्रमाणों को सर्वाध िाक महत्व देना चाहिए। इसके अभाव में साक्षा को प्रमाणिक मानना चाहिए। साथी एक से अधिक होने चाहिए। तथ्यों को ज्ञात करने में गुप्तचरों का भी उपयोग किया जा सकता है। कौटिल्य ने न्यायाधीशों के आचरण की निगरानी पर भी बल दिया गया हैं, और यह कार्य गुप्तचर विभाग को सौपा है ।

दण्ड व्यवस्था – अर्थशास्त्र के चौथे अधिकरण के अध्याय 8 में कौटिल्य ने दण्ड व्यवस्थां का वर्णन किया है। उसके दण्ड सम्बन्धी सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

(1) विभिन्न प्रकार के दण्ड–

दण्ड तीन प्रकार के हैं–

(अ) शारीरिक दण्ड मृत्युदण्ड आदि। जैसे – कोड़े मारना, अंग छेदन, हाथ पैर बाँधकर लटकाना, 48 पण से लेकर 1000 पण तक अपराध के (ब) जुर्माने का दण्ड अनुसार। (स) सामर्थ्य के अनुसार दण्ड – कौटिल्प ने एक ही अपराध के लिए पुरुष की अपेक्षा आयु के स्त्री को आधा दण्ड देने की व्यवस्था की एक स्थान पर ही यह कहा कि अपराधी को अनुसार दण्ड देना चाहिए।

(4) विशेष परिस्थिति के अनुसार दण्ड
कौटिल्य के अनुसार उस व्यक्ति को आधा दण्ड दिया जाना चाहिए, जो प्रमाद, मद, मोह आदि के प्रभाव में आकर किसी दूसरे व्यक्ति के लिए घृणित शब्दों का प्रयोग करता है।
(5) दण्ड के भय से आतंक पैदा करने का सिद्धान्त – कुछ गम्भीर अपराधों के दण्ड सार्वजनिक स्थानों पर दिया जाये, जिसे लोग देखें और डरें। ये दण्ड हैं – त्वचा एवं शरीर पर जलती हुई आग रखकर मरवा देना, जीभ को छिंदवा देना, हाथ–पैर बांधकर उल्टा लटकाना, अंग छेदन आदि ।
(6) लज्जित करने का सिद्धान्त अपराध सूचक चिन्ह अंकित करना ।
ब्राह्मण तथा उच्च वर्ग के अपराधियों के माथे पर
इस प्रकार कौटिल्य ने कठोर दण्डों की व्यवस्था की है। वास्तव में प्राचीन भारत में कठोर दण्ड पद्धतियाँ प्रचलित थीं और अन्य आचार्यों ने भी कठोर दण्डों का ही समर्थन किया था। कौटिल्य ने पड़ोसी राज्य या अन्य विदेशी राज्यों के प्रति व्यवहार नीति भी बताई है। इस विषय में उन्होंने छः लक्षणों वाली षड्गुण नीति का प्रतिपादन किया है। ये छः लक्षण इस प्रकार हैं– (1) सन्दि ज (2) विग्रह (3) यान (शत्रु का वास्तविक आक्रमण करना) (4) आसन (तटस्थता), (5) संश्रय (बलवान का आश्रय लेना) तथा (6) द्वैधीभाव (सन्धि और युद्ध का एक साथ प्रयोग)
इनका पृथक–पृथक वर्णन निम्नलिखित प्रकार है–
(1) सन्धि – कौटिल्य के अनुसार सन्धि का तात्पर्य शत्रु राजा की शक्ति को नष्ट करना. तथा स्वयं को बलशाली बनाना होता है। जब शत्रु पर विजय न प्राप्त की जा सके तो उसके साथ सन्धि कर लेनी चाहिए। इससे स्वयं को बलशाली बनाने का समय भी प्राप्त हो जाता है। कौटिल्य के अनुसार सन्धियों कई प्रकार की हो सकती हैं।
(2) विग्रह – विग्रह से तात्पर्य युद्ध से है। युद्ध को तभी अपनाया जाना चाहिए, जबकि शत्रु राजा कमजोर हो तथा अपनी युद्ध अवस्थाएँ पूर्ण हो । युद्ध करने वाले राज्य को अपनी शक्ति का सही–सही अनुमान पहले ही कर लेना चाहिए। युद्ध से पूर्व राज्य को अपने मित्र राजाओं से भी सहायता की बात कर लेनी चाहिये। जब आक्रमण करके भूमि हाथ में आ जाय तो उसे तुरन्त ही अपने अधीन कर लेना चाहिये। उस भूमि पर अपने क्षेत्र के नियम लागू कर देना चाहिए।
(3) यान – यान का तात्पर्य वास्तविक आक्रमण से है । इस नीति को तभी अपनाया जाना चाहिए, जबकि राजा अपनी स्थिति को पूर्ण देख लें तथा अपने पर भरोसा भी हो। इस नीति को उस दशा में व्यवहार में लाना चाहिए, जबकि राजा यह मान ले कि बिना आक्रमण के काम चलेगा नहीं । विग्रह और यान में स्तर मात्र का भेद हैं यान विग्रह से कुछ आगे ही चीज है।
(4) आसन – जब विजय की इच्छा रखने वाला राजा तथा शत्रु समान रूप से शक्तिशाली हों तो राजा द्वारा शासन अथवा तटस्थता की नीति अपनानी चाहिए। शासन की नीति अपना तो लेनी चाहिए पर राजा को अपनी शक्ति बढ़ाते रहना चाहिए। उसे चुपचाप शक्ति बढ़ाने में लगा रहना चाहिए ।
(5) संश्रय – संश्रय का अर्थ है– बलवान का सहारा लेना। यदि राजा में शत्रु को हानि पहुँचाने की क्षमता नहीं है और न वह अपनी रक्षा में समर्थ है तो उसे बलवान राजा की सहायता लेनी चाहिए। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस राजा की सहायता ली जा रही है वह शत्रु राजा से अधिक बलशाली हो । यदि इस प्रकार का राजा न मिलता हो तो शत्रु राजा की ही शरण लेनी चाहिए और उससे युद्ध नहीं ठानना चाहिए।
(6) द्वैधीभाव द्वैधीभाव का तात्पर्य एक राज्य के प्रति विग्रह और दूसरे के प्रति सन्धि की नीति अपनाने से है। जब राजा यह समझता हो, एक राज्य के साथ सन्धि करनी होगी और दूसरे के साथ युद्ध करना पड़ेगा और इसके बिना काम नहीं चलेगा, तभी द्वैधीभाव की नीति

अपनाई चानी चाहिए।

इस प्रकार कौटिल्य ने परिस्थितियों के अनुसार नीति अपनाने की बात कहीं है। कौटिल्य के विदेश नीति सम्बन्धी से विचार भी उनके अन्य विचारों की तरह यथार्थ पर आधारित हैं। कौटिल्य की इस षाड्गुण्य नी का आज भी राज्य किसी न किसी रूप में प्रयोग करते हैं। साम, दाम, दण्ड, भेद कौटिल्य ने अपनी विदेश नीति में अन्य भारतीय आचार्य की भांति सर साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति से भी काम लेने की बात कहीं है। कौटिल्य के अनुसार साम का अर्थ है निर्बल राजा का समझा–बुझाकर अथवा कुछ सहायता या दान देकर वश में किया जाना । भेद का तात्पर्य फूट डाल देना, जिस राजा के सामने युद्ध में विजय प्राप्त नहीं की जा सकती है, उसके प्रति भेद की नीति को अपनाया जाना चाहिए। इसके लिए सबन राजा तथा अन्य राजाओं में मतभेद पैदा कर देने चाहिए या ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे उस राजा के घर में ही फूट पड़ जाये, उसके मन्त्री, प्रजाजन आदि विरोधी हो जायें। इससे बह राजा स्वयं निर्बल हो जायेगा द्य भेद उत्पन्न करने का काम दूत तथा गुप्तचरों के माध्यम से किया जा सकता है। दण्ड का अर्थ है– युद्ध करना । दण्ड के उपाय का अनुकरणं तभी करना चाहिए, जबकि अन्य तीनों उपाय साम, दाम, भेद सार्थक सिद्ध न हो रहे हों। इस उपाय को अन्तिम इसलिए बताया गया है, क्योकि इसको अपनाने से स्वयं को भी हानि उठानी पड़ती है।

अतः आचार्य विष्णु चाणक्य की विदेश नीति सम्बन्धी विचारधारा तथा उनके द्वारा बताये गये उपाय बड़े ही यथार्थवादी और व्यवहारवादी हैं, उनके उपयोग में किसी हठधर्मिता को स्थान नहीं है ।

मण्डल सिद्धान्त

कौटिल्य ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक अर्थशास्त्र के छटवे – सातवें अधिकरण में पड़ोसी राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने के लिए मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया हैं ।

इसमें मण्डल ऐसा राजा होता है, जो पड़ोसी राज्यों को जीतकर अपने में मिलाने में प्रयत्नशील रहता है। इस राजा को कौटिल्य ने विजीगीषु राजा कहा है। कौटिल्य ने 12 राज्यों का संमूह बनाकर मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। यह समूह राज्य मण्डल कहलाता है। इसमें निम्नांकित प्रकार के राज्य सम्मिलित होते हैं–

(1) विजीगीषु राजा – विजोगीषु राजा राज्य मण्डल का केन्द्र होता है तथा पड़ौसी राज्यों को जीतकर अपने में मिलाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है।

(2) और राज्य

कौटिल्य का मत है कि एक राजा का पड़ौसी राज्य स्वाभाविक रूप से उसका शत्रु राज्य होता है। चूंकि प्रत्येक राज्य अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए पड़ोसी
राज्य क्षेत्र को अपने में मिलाने के लिए तत्पर रहता है, इसीलिए पड़ौसी राज्य प्रायः परस्पर शत्रु राज्य कहे जाते हैं।

(3) मित्र राज्य पड़ौसी राज्य से मिला हुआ के लिए तत्पर रहता है।

कौटिल्य की मान्यता है कि विजोगीषु के राज्य से अलग किन्तु उसके राज्य विजोगीषु का मित्र होता है, जो सदैव विजोगीषु राजा की सहायता

(4) अरि–मित्र राज्य–कौटिल्य के मतानुसार विजोगीषु राजा के मित्र राज्य से मिला हुआ राज्य अरि मित्र राज्य होता है। ये पड़ोसी राज्यों के मित्र होते हैं तथा विजोगीषु के विरुद्ध राज्य की सहायता करते हैं।

(5) मित्र–मित्र राज्य कौटिल्य के मतानुसार, मित्र–मित्र राज्य विजोगीषु के मित्र राज्य मित्र होता है तथा विजीगीषु की सहायता करने को तैयार रहता है।

(6) अरि–मिश्र – मिश्र राज्य – कौटिल्य की मान्यता है कि मध्यम राज्य विजोगीषु राज तथा शत्रु राज्य के मित्र का मित्र राज्य होता है तथा शत्रु की सहायता करने को तैयार होता है ।

(7) मध्यम राज्य– कौटिल्य की मान्यता है कि मध्यम राज्य विजीगीषु राजा तथा शत्रु राज्य के मध्य में स्थित होता है। इसके सम्बन्ध दोनों राज्यों से होते है तथा यह दोनों राज्यों से अधिक शक्तिशाली हाता है तथा आवश्यक्ता पड़ने पर दोनों का अलग अलग मुकाबला कर सकता है।

(8) उदासीन राज्य– कौटिल्य के विचारानुसार उदासीन राज्य, विजोगीषु, राजा, अरि तथा मध्यम इन तीनों की सीमओं से अलग होता है। यह बहुत प्रबल होता है। यह तीनों के परस्पर मिले होने पर उनकी सहायता कर सकता है तो तीनों के अलग होने पर वह प्रत्येक का मुकाबला भी कर सकता है।

(9) पार्षिणग्राह – कौटिल्य के मतानुसार यह विजीगीषु राजा के पीठ पीडे का शत्रु आकान्द होता है ।

(10) यह विजीगी के पीठ पीछे का मित्र होता है।

(11) पाष्णिग्राहासार –– कौटिल्य के अनुसार यह विजीगिषु राजा के पीठ पीछे के शत्रु का मित्र होता है।

(12) कौटिल्य के मतानुसार यह विजोगीषु राजा के पीठ के पीछे के आक्रान्दासार मित्र का मित्र होता है।

इस प्रकार कौटिल्य ने 12 राज्यों का राज्य मण्डल बनाया है। कौटिल्य ने मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन कर यह बताया है कि एक राज्य विशेष के कौन मित्र तथा कौन शत्रु हो सकते हैं। विजय के अभिलाषी राजा को अपनी नीति और योजना इस आधार पर ही निध ारित करनी चाहिए। यदि राजा उपर्युक्त नियमों के आधार पर चलेगा तो वह अन्य समस्त राज्यों पर विजय प्राप्त कर विशाल साम्राज्य का निर्माण कर सकता है।

अभ्यास–प्रश्न

1. कौटिल्य का संक्षिप्त जीवन वृत्र लिखें।
2. कोटिल्य के अर्थशासत्र पर टिप्पणी लिखें।

इकाई – 3 राजा राममोहन रॉय (**Raja Ram Mohan Roy**)

भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत राजा राम मोहन राय ने मध्ययुगीन अंधविश्वासों व कुरीतियों को बुद्धि व तर्क की कसौटी पर परीक्षा व रूढ़ियों से बंधनग्रस्त भारतीय समाज को वे एक ईश्वर समानता व स्वतंत्रता से पुर्ण (जाति, धर्म लिंग की श्रंखलारहित) आधुनिक समाज में परिवर्तित करने वाले सुधारक थें। टैगोर ने उन्हें आधुनिक भारत का सुत्रधार इसी कारण से कहा। राय कोरे आदर्शो के प्रतिपादक न होकर व्यावहारिक सुधारों में विश्वास करते थे। सती प्रथा का तीव्र विरोध एवं स्त्री को सम्मान व अधिकार प्राप्त कराने की दिशा मे वे प्रयत्नशील थे। भारतीय पुनर्जागरण के प्रारम्भिक समाज सुधारकों में राय का विशेष योगदान है।.

इसी सुधार ने आगे उदारवादी व्यक्तिवादी राजनीतिक चिन्तकों के लिये मार्ग प्रशस्त किया। सामाजिक–धार्मिक आन्दोलन के वहद् भारतीय कलेवर धारण कर समय के अन्तरात के साथ राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष का रूप धारण किया। राजनीतिक, आर्थिक सामाजिक एवं बौद्धिक परिवेश विचारकों के चिंतन को प्रभावित करता है । परतंत्र राष्ट्रों में राजनीतिक चिंतन के उदाहरण इसी कारण कम है। 19वीं और 20वीं सदी के पूर्वाद्ध में परतंत्र भारत में अंग्रेजी सरकार के साथ–साथ अधिकांश भारतीय कुलीनतंत्र भी प्रायः प्रगतिशील विचारों का कट्टर विरोधी था । कट्टरपंथी होना ततकालीन समाज में आदर की दृष्टि से देखा जाता था जबकि आज बुरा माना जाता है।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में एक अतिलघु व अधिकांश असाक्षर जनसंख्या वाला देश इंग्लैण्ड एक साम्राज्यवादी औद्योगिक भाक्ति में परिणत हो गया था। श्इस साम्राज्य में सूर्य अस्त नही होता–ऐसा की जाता था। इसी समय में सांस्कृतिक रूप से सम्पन्न वं साक्षर देश से भारत सामाजिक व आर्थिक रूप से पिछड़ेपन व विघटन की दशा में पहुच चुका था। उन्नीसवीं भाताब्दी के उत्तरार्द्ध तक भारत के विभिन्न भागों में कई राजनीतिक व सामाजिक संगठनों (एसोसिएशन) की स्थापना हो गयी थी, जैसे– ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन (1851) इण्डियन एसोसिएशन ऑफ कैलकटा (1879) बाम्बे एसोसिएशन (1852), सार्वजनिक सभा (1870), महाजन सभा ऑफ मद्रास (1884)।

अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन की आवश्यकता महसूस कराने में पहली बार भारतीय भाहरों को जोड़ने वाली रेल, प्रैस एवं टेलीग्राफ का भी हाथ था। पूरे भारत से संबंद्ध कुछ प्रश्न भी उपस्थित थेरू जैसे –आई.सी.एस. की परीक्षा हेतु आयु को घटाना, भारत व इंग्लैण्ड में एक साथ इसके लिए परीक्षा का आयोजन आदि।

तत्कालीन समाज में अनेक धार्मिक तथा आध्यात्मिक नेता थे। समाचार पत्र उद्योग भी प्रारम्भ हो चुका था । शिक्षित भारतीयों के एक लघु समूह का भी राजनीतिक सामाजिक चेतना की जागृति में योगदान था। यूरोपीय उद्योग व्यापार ईसाई मिशनरी उनकी भाषाओं प्रशासनिक सुविध हेतु स्थापित रेलवे प्रिंटिंग प्रेस पोस्ट तथा टैलीग्राफ आदि ने भारत के विस्तृत तथा विखरे हुए भूभाग व जनसंख्या में राष्ट्रीय चेतने के प्रसार तथा उसी अस्तित्व रक्षा के लिये अंततः एक बुनियादी ढांचे की भूमिका भी निभायी। भारत के विभिन्न क्षेत्रों के समाचार पत्रों ने एकता की भावना के साथ साथ प्रांतीय भाषाओं को समृद्ध व लोकप्रिय बनाने के अतिरिक्त अन्याय व कानून के समक्ष भेदभाव क विरोध व भारतीय पक्ष भी प्रस्तुत किया।

उन्नीसवीं सदी का भारत कुछ महान स्त्री पुरूषों की कर्मस्थली बना । अध्यात्मिक क्षेत्र में परमहंस, स्वामी विवेकानन्द श्री अरविन्द घोष स्मामी दयानन्द सरस्वती आदि थे। राजनीतिक क्षेत्र में बाल गंगाधर तिलक गोपाल कृष्ण गोखले महादेव गोविन्द रानाडे, सरेन्द्र

रामकृष्ण नाथ बनर्जी विपिन चन्द्र पाल, सौ.आर. दास दादाभाई नौरोजी लाला लाजपर राय, फीरोजशाह मेहता, के.टी. तैलंग, मैडम भीकाजी रूस्तम एनी बेसेन्ट, मदन मोहन मालवीय, पंडित मोतीलाल नेहरू, सर सैयद अहमद खान, बदरूद्दीन तैयबजी, लुत्फुल्ला, मिर्जा असदुल्ला खान गालिब, इतिसमुद्धीन, तफज्जुल हुसैन खान, मिर्जा अबू तालिब लन्दनी, अब्दुर रहीम दाहरी आदि थे। महान साहित्यिक हस्तियां थी – रवीन्द्रनाथ टैगौर, अरविन्द तिलक आर.जी. भंडारकर, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, बंकिम चन्द्र चटर्जी। महान समाज सुधारक ज्योतिबा गोविन्द फुले व करसनदास मुलजी भी समकालीन थे।

भारतीय नेतृत्व में गुणात्मक परिवर्तन विशेषतः सामाजिक व धार्मिक नवनिर्माताओं व अग्रदूतों के रूप में दृष्टिगत होता है–केशव चन्द्र सेन राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती और स्वामी विवेकानन्द आधुनिक काल के अग्रदूतों में से कुछ ऐसे ही नाम है। इनकी पहल के बिना हिन्दू समाज प्राचीन परम्पराओं व हिन्दू संस्कारों की रूढ़ियों को चुनौती नही दे सकता था। सांस्कृतिक व धार्मिक पुनर्जागरण हेतु विभिन्न धार्मिक समुदायों ने अपने यशस्वी भूतकाल से प्रेरणा ली तथाउनमें से कुछ मूल्यों की पुनर्जागृति हेतु सभी ने शिक्षा पर बल दिया।

हिन्दू–मुस्लिम सम्बन्धों के बारे में विचारों में काफी भिन्नता है। होर्स्ट कगर के एक ग्रन्थ में हीरेन मुकर्जी व आर.सी. मजूमदार के विचार बिल्कुल विपरित है। हीरेन मुकर्जी हिन्दु–मुस्लिम सम्बन्ध को मैत्री पूर्ण बताते हैं तो मजूमदार के अनुसार हिन्दु मुस्लिम भाासन के बजाय ब्रिटिश भासन के प्रति कम विद्वेषपूर्ण हैं। उदात्त दृष्टि राजा राममोहन रॉय भी मजूमदार के विचारों की पुष्टि करते हैं। उन्नीसवीं सदी के भारतीय समाज के विभिन्न पक्षों पर दृष्टि डालने से उनकी निरन्तरता बीसवीं सदी के समाज में भी दृष्टिगोचर होती है। हिन्दु समाज जाति पर आधारित था । जाति पहचान का सूचक थी। इस्लाम भी जाति जैसी संरचना से प्रभावित था। 1901 की जनगणना मे 133 मुस्लिम जातियों का वर्णन है। ईसाई व सिख भी इससे अछूते नहीं रह पाये।

विभिन्न सामाजिक बुराइयाँ व कुरीतियां समाज मे व्याप्त थीं– बाल विवाह, नवजात कन्या, की हत्या, व्यापक अशिक्षा, विदेश यात्रा का निषेध, कट्टर सामाजिक व धार्मिक आचार, भाद्र व अन्त्यजों (नदजवनबींइसमे) की एक बडी संख्या, जाति व धार्मिक समूहों की बडी संख्या, सामाजिक व धार्मिक विभाजन आदि। .

भारतीय स्त्रियों, विशाकर विधवाओं की स्थिति सोचनीय थी । उन्नीसवीं सदी के भारत के कुक्ष महानतम नेता भी स्त्रियों की समस्याओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं थे। बाल विवाह अति सामान्य बात थी। तिलक और उनके कई सम्माननीय पत्रकार साथी भी इसका खुले रूप से सर्मथन करते थे। उस समय के अधिकांश बडे नेताओं के विवाह वयस्क होने से पूर्व ही 10–12 वर्ष की बाल वह ओं से हो चुके थे।

हिन्दुओं के साथ–साथ पारसी समाज मे भी ऐसा प्रचलन था। इस असहानुभूतिपूण दृ ष्टिकोण व विवाह के मानकों ने भी स्त्रियों के लिये विभिन्न सामाजिक शैक्षिक सम्स्याओं को जन्म दिया। शिक्षा इन विभिन्न समस्याओं मे से एक थी –शिक्षा का अभाव अपनी रूचियों, क्षमताओं और भाक्तिया के अनुसार कार्य करने से वांक्षित करता था। शिक्षा एक बड़ा मुद्दा थी। स्कूलों की संख्या भी पर्याप्त नही थी । स्वयं इंग्लैण्ड मे स्त्री शिक्षा की व्यवस्था न होने पर भी सरकार भारत में कन्या पाठशालाएँ खोलने को तत्पर थी तथा अन्य व्यक्तिगत प्रयासों को भी इस दिशा मे प्रोत्साहित कर रही थी । ज्योतिबा फुले की सोसाइटी के पूना के स्कूलों में 237 छात्राएँ थीं पर इनके परिक्षा परिणाम बहुत अच्छे थे। स्त्री शिक्षा की दर 1881 के जनगणना के अनुसार 2 प्रतिशत से कम थी। यह दर नियमित रूप से नोट की जाती थी तथा सरकारी व सामाजिक रूप से स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहित किया जाता था।

जीवन परिचय

बंगाल के हुगली जिले के राधानगर ग्राम में 22 जनवरी सन् 1772 में जन्मे रॉय के पिता रमाकान्त बनर्जी तथा माता तारिणी देवी दोनो ही धार्मिक प्रवृत्ति के ब्राह्मण थे। दादा कृष्णकांत बनर्जी को बंगाल के नवाब के उच्च पदाधिकारी के रूप में रॉय की उपाधि को परिवार ने अपनी विशिष्ट पहचान के रूप में स्थान पर प्रयुक्त किया। 1830 में मुगल सम्राट अकबर द्वितीय के राजदूत के रूप मे इग्लैण्ड जाने पर सम्राट ने उन्हें राजा की उपाधि से सम्मानित किया। इस प्रकार राममोहन के नाम के साथ राजा और रॉय भाब्द जुड गये । प्रतिभाशाली राजा राममोहन राय अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। बंगला, फारसी, अरबी, हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी में वे पारंगत थे। ग्रीक, हिब्रू, फन्य तथा लैटिन भाषद भी रॉय जानते थे । इस्लाम, बौद्ध, हिन्दु तथा ईसाई धर्मो का उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन किया। हिन्दु धर्म में उपनिषद उनके अधययन का आधार बना।

फारसी भाषा में मूर्ति पूजा के विरोध में एक पुस्तक प्रकाशित करने पर 16 वर्ष की अवस्था में पिता से सम्बन्ध तनावपूर्ण होने पर राममोहन को घर छोडना पडा । तिब्बत में बौद्ध लामाओं के संपर्क मे राय ने बौद्ध धर्म को जाना। सन् 1803 से 1814 तक ईस्ट इंडिया कम्पनी में नौकरी की। सन् 1814 मे सरकारी नौकरी त्याग कर स्वतंत्र सार्वजनिक जीवन प्रारम्भ किया। 1815 में कलकत्ता में आत्मीय सभा का गठन धर्म व दर्शन में रूचि रखने वाले विद्वानों के लिये किया। इसी साल ब्रह्मसूत्र का बंगला अनुवाद प्रकाशित किया। सन् 1818 में सती प्रथा उन्मूलन हेतु आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसकी परिणति सन् 1829 में गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक के सती प्रथा अवैध करने पर हुयी ।

राय ने सन् 1827 मे ब्रिटिश इण्डिया यूनिटेरियन एसोसिएशन के बाद 20 अगस्त सन् 1828 मे ब्रह्म समाज की स्थापना की। ब्रह्म समाज की स्थापना उनके जीवन की एक अति महत्वपूर्ण घटना थी। इसके विचार बंगाल से बाहर तक फैल गये। इनसे प्रणीत उदारतावाद, तर्कवाद और आधुनिकता के वातावरण ने भारतीय चिंतन व समाज में पुनर्जागरण की क्रांति सी ला दी।

15 नवम्बर, 1830 को मुगल सम्राट अकबर द्वितीय के राजदूत के रूप में राममोहन ब्रिटिश सम्राट से मिलने इग्लैंड गये । यहाँ प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक जेरेथी बन्थम से उनकी घनिष्ठ मित्रता हुई। इंग्लैण्ड सेवे फांस भी गये जहाँ वे बीमार हो गये। पुनः इंग्लैड वापस आने पर स्वास्थ्य में गिरावट से 20 सितम्बर, 1833 को ब्रिस्टल में 61 वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। राममोहन राय के धार्मिक विचार

फारसी व अरबी के गहन व विस्तृत ज्ञान से सादी व हाफिज जैसे सूफी कवियों के साहित्य व कुरान को समझ सके। इस छाप ने उन्हें एकेश्वरवादी समर्थक व मूर्ती पूजा व अनेकेश्वरवादा का आलोचक बनाया।

संस्कृत मे वेदान्त व उपनिषदों के अध्ययन से राय पर पडे सूफी प्रभाव और अधिक गहन हो गये। मूर्ती पूजा में उनका विश्वास समाप्त हो गया। मानव विकास की असीम सम्भावनाओं से वे पचिति हो गये ।

देशाटन करते हुए उन्होंने तिब्बत में बौद्ध धर्म का अध्ययन कर उसकी व्यावहारिक विकृतियां भी अनुभूत की। बाइबिल का अध्ययन कर ईसाई धर्म को समझा। उसके त्रिदेव (परमात्मा, पुत्र व हाली घोस्ट) सिद्धांत की आलोचना की। ईसाई धर्म ग्रंथ की व्याख्या प्रिंसेप्ट्स ऑफ जीजस से मूर्ती पूजा की निन्दा व बौद्ध धर्म की आलोचना के समान ही विवाद उत्पन्न हुआ । ईसा के चमत्कारों का कोई उल्लेख नहीं थर्ा नैतिक व आध्यात्मिक उपदेशों का यह संकलन ईसाई धर्म को नैतिकता, भांति व आनन्द का मार्गदर्शक मानता था। इस्लाम के तौहीद (एकसत्ता) तथा मानव मात्र की समानता के वे कायल थे। ज्ञान की ब्रह्म में समस्त जीवों व सम्पूर्ण जगत की एकता के आधार पर वेदान्त को रॉय सर्वोत्कृष्ट मानते मानते थे । मूर्ति पूजा, एकेश्वर, सती व हिन्दु धर्म की अन्य कुरीतियों के प्रश्नों पर

राय ने उपनिषदों के आधार पर रूढ़िवादी ब्राह्मणों से भास्त्रार्थ कर उन्हें हराया । हिन्दू धर्म का मौलिक रूप उन्हे प्रिय था जो विवेक, मूल्य व समानता पर आधारित था ।
किशोरावस्था की उनकी प्रथम रचना तुहफल–अल–मुवाहिदीन (एकेश्वरवादी को उपहार) एकेश्वरवाद का सर्मथन व समस्त धर्मों में मूर्ति पूजा के तत्व का विरोध करती है। विभिन्न धर्मों के अध्यन से उनमें सहिष्णुता व एक विश्व धर्म का विचार उपजा व वे कट्टरपन से ऊपर जा सके। हेमचन्द्र सरकार के अनुसार राय के विचारों व कार्यो की धुरी धर्म था धर्म व दर्शन सम्बन्धी चर्चा हेतु राय ने 1815 में आत्मीय सभा की स्थापना की तो 1827 में ब्रिटिश इण्डिया यूनीटेरियन एसोसिएशन व 1828 में ब्रह्मसमाज राय के जीवन की सबसे महत्वपूर्ण घटना बन गया। इसके विचार बंगाल से बाहर भी दूर–दूर तक प्रसारित हो गये। ब्रह्म समाज विभिन्न धर्मो के लिए ईश्वर की उपासना का मार्ग था। इसका विश्वास था कि ईश्वर निराकार, भाश्वत अज्ञेय तथा नित्य है। इसको कोई नाम नहीं दिया गया। यह हिन्दुत्व के मूल रूप की स्थापना भी थी । इसके प्रथम मन्दिर के लिए 1830 में राय ने एक भवन भी दिया। मंदिर में मूर्ति स्थापना, बलि देना, किसी भी धर्म की निंदा करना निषिद्ध था । जाति, धर्म व रंग की कोई सीमा नहीं थी । इसका उद्देश्य समस्त धर्मों में सहिष्णुता व एकता था। इससे समाज सुधार के व्यक्तिगत प्रयासों को सामूहिक व संस्थागत भाक्ति प्रदान करने में सहायता मिली व प्रतिबद्ध कार्यकर्ताओं के दल तैयार हो गये ।
राय की धर्मों के प्रति यह सहिष्णुता एक विश्व धर्म के स्वप्न का आधार भी बनी जो कि स्वामी रामकृष्ण परमहंस व स्वामी विवेकानन्द का भी विचार था। इस वैश्विक आध्यात्मिक स्वप्न में सभी धर्मों के प्रेरक तत्व समाहित थे (हेमचन्द्र सरकार) । राय का दृष्टिकोण समन्वयवादी था। सभी धर्मों के कुछ विविधताओं के साथ एक ही ईश्वरवाद पाया जाता है (सर ब्रजेन्द्रनाथ सियाल) । आज की समस्त प्रगति के उपरान्त भी विभिन्न धर्मों के मध्य विश्व में हो रहे टकराव, विवादों व कट्टरपंथिता की प्रष्ठभूमि में आज भी राय का यह स्वप्न उतना ही प्रासंगिक है जितना की भांति व लोगों के मध्य सहिष्णुता । राय के विचारों का मूल था– विवेकपूर्ण चिंतन, एकेश्वरवाद का समर्थन एवं बहुदेववाद का विरोध – राय का समस्त चिंतन संसार में एक ही सत्ता का समर्थक है। एकेश्वर का यह विचार कुरान के तौहीद तथा उपनिषदों के अद्वैतवाद दोनों से प्रभावित था। इसी से ईसाई धर्म के त्रिदेव सिद्धांत व तत्कालीन हिन्दू धर्म में प्रचलित अनेकेश्वरवाद की राय ने आलोचना की।
1 मूर्तिपूजा का विरोध – मूर्तिपूजा के राय कटु आलोचक थे। एक निराकार सत्ता को मूर्ति में पूजन के विरोधी थे। मूर्ति पूजा से हिन्दुओं में उत्पन्न भेदभाव, विभाजन तथा कट्टरता को राय विवेकरहित व राजनीतिक दृष्टि से हानिकर मानते थे। विभिन्न समूहों में बंटकर भारतीय शक्शिाली नहीं हो सकते थे। मूर्ति पूजा की मूल धर्म से असंबद्धता दिखानें हेतु व मूल रूप दशाने हेतु राय ने कई उपनिषदों का अंग्रेजी व बंगाली में अनुवाद किया ।
2 अनैतिक धार्मिक प्रथाओं, परंपराओं व अंधविश्वासों का विरोध – धार्मिक मान्यताओं को तार्किक परीक्षण एवं व्यावहारिक औचित्य की कसौटी पर परखना चाहिए। केवल परम्परा का मानदंड ही स्वीकृति का आधार नही होना चाहिए। विवेकहीन रूढ़ियां, कर्मकाण्ड व संस्कार जैसे बलि प्रथा आदि अनैतिक, मानवता विरोधी एवं घृणित हैं। मानवतावाद एवं धार्मिक सहिष्णुता का समर्थन राय सम्पूर्ण मानव जाति को एक महान परिवार के रूप में देखते थे जैसा कि सहज बुद्धि व धर्म के साथ–साथ वैज्ञानिक भोट भी दर्शाते हैं। विभिन्न राष्ट्र जातियाँ इस परिवार की शाखाएँ हैं । अतः वह समस्त बाध ओं को यथासंभव दूर कर मनुष्यों को एक–दूसरे से मिलने के लिए प्रोत्साहित करना चाहते थे। धर्म को वह ऐसा बनाना चाहते थे जो मानवों के मध्य भेद वे घृणा को नष्ट कर मानव जाति की एकता व भाांति का प्रेरक हो । उपनिषदों का अद्वैतवाद भी सभी में एक ब्रह्म को बताकर जीवों की मूल एकता को दर्शाता है।
अपने धार्मिक विचारों से राय ने एक ओर तो तत्कालीन हिन्दू धर्म की विकृतियों व कुरीतियों

को दूर करने का प्रयास किया तो दूसरी ओर ईसाई मिशनरियों के धर्म प्रचार के प्रयास को । हिन्दू धर्म का भाद्ध मूल रूप दिखाकर कटुतारहित मार्ग से रोकने का भी कार्य किया। धार्मिक कुरीतियों व विभाजनों को हटाकर वे भारतीयों को एक राजनीतिक भाक्ति बनाने का मार्ग भी प्रशस्त कर सके । वेदान्त व उपनिषदों को अंग्रेजी तथा बंगाली भाषाओं में अनुवाद करके भारतीय व पश्चिम दोनों तक व्यापक रूप से पहुँचा सके।

इकाई – 4 राजाराममोहन राय के सामाजिक विचार

3 सामाजिक विचार

सामाजिक सुधार राय के चिंतन व कार्यों का प्रमुख आधार था। समाज सुधार के मार्ग से ही उन्होंने राजनीतिक विकास का मार्ग प्रशस्त किया। समाज सुधार के बिना राजनीतिक विकास अधूरा रहता। साथ ही हिन्दओं के राजनीतिक ह्रास का उत्रदायी वे उनके धार्मिक व सामाजिक पतन च. विभाजन को समझते थे । इस कारण भी धार्मिक–सामाजिक सुधार अनिवार्य थे। मूर्ति पूजा, बहुदेववाद व जातिवाद के प्रबल विरोध का यही कारण था। धर्म सुधार का मूल उद्देश्य भी समाज सुधार ही था क्योंकि धर्म भारतीय जीवन का एक अभिन्न अंग है। समाज का आधा भाग स्त्रियों की दशा सुधारने व उसे सम्मान व समता दिलाने हेतु राय ने सती प्रथा, बहुपत्नी प्रथा का विरोध किया तो मृत पति की संपत्ति से उत्तराधिकार सुनिश्चित करने व विधवा स्त्रियों के साथ मानवीय व्यवहार व नारी शिक्षा की वकालत की। अपने रूढिवादी विरोधियों को धर्मग्रन्थों के उद्धरण व प्रमाण (शास्त्रार्थ) प्रस्तुत करने के साथ सरकार की सहायता भी ली। सुधार हेतु राय ने विभिन्न प्रकार के साधन अपनाये – मानवता व नैतिकता भावना को अपील, धर्मग्रंथों से उद्धरण देना। इनके विफल रहने पर सरकार की सहायता लेने में भी इस उदारवादी विचारक ने संकोच नहीं किया

(1) सती प्रथा का विरोध – राय की अनुपस्थिति में उनके बड़े भाई का देहान्त हो गया और उनकी भाभी सती हो गयी। इस आघात के प्रतिकार रूप में उन्होंने सन् 1818 में इस स्थाति परम्परा के विरूद्ध अभियान छोड़ दिया । सती प्रथा या सहमरण हत्या व आत्महत्या ही थी । स्वेच्छा व प्रतिक्रिया थी । प्रायरू विधवा को पति की चिंता के साथ बांधकर या धकेल कर जला दिया जाता था द्य स्वार्थी सम्बन्धी विधवाओं के भरण–पोषण से बचने हेतु भी इस प्रथा का प्रयोग करते थे। राय जीवन को ईश्वर का अनमोल उपहार मानकर उसे छीनने का अधिकार किसी व्यक्ति या संगठन को देने के विरोधी थे । स्त्री के चरित्र पर संदेह करने वाली इस प्रथा को वे शास्त्रसम्मत के स्थान पर शास्त्रविकृत अवांछनीय व अनैतिक कुप्रथा मानते थे। इसके विरोध हेतु राय ने आन्दोलन, वाद–विवाद, गोष्ठियों व लेखकों का उपयोग कर जनमत निर्माण का प्रयास किया। सरकार भी इस समस्या से अवगत थी पर हिन्दू भावनाओं को ठेस लगने के डर से निष्क्रिय थी। सती प्रथा विरोधी अभियान का सहारा लेकर लार्ड विलियम बैंटिंक ने एक आज्ञा जारी कर सन 1829 में सती प्रथा को गैरकानूनी घोषित कर दिया।

(2) जाति प्रथा का विरोध – जाति व उपजातियों को राय हिन्दुओं के मध्य विभाजन तथा असमानता का कारण मानकर देशभक्ति में बाधा मानते थे । यहीं विभाजन उनकी राजनीतिक कमजोरी था । अन्तर्जातीय आदान–प्रदान होने से ही यी एक बन्द व विभाजित समाज था । इसी कारण उसे शताब्दियों की पराधीनता से गुजरना पड़ा।

जाति प्रथा के राय घोर विरोधी थे। यह इस्लाम, सूफी व उपनिषदों के साथ–साथ पाश्चात्य प्रभाव भी था । एक व्यक्ति की श्रेष्ठता अथवा हीनता की कसौटी उसके गुण व कर्म हैं, न कि जन्म । जातीय एकीकरण हेतु राय अन्तर्जातीय भोज तथा अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करते थे । भास्त्र के आधार रूप में उन्होनें उम्र, वंश व जाति के बंधन से रहित भौंव विवाह पद्धति का समर्थन किया। राजनीतीक दलों व राजनीतिज्ञों द्वारा वोट बैंक राजनीति हेतु जाति व आरक्षण का प्रयोग (या दुरूपयोग) आज भी हमें जातिविहीन समाज की या अविभाजित मुक्त समाज की संकल्पना की सार्थकता व प्रासंगिकता याद

दिलाता है । अत्यधिक वैज्ञानिक तकनीकी विकास तथा जातिगत लचीलेपन व आदान प्रदान के उपरान्त भी अन्तजातीय अन्तर्धर्म के विवाहों से उद्‌भूत हत्याएँ, विवाद व झगड़े आज भी राय की कल्पना को स्वपन ही दर्शाते हैं।

(3) नारी अधिकार एवं नारी हित का समर्थन – नारी स्वतंत्रता के अग्रदूत के रूप में राय ने हिन्दू नारी के साथ हो रहे अन्याय व अत्याचार का विरोध किया तो उसे सम्मान व समानता दिलान का भी समर्थन किया।

सती प्रथा का विरोध व सरकार द्वारा इसे निषेध करवाना राय के दसवर्षीय आन्दोलन का परिणाम था।

राय विधवा को कुछ स्थितियों में वांछनीय समझते थे, विशेषकर स्त्री शिक्षा पर बल–पुरूषों के समान ही राय स्त्री शिक्षा के समर्थक थे । प्रौढ़ विध वाओं के लिये राय आत्म सम्मान हेतु शिक्षा पर बल देते थे। वे स्त्रीयों को मंदबुद्धि मानने को तैयार नहीं थे वरन उन्हें लीलावती, गार्गी, मैत्रेयी के समाने विदुषी बनने को प्रेरित करते थे । इन नामों से वे नारी शिक्षा को भास्त्रम्मत भी बताते थे । स्त्री शिक्षा के क्षेत्र मे राय अधिक कुछ कर नहीं पायेगा।

बहुपत्नी विवाह का विरोध – कानून द्वारा ऐसी व्यवस्था राय का स्वप्न थी जिससे (क) कोई भी हिन्दु एक मजिस्ट्रेट से लाइसेंस लिये बिना पहली पत्नी के जीवनकाल में दूसरा विवाह न कर सके द्य केवल भास्त्रम्मत कुछ परिस्थितियों में ही दूसरे विवाह की अनुमती थी ।

स्त्री को मृत पति की संपत्ति में अधिकार का समर्थन– इस सन्दर्भ में उचित अधिकार न देने के राय विरोधी थे। प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रं व न्यायशास्त्र की स्त्री को पति की संपत्ति मे पुत्रों के समान भाग देने की व्यवस्था विकृती के कारण भान्य कर दी गयी थी। राय इस अधिकार को पहले की भांति स्थापित करना चाहते थे। उनके अनुसार इससे विधवा असम्मान व संकट से भी बच सकेगी। राय का प्रयास हिन्दू विधवा के जीवनकाल में मृत पति की संपत्ति मे समुचित आधा भाग देने तक सीमित था, चौथाई भाग पुत्रों व पुत्रियों में बंटे, जिससे स्त्री आत्मनिर्भर रहे। संपत्ति के विषय मे उनके दो निबन्ध थे जिनमे प्राचीन मनीषियों मनु याज्ञवल्क्य, कात्यायन आदि के उद्धरण थे। ये Hindus over थे पूर्वजों की सम्पत्ति के उपर हिन्दुओं के अधिकार (On the Rights of the Ancstral Property) (On Modern Enroachments on the Ancient Right of Femalè) स्त्रियों के प्राचीन अधिकारों पर आधुनिक आघात ।

दहेज प्रथा समान कन्याओं की बिकी का विरोध – इससे बेमेल विवाह होते थे । बाल विधवाओं की संख्या तथा उन पर अमानवीय व्यवहार में वृद्धि होती थी ।

देवदासी प्रथा का विरोध – देवदासी प्रथा ईश्वर के नाम पर पूजा स्थलों मे व्यभिचार था।

बली प्रथा का विरोध – ईश्वर को प्रसन्न करने हेतु बली देने के राय अंधविश्वास के नाम पर हत्या मानते थे और इसका विरोध करते थे ।

परम्पराओं के अन्धानुकरण का विरोध – विवेक व बुद्धि की कसौटी पर परम्पराओं की परीक्षा आवश्यक है। केवल रूढ़ि के तौर पर अपनाना अविवेकपूर्ण हो सकता है।

संसदीय एवं विनम्र भाषा का समर्थन – अशिष्ट व अपशब्द युक्त अपमानजनक भाषा का राय विरोध करते थे। अपनी बात स्पष्ट रूप से पर बिना अशिष्टता के व्यक्त करना उनकी विशेषता थी ।

समुद्र यात्रा– उस समय समुद्र पार कर विदेश जाना वर्जित था। राममोहन राय ने इस रूढ़ि को स्वयं इग्लैण्ड जाकर तोड़ा। राय द्वारा स्थापित आत्मीय सभा में हिन्दू धर्म के साथ–साथ सामाजिक समस्याओं पर भी नियमित चर्चा होती थी। जैसे – जाति–भेद्र की समस्या, पंक्ति भोजन और निषिद्ध खाद्य की समस्या, बाल विधवा और कठोर ब्रह्मचर्य पालन, बहु विवाह प्रथा, सती प्रथा, मूर्तिपूजा आदि । इस सभा को वर्तमान बंगाल की प्रथम

समाज सुधार संस्था कह सकते हैं ब्रह्म समाज ने तटस्थ, धर्म निरपेक्ष मार्ग का अनुसरण कर विविध धर्मानुयायियों में एकता का प्रयास किया । व्यक्तिक तथा स्वैच्छिक संगठित प्रयासों के साथ–साथ राय सरकार से कानून द्वारा भी सामाजिक कुरीतियों पर अंकुश लगाना चाहते थे ।

अपनी सामाजिक–धार्मिक विचारों से राममोहन राय कलकत्ता के कुछ प्रतिभाशाली एवं प्रभाव पूर्ण व्यक्तियों के प्रिय बन गए, जैसे–द्वारकानाथ ठाकुर, प्रसन्न कुमार, नन्द कुमार बोस, आनन्द प्रसाद बनर्जी, राजा काली भांकर घोषाल, ब्रज मोहन मजूमदार, डा. राजेन्द्र लाल मित्र आदि। गोपाल कृष्ण गोखले, तिलक और सुरेन्द्र नाथ बनर्जी जैसे राजनीतिज्ञ न होते हुए भी राजनीति में राय की रूचि थी। यूरोप विशेषतः इंग्लैण्ड की राजनीति का उन्हें ज्ञान था । राजनीति, राजनैतिक संगठनों तथा सस्थाओं के व्यवहार का राय ने गहन अध्ययन किया था। जनता की शिकायतों को सत्ता के केन्द्र तक ले जाने के प्रथम प्रयासों के कारण सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने उन्हें भारत में संवैधानिक आन्दोलन का जनक कहा।

उस समय जनता मे नागरिक अधिकारों के विषय में चेतना नहीं थी और न कोई सरकार के समक्ष अपनी बात ध् शिकायतें रखने की सोचता था। राय ने भारत में व इंग्लैण्ड में भारतीय पक्ष भासन सत्ता के देशों में तैयार किया। भारत में भी उन्होंने इंग्लैण्ड की व्याख्या प्रस्तुत की। इंग्लैण्ड प्रवास के तीन वर्षों में भारत के दावे को सुशासन हेतु उत्तरदायी लांगों के समक्ष रखने के प्रत्येक अवसर का उन्हों‍ंन उपयोग किया। सामाजिक–धार्मिक सुधारों द्वारा राय ने राजनीतिक जागरण का आधर तैयार किया।

राय आधुनिक भारत में संवैधानिक उदारवाद के प्रथम नेताओं में से थे। राजनीतिज्ञों, आन्दोलनकर्ताओं व समाज सुधारकों द्वारा यह उदारवाद विरासत सौ वर्ष तक जारी रही। राजनीति आन्दोलन के ब्रिटिश तरीकों का सूक्ष्म निरिक्षण कर राय ने शिकायतों के निराकरण हेतु संवैधानिक राजनीतिक आन्दोलन भाांतिपूर्ण साधनों द्वारा चलाकार दूसरों के लिये मार्ग प्रशस्त किया। दादा भाई नौरोजी, रानाडे तथा गोखले आदि उदारवादियों (नरम दल) के इसी कारण वे अग्रणी थे। सदशासन उनकी वरीयता था । स्वशासनश की प्रतीक्षा हो सकती थी । लोकश्रेय के लिये को भी भाासक स्वीकार्य है – बिटिश या सामन्तवादी राजा–महाराजा। राज्य का चरम लक्ष्य श्लोकश्रेयश होना चाहिए।

राज्य कर उद्देश्य लोकश्रेय जो अन्य भाासन की अपेक्षा संसदीय लोकतंत्र इस लक्ष्य की पाप्ति में बेहतर है। इसमें जनता के जनता के द्वारा और जनता के लिए भासन है। अधि ाकतम लोगों को भासन व्यवस्था में भागीदारी का अवसर मिलता है. वे अपने प्रतिनिधियों द्वारा भाासन व्यवस्था को संचालित एवं नियंत्रित कर सकतें हैं । शायद इस कारण भी राय ने सामन्तवादी देशी राजधरानों की भाासन की अपेक्षा ब्रिटिश भासन को बेहतर समझां भारतीयों को पहले से अधिक नागरिक तथा धर्मिक स्वतंत्रता होने के कारण ही राय ने ब्रिटिश भाासन का समर्थन किया। वे निरंकुश भाासन या अनुदार नौकरशाही के समर्थक नही थे। राय भासक व भाासितों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध के समर्थक थे । भाायद इसी कारण वे सरकार द्वारा जनता के विवेकशील तथा सम्मानित वर्गों का सद्‌भाव व सहयोग प्राप्त करने की इच्छा करते थे।

राय के द्वारा प्रस्तावित कुछ सुझाव भाक्ति पृथक्करण तथा किसानों के हित के प्रति उनके झुकाव को दर्शाते हैं। फारसी के स्थान पर अंग्रेजी भाषा के रूप में प्रतिष्ठा, दीवानी मामलों में भारतीय मूल्यांकनकर्ताओं की नियुक्ति, जूरी द्वारा अभियोग की सुनवाई, न्यायाधीश व राजस्व अधिकारी एवं न्यायाधीश व मजिस्ट्रेट के पदों का पृथक्करण, कंपनी की नागरिक सेवा में भारतीयों को अधिक संख्या में स्थान देना व कानून बनाने से पूर्व जनमत जानने का प्रयास, लगान निर्धारण का अधिकार जमींदार के स्थान पर कंपनी के हाथ में सौंपना राय के राजनीतिक विचारों में लोकश्रेय स्वशासन एवं उदारवाद की झलक दिखती है। व्यक्ति, उसकी गरिमा तथा स्वतंत्रता का प्रेम उनके चिंतन तथा कार्यों का आधार है

स्वतंत्रता – स्वतंत्रता के इस प्रेम की जड़े हिन्दुत्व के अद्वैतवाद व पाश्चात्य साहित्य दोनों से उपजती दीखती हैं ।

वैश्विक राय को स्वतंत्रता व्यक्ति तथा देश दोनें के लिये अनिवार्य जान पड़ती है। स्वतंत्रता की सफलता मे राय का विश्वास आशावादी है। स्वतंत्रता का उनका प्रम देश की सीमाओं से संकुचित न होकर वैश्विक है ।

बहुआयामी स्वतंत्रता– राय का स्वतंत्रता प्रेम उनके धार्मिक–सामाजिक––रानीतिक विचारें एवं कार्यो– सुधारों में व्यक्ति की गीरमा की स्थापना, सांवेधानिक भाासन, रूढ़ियों के अंध ाानुकरण के स्थान पर तर्क व विवेक से परीक्षण (जाति विभाजन, मर्ति पूजा, बलि प्रथा, बहुदेववाद, सती प्रथा का विरोध आदि) में दृष्टिगोचर होता है।

राजनीति क्षेत्र में राय का स्वतंत्रता प्रेम, संवैधानिक भाासन, नागरिक अधिकारों, नारी अधिकार, प्रेस की स्वतंत्रता भाक्ति प्रथक्करण के समर्थन में मुखरित होता है ।

(A) व्यक्ति की निजी स्वतंत्रता का समर्थन पर सामाजिक हित हेतु राज्य के हस्तक्षेप को स्वीकृति ।

(B) राष्ट्रों की स्वातंर्त्य का समर्थन जैसे – यूरोपीय राज्य व एशियाई उपनिवेश। फ्रांसीसी कति के स्वतंत्रता, समानता व बंधुत्व तथा अमेरिका स्वतंत्रता की घोषण से राय प्रभावित थे ।

(C) स्वतंत्रत एवं लोकतांत्रिक भासन का समर्थन– स्वतंत्रता संघर्ष मे रत सभी व्यक्तियों को (जाति धर्म, राष्ट्रीयता के भेदभाव के रहित) राय का समर्थन था। जैसे –– तुर्कों के साम्राज्यवाद के विरुद्ध यूनानी संघर्ष, दक्षिण अमरिका स्वतंत्रता संग्राम, स्पेन के ग्रहयुद्ध में उदारवादी लोकतांत्रिकों का, 1822 में अंग्रेजों के दमन के शिकार आयरलेण्ड के कैथोलिक के प्रति सहानुभूति ।स्वतंत्रता प्रेम के कारण ही संवैधानिक भाासन के पक्षधर थे व निरंकुश भाासन के विरोधी थे

(D) प्रेस की स्वतंत्रता का समर्थन प्रेस की स्वतंत्रता को जनता व सरकार के मध्य संवाद हेतु व जनमत के लिये आवश्यक सुरक्षा नली मानते थे । सरकारी अनियमितताओं व अत्याचारों को बताने हेतु भी लोकतंत्र के रक्षक की भूमिका प्रैस निभाती है। जॉन एडम्स द्वारा अपनं पूर्ववर्ती गवर्नर जनरल लार्ड हेस्टिग्स की प्रैस के प्रति उदार नीति के स्थान पर एक कठोर प्रैस अध्यादेश जारी कर समाचार पत्र ध पत्रिका के प्रकाशन हेतु लाईसेंस की व्यवस्था की गयी। सरकार के प्रति निष्ठा रखने वालों को ही अनुमति प्राप्त होती । राय व साथियों ने इस अध्यादेश के विरू (आपत्ति के प्रदर्शन, प्रार्थना पत्र पहले उच्चतम न्यायालय तथा फिर ब्रिटिश राजा (किंग–इन – काउसिंल) के समक्ष प्रस्तुत किया। कलकत्ता के प्रभावशाली तथा सम्मानित व्यक्तियों के हस्ताक्षर वाले ये स्मरण पत्र प्रेस की स्वतंत्रता के लिए जोरदार प्रभावशाली अपील थे जो निष्फल है। सोफिया कालेट ने तो इन्हे राय की उदत्ततम अंग्रेजी रचना कहा । ज्ञान के प्रसार तथा मानसिक विकास के लिये सहायक होने के साथ–साथ भासन की गुणवत्ता में भी प्रेस की स्वतंत्रता सहायक होती है। विरोध प्रदर्शन हेतु राय ने अपने समाचार पत्र मिरात–उल (फारसी) का प्रकाशन रोक दिया। वे अपरिमित स्वतंत्रता के पक्षध र नहीं थे। आवश्यकता पड़ने पर अधिक बंधन भी स्वीकार्य थे (मानहानि सम्बन्धी कानून द्वारा स्थापित बंधन को ही राय पर्याप्त मानते थे)। प्रेस की स्वतंत्रता की मांग सरकार को मजबूत बनाने के लिये ही थी ।

(न) ब्रिटिश शासन का समर्थन– ब्रिटिश शासन, कानून प्रणाली, उनके बुद्धित्व, संतुलित आचरण के विषय में ज्ञान प्रप्त कर राय ब्रिटिश भाासन के पक्षधर हो गये। यह झुकाव भारत की –अंग्रेजी शासन से होने वाले लाभ, नागरिक तथा धार्मिक स्वतंत्रता के कारण भी था जो कि पूर्ववर्ती शासकों के निरंकुश शासन से भिन्न था। ये अधिकार, संभवतरू नागरिक स्वतंत्रता सामाजिक आनन्द, स्वतंत्र शिक्षा, जीवन व संपत्ति के अधिकार, विचारों की स्वतंत्रता व धार्मिक उपासना से संबद्ध थे। इसी कारण राय ने ब्रिटिश शासन को

भारतीयों का सौभाग्य बताया। इसके भाताब्दियों तक जारी रखने की कामना करते थे। विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने भारत के आधुनिक काल का निमार्ता माने जाने वाले यूनान व नेपल्स आदि की राजनीकि स्वाधीनता में रूचि रखने वाले राय के द्वारा शाताब्दियों तक भारत में ब्रिटिश शासन की प्राथना करने पर आश्चर्य किया है। राय स्वतंत्रता के प्रशंसक थे। पर भाहीद नहीं थे। वे देशप्रेमी थे। बौधिक समाज सुधारक व विद्वान थे। 1818 में मराठे व सिक्ख स्वाधीनता के लिए संघर्ष में रत थे। स्वराज्य राय का लक्ष्य नहीं था । भाक्ति के आधार पर भारत ब्रिटेन से मुकाबला नहीं कर सकता था। उस समय ब्रिटेन विश्व में सर्वाधिाक भाक्तिसम्पन्न देश था। दूसरे राय मूलतः एक सामाजिक सुधारक थे। उन्होने पश्चिमी सभ्यता के बुद्धिवाद व उदारवाद को स्वीकार कर बहुत सी सामाजिक कुप्रथाओं कुरीतियों व रूढ़ियों को हिन्दू समाज से दूरकर उसे जाग्रत व विवेकयुक्त करने का प्रयास किया। राजनीतिक स्वंत्रता का बिगुल बजाने वाले नेताओं में फड़के चाकेकर, लोकमान्य तिलक आदि महाराष्ट्र के नेता है।

मध्य मार्ग का अनुसरण – पुनर्जागरण के प्रारम्भिक उदारवादी नेताओं की भांति राय दूरदर्शी लाभ हेतु धीमी गति से किये गये सुधारों का समर्थन करते है। इंग्लैण्ड से शरिफार्मर (त्मवितउमत) नामक पत्रिका को भेजे गये पत्र में अंग्रेजों के भाासन में भारत को प्राप्त ज्ञान व लाभों हेतु व भविष्यगामी लाभों के लिये स्थिति में सुधारार्थ जल्द बाजी न करने की सलाह देते है ।

राज्य का कार्यक्षेत्र – उदारवादी राय व्यक्तिवादी है । व्यक्तिगत संपत्ति के अधिकार व व्यक्तिगत स्वतंत्रता के पक्षधर है। किन्तु व न तो यदभाव्यम (स्पेम्रपितम) को स्वीकारते हैं और न समाजवाद को । कल्याणकारी राज्य जैसी अवधारणा के अनुसार वह राज्य से सतीप्रथा जैसी कुरीति का निषेध चाहते है तो राज्य द्वारा किसानों के अन्याय से भी बचाने के पक्षधर है। सरकार को एक सार्वजनिक शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था करनी चाहिये ।

भाक्ति प्रथक्करण का समर्थन – व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका के मह य भाक्तियों के विभाजन के राय अच्छे भासन हेतु पक्षधर है, अतः भारत के लिये विधि निर्माण कार्य– व्यवस्थापिका ब्रिटिश संसद (सपरिषद्) द्वारा होना चाहिये जो कि व्यवस्थापिका है। भारत स्थित गवर्नर जनरल (कार्यपालिका) द्वारा यह विधि केवल लागू की जानी चाहिये। कार्यपालिका एवं न्यायपलिका का सम्बन्धी कार्य एक पदाधिकारी के हाथ में नहीं होनी चाहिये। कलेक्टर के पद के साथ प्रबन्धकारिणी व न्यायिक भाक्ति के मिश्रण का भी राय ने विरोध किया। विधि एवं न्यायिक व्यवस्था विधि सम्प्रभुता का आदेश है एवं वही विधि को परिवर्तित कर सकता है, किन्तु मान्य जनकल्याणकारी विधि, कानूनद्ध में परिवर्तन स्वेच्छाचारिता से नहीं होना चाहिये। विधि का श्रोत अभिसमयय रीति–रिवाज रूढ़ियांद्ध सामाजिक मान्यताएं व धार्मिक श्रोत भी । पर सम्प्रभु की आज्ञा से ही वे विधि बन सकते है। विधि नैतिक दृष्टि से अच्छी या बुरी हो सकती है पर सभी विधि बाध्यकारी है। कुछ नैतिक विधि से भी अधिक बाध्यकारी होते है। राय ने 1831 में में बोर्ड ऑफ कंट्रोल के सामने सुझाव प्रस्तुत किये थे। उनकी पुस्तिका एन एक्सपोजीशन ऑफ दी रेवेन्यू एण्ड ज्यूडीशियल सिस्टम ऑफ इण्डिया भी इन्हें बताती है ।

कम्पनी का न्याय विभाग देश की परम्पराओं से दूर व अकुशल था। राय ने इस दिशा में व्यापक सुझाव प्रस्तुत प्रस्तुत किये कार्यपालिका ध् शासन एवं न्याय विभागों को पृथक करना, देश की भाषा को ज्ञाता व ईमानदार न्यायधीशों की नियुक्ति, उच्च वेतन पर भारतीय की नियुक्ति, जालसाजी एवं झूठी गवाही को समाप्त करना, देश के न्यायलयें का यूरोपीय लोंगों पर क्षेत्राधिकार, जूरी व उसमें अवकाश प्राप्त व अनुभवी भारतीय विधिवेत्ताओं का चयन, विधि निमार्ण (दीवानी – फौजदारी) में जनता (संभ्रान्त) से परामर्श का संक्षिप्त, स्पष्ट, सरल, संहिताकरण, न्यायलयों के निर्णयों का सार्वजनिक समाचार पत्रों में प्रकाशन, जातीय भेदभाव की समाप्ति, न्याय पंचायत जैसी जनसंबद्ध संस्था द्वारा न्याय, रैयत की दशा के

सुधार हेतु व रक्षा हेतु विधि ।

प्रशासनिक सुधार सुधार – प्रशासनिक व्यवस्था हेतु राय के सुझाव थे–किसानों पर लगान की दर घटाना, सिविल सेवकों की आयु कम से कम 22 वर्ष, भारतीय सेवाओं में अधिक संख्या में योग्यतानुसार दायित्वपूर्ण पदों पर भारतीयों की नियुक्ति, उच्च वेतन वाले अंग्रेज कलेक्टरों के स्थान पर निम्न वेतनमान मे भारतीयों की नियुक्ति, स्थायी सेनाओं के स्थान पर नागरिक सेनाध्, विलासिता की वस्तुओं पर कर लगाना ।

यूरोपवासियों को भारत में बसाना– राय उच्च चरित्र वाले संपन्न यूरोपवासियों के भारत मे बसाने के पक्षधर थे। 1813 के चार्टर एक्ट से उनके भारत में भूमि खरीदने या पट्टे पर देकर बसने का निषेध था। राय के विचार से उनके भारत मे अपनी पूजी लगाकर रहने से वैज्ञानिक प्रणाली की कृषि, खनिज, व्यापार, शिल्पकला आदि का विकास संभव था। राय उन्हें भाासक वर्ग का होने के नाते विशेष सुविधाएँ न देने व अपराधों पर कानून की समान दृष्टि के पक्षधर थे । 1833 के अधिकार अधिनियम द्वारा यूरोपीय लोगों पर भारत में बसने सम्बन्धी प्रतिबंध हटा दिये गये ।

मानवतावाद एवं विश्व भ्रातृत्व– राय विश्व भ्रातृत्व विश्वास रखते थे और एक विश्वव्यपी ध ार्म का स्वप्न देखते थे जो परम्परागत बंधनों से पूरे हो । आज भी देशों के अन्दर व मध य धर्म पर आधारित भेद वैमनस्य पैदा कर रहे हैं। सम्पूर्ण मानवता को राय एक परिवार व विभिन्न जातियों–बिरादरियों को उसकी अनेक भाखाएँ मानते थे। वे मानव सम्पर्क को विकसित कारने व इसमे रुकावटों को मानव कल्यण हेतु दूर कर देना चाहते थे। इसीलिये वे सबके लिये स्वतंत्रता चाहते थे।

राय ने एक ऐसे विश्व संगठन की कल्पना की थी जिसने राष्ट्रों के आपसी मतभेदों का पंच फैसले द्वारा समाधान हो सके। इस प्रकार की कांग्रेस की कल्पना संयुक्त राष्ट्र संघ का पूर्वाध र मानी जा सकती है आज आणविक युग मे आतंकवाद व अन्तराष्ट्रीय तनाव व संघर्षो की पृष्ठभूमि मे समन्वय सहयोग अथवा संघर्ष व विनाश के दो ही मार्गो के समक्ष राय की कल्पना आज भी प्रासंगिक है।

आर्थिक विचार

लार्ड कार्नवालिस के बंगाल के भूमि प्रबंध से उत्पन्न समस्यओं को राय ने समझा। जमींदारी व जागीरदारी से सरकार को अपनी मांग कम करने का सुझाव दिया जससे किसानों पर लगान कर रहे । स्वतंत्र व्यापार का राय ने समर्थन किया। ये अंग्रजों द्वारा इंगलैण्ड ले जा रहे माल पर से कर हटवाना चाहते थे जिससेविदेशी व्यापार में भारतीय माल की खपत अच्छी हो, परिवारिक संपत्ति पर हिन्दु स्त्रियें (पुत्री और पत्नी) के अधिकार की उन्होंने प्राचीन धर्म ग्रन्थों के उद्धरण देकर वकालत की
थी। भारत में उच्च चरित्र वाले संम्पन्न यूरोपीय लोगों को भारत में बसाने के पीछे भी आर्थिक विकास का कारण था । उदारवादी के रूप में राय सम्पन्न मध्य वर्ग के समर्थक थे।

शिक्षा सम्बन्धी विचार

शिक्षाविद के रूप में राय पश्चात्य ज्ञान विज्ञान व अंगेजी भाषा के पक्षधर थे । इस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा शिक्षा विस्तार के लिये स्वीकृती धनराशि संस्कृत विद्यालयों पर व्यय करने के विरोध मे भी राय ने 11 दिसम्बर 1823 में लार्ड एम्हर्स्ट को पत्र लिखा। उनका विचार था कि संस्कृत शिक्षा व्यवस्था देश को अन्धेरे मे ले जायेगी। अग्रेंजो द्वारा 1835 मे पाश्चात्य शिक्षा देने से पूर्व ही इस शिक्ष की देश मे मांग थी और सभी प्रारम्भिक भौक्षिक संस्थायें व्यक्तिगत प्रयासों तथा गैर सरकारी संस्थाओं से संम्बन्धित थी। इस प्रकार अगेजी भाषा के समर्थकों में राय अग्रिम पंक्ति में नहीं है। राय भारतीय जनता की प्रगति हेतु गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायन भास्त्र, शरीर विज्ञान एवं अन्य उपयोगी वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा देने के पक्ष मे थे। वे पहले कुलीन वर्ग को शिक्षित (पाश्चात्य शिक्षा) करना चाहते थे ।

विभिन्न भाषाओं के ज्ञाता राय ने पूर्व एवं पश्चिमी ज्ञान व संस्कृति के मध्य बाधाएँ गिरने एवं सवर्ण हिन्दुओं के मध्य यूरोपीय शिक्षा के द्वारा पाश्चात्य विचारों व मानदण्डों को लाने का प्रयास किया। मिशनरी स्कूलों में पढ़ने से ईसाई बनते या जाति भ्रष्ट होने की आशंका को भी उन्होंने करने का प्रयास किया ।

सन 1816–17 में कलकत्ता में रॉय ने एक अंग्रेजी स्कूल की स्थापना की व 1822–23 में हिन्दु कालेज की स्थापना को भी प्रेरित किया । वेदान्त कालेज की स्थापना राय ने भारतीय संस्कृति के प्राचीन ग्रंथों के अध्यय न हेतु किया। गीता व अनेक उपनिषदों का उन्होंने व्यापक प्रसार हेतु बंगाली व अंग्रेजी में अनुवाद किया। बंगाली गद्य को संवाद कौमुदी समाचार पत्र, अनुवाद व लेखों के द्वारा निरन्तर समृद्ध किया । शास्त्रार्थ में भी उन्होनें इसी भाषा का प्रयोग किया। नारी शिक्षा का भी समर्थन किया । यद्यपि इसमें कोई ठोस कार्य नहीं वे नही कर पाये।

पुरोहित वर्ग के एकाधिकार वाली प्रचलित शिक्षा पद्धति अनुदारवादी व संकीर्ण थी। मानसिक व वैचारिक स्वतंत्रता को प्रत्साहन नहीं देती थी और न बालिकाओं व समाज के पिछड़ी जातियों की शिक्षा को । इसके विपरित पश्चात्य शिक्षा भारत के लिये विश्व के विकसित व समृद्ध देशों में सम्मलित होने का मार्ग थी ।

अभ्यास–प्रश्न

1. राजा राममोहन रॉय भारतीय पुनर्जागरण के अग्रदूत कहलाते हैं? स्पष्ट कीजिए ।
2. राजा राममोहन रॉय मूलतः एक सामाजिक सुधारक थे, विविचना कीजिए ।
3. राजा राममोहन रॉय के आर्थिक व न्याय सम्बन्धी विचारों का उल्लेख कीजिए ।
4.स्त्री स्वातंर्त्य हेतु राजा राममोहन रॉय का योगदान बताइये ।
5. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये

क. रॉय के धर्म संबंधी विचार

ख. स्वतंत्रता संबंधी विचार

ग. राज्य का कार्य क्षेत्र

इकाई – 5 स्वामी दयानंद सरस्वती
(Swami Dayanand Saraswati)

स्वामी दयानन्द का जन्म काठियावाड़, गुजरात के मोखी नामक नगर में 1824 ई. में हुआ था। उनका बचपन का नाम मूलशंकर था। वे सामवेदी ब्राह्मण परिवार के थे और अपने घर में ही उन्होंने शुक्ल यजुर्वेद पूर्व मीमांसा तथा कर्मकाण्ड से सम्बन्धित कई ग्रन्थों का अध ययन किया था। बाल्यकाल से ही उनमें मूर्तिपूजा और धार्मिक कर्मकाण्ड के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो गया था । वैवाहिक जीवन से बचने के लिए वे इक्कीस वर्ष की अवस्था में घर से भाग निकले और 1860 ई. तक 15 वर्ष ज्ञान और अमरता की खोज में विभिन्न स्थानों पर घूमते रहे। उन्होंने इस बीच परमानन्द परमहंस से वेदान्तर सार तथा वेदान्त परिभाषा का ज्ञान प्राप्त किया और हठयो प्रदीपिका, योगबीज आदि पुस्तकों के अध्ययन के साथ–साथ तन्त्र के कुछ ग्रन्थों का भी अध्ययन किया।

स्वामी दयानन्द 1860 ई. में मथुरा पहुॅचे, जहाँ उन्होंने स्वामी बिरजानन्द से ढाई वर्ष तक पाणिनी और पंतंजलि का ज्ञान प्राप्त किया। 1864 ई. से स्वामी जी ने सार्वजनिक रूप से उपदेश देना आरम्भ कर दिया और उनके व्यक्तित्व और वाणी से अनेक लोग प्रभावित होने लगे। वे धार्मिक अन्धविश्वास और कर्मकाण्ड पर तीव्र प्रहार करते थे तथा घोषित करते थे कि उनका उद्देश्य मन, वचन और कर्म से सत्य का अनुसरण करता है। 17 नवम्बर, 1869 को उन्होंने काशी में हिन्दू देवशास्त्र और परम्परावाद के नेताओं से शास्त्रार्थ भी किया। स्वामी जी ने 10 अप्रैल, 1875 को मुम्बई में आर्य समाज की स्थापना की और 1877 ई. में लाहौर में आर्य समाज के संविधान को अन्तिम रुप दिया। इसके पश्चात् वे देश के विभिन्न भागों में घूम–घूम कर आर्य समाज का प्रचार करने में जुट गए। उन्होंने देशी रियासतों को अपना मुख्य कार्यक्षेत्र बनाया। इन रियासतों के शासकों ने स्वामी जी को पूर्ण सम्मान प्रदान किया तथा कई देशी नरेश उनके शिष्य बन गए। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह, शाहपुरा तथा जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह उन्हें विशेष आदर प्रदान करते थे।

ऐसी मान्यता है कि जोधपुर रियासत में उनके विरोधियों ने एक षडयंत्र रचकर उन्हें विष दे दिया और परिणामतः 30 अक्टूबर, 1883 को उनका प्राणान्त हो गया ।

स्वामी दयानन्द वेदों के प्रकाण्ड पण्डित तथा महान तर्कशास्त्री थे। वी. पी. वर्मा का कथन है कि, भरत के वर्तमान पुनर्जागरण आन्दोलन में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने महती जीवनदायिनी शक्ति का काम किया है। स्वभाव से वे अन्याय के विरुद्ध जन्मजात संघर्ष करने वाले थे। उनका कथन था, संसार अज्ञान और अन्धविश्वास की श्रंखला में जकड़ा हुआ है। मैं इस श्रंखला को तोड़ने तथा दासों को मुक्त करने के लिए आया हूँ। वे महान विद्रोही थे। उन्होंने धार्मिक अन्तःकरण के क्षेत्र में अपने शैव पिता के सत्तामूलक परम्परावादी आदेशों के सामने समर्पण करने से इन्कार कर दिया और न उन्होंने हिन्दू परम्परावादी नेताओं के प्रलोभनों तथा कोष के सामने ही समर्पण किया। वे ईसाई धर्म की बुराइयों की निरन्तर निन्दा करते रहे, यद्यपि इन दिनों ब्रिटिश साम्राज्यवाद अपने विजयोत्कर्ष के शिखर पर था । परमार्थ सत्य की खोज में वे व्यक्ति को सर्वोच्च तथा पवित्र मानते थे और वे महान नैतिक आदर्शवादी थे ।

स्वामी दयानन्द में अगाध भक्ति तथा अपूर्व शारीरिक बल था । उन्हें वेदों, वेदांग, धर्मशस्त्रों आदि के ज्ञान पर पूर्ण आधिपत्य था । वे संस्कृत और हिन्दी के महान ज्ञाता थे तथा उनकी वाक्पटुता मोहक तथा तर्कशक्ति दुर्दमनीय थी। वे आजीवन देश और समाज के उत्थान के लिए निरन्तर कियाशील रहे। दयानन्द के ग्रन्थ स्वामी दयानन्द की प्रमुख रचनाएँ निम्नलिखित प्रकार हैं– सत्यार्थ प्रकाश, वेदान्तिध्वान्ति निवारण, पंचमहायज्ञ विधि, संस्कार विधि ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका । इनमें सत्यार्थ प्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाग्य भूमिका का महत्वपूर्ण स्थान है ।

सत्यार्थ प्रकाश में चौदह समुल्लास या अध्याय हैं और इसमें देश के अन्य मत मतान्तरों, सम्प्रदायों आदि की विवेचना की गई है। इस ग्रन्थ के आठवें समुल्लास में दयानन्द के राजनीतिक चिन्तन पर प्रकाश पड़ता हैं ऋग्वेदादिभाग्य भूमिका का वैदिक साहित्य में प्रमुख स्थान है।

दयानन्द के विचारों की दार्शनिक पृष्ठभूमि – स्वामी दयानन्द मूलतः एक सामाजिक, ध ार्मिक और दार्शनिक चिन्तक थे। उनकी मान्यता थी कि सृष्टि में तीन शाश्वत द्रव्य हैं ईश्वर, जीव और प्रकृति में तीनों तत्व अनादि और अनन्त हैं। प्रकृति या पदार्थ एक स्वतन्त्र और शाश्वत तत्व हैं परन्तु उसको व्यवथित करने के लिए किसी सृष्टिकर्ता का होना आवश्यक है। इस प्रकार वे ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते थे। वे एकेश्वरवादी थे, उनका ईश्वर या ब्रह्म निर्गुण न होकर सभी मंगलप्रद गुणों का आधार है। इसलिए ईश्वर में अनन्य आस्था आवश्यक है, जिसे पवित्र जीवन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

जीव या आत्मा ईश्वर से इसी प्रकार भिन्न है, जिस प्रकार प्रकृति ईश्वर से भिन्न है और भक्ति की स्थिति में भी जीव या आत्मा परमात्मा से भिन्न रहता हैं उनकी मान्यता थी कि असम्प्रज्ञात निर्जीव समाज की उच्चतम व्यवस्था में आत्मा परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। इसके लिए योग और साधना की आवश्यकता है। ऋग्वेद के आधार पर दयानन्द का विश्वास था कि सृष्टि और प्रलय का कम निरन्तर चलता रहता है और ब्रहमाण्ड की एक ही बार उत्पत्ति नहीं हुई हैं। ब्रह्माण्ड की एकल सृष्टि का सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता।

उनकी मान्यता थी कि वेद अपौरुषेय हैं और शाश्वत, शुद्ध और आदि ज्ञान के स्त्रोत हैं। उनमें स्वयं ईश्वर की वाणी निहित है और सृष्टि के प्रारम्भ में ही वह ज्ञान ईश्वर द्वारा मानव जाति को प्रदान किया गया था। वी.पी. वर्मा का कथन है कि, ष्दयानन्द ने असंदिग्ध रूप में घोषणा की कि वेदों में आध्यात्मिक तात्विक नं और वैज्ञानिक–भौतिक ज्ञान दोनों के रहस्य का समावेष है ।ष दयानन्द और भारतीय राष्ट्रवाद

स्वामी दयानन्द जी का भारत के सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों और भारत की राजनीति के साथ अत्यन्त ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है । उनकी रचनाओं, विशेषकर श्सत्यार्थ प्रकाश के अध्ययन के से ये बात नितान्त स्पश्ट है कि उनका समस्त चिन्तन और कार्य देषभक्ति और भारतीय राष्ट्रवाद साथ जुड़े हुए थी। उन्होंने धर्म एवं राजनीति का जो समन्वय किया है वह कहीं अन्यत्र नहीं मिलता हैं। भरतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में उनका योगदान निम्नलिलिखत तत्वों से स्पष्ट किया जाता है

1. राष्ट्रीय चेतना की जागृति – स्वामी दयानन्द ने उस राष्ट्रीय विचारधरा को जन्म दिया जिसका चरमोत्कर्ष इनके बाद के युग में तिलक, लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल एवं अरविन्द घोष के चिन्तन में हुआ । स्वामीजी की निर्भीकता और विशेषता इसी तथ्य से प्रकट होती है कि उन्होंने उस समय भारतीय राष्ट्रवाद में प्राण फूंके और भारतीयों को नवजागरण का सन्देश दिया, जबकि पूरा भार तवर्ष ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शिकंजे में जकड़ा हुआ था। तत्कालीन समय में ईसाई मिशनरियां तेजी से अपनी गतिविधियां बढ़ा रही थीं। ऐसे विकट मसय में स्वामी दयानन्द हिन्दू पुनरूद्धारवाद के उग्र प्रवक्ता बने ।

उन्होनें आर्य समाज के रूप में एक शक्तिशाली एवं राष्ट्रीयता से ओत–प्रोत संस्था को जन्म दिया ।

ईसाई और इस्लाम मत का पूरी शक्ति के साथ विरोध करते हुए उन्होंने वैदिक धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। परिणामस्वरूप भारतीय जनता में अपने धर्म, संस्कृति, इतिहास तथा देश के प्रति गौरव की भावना का उदय हुआ। स्वामी दयानन्द का मानना था कि धर्म, कर्म की प्रेरणा देता है और पुरूषार्थ से विमुख व्यक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता।

2. निर्भीकता और कर्तव्यपालन का सन्देश – स्वामीजी ने इस बात पर बल दिया कि केवल निर्भीकता ही अपने राजनीतिक स्वरूप में एक ऐसी शक्ति है, जो निरंकुश साम्राज्यवाद के

विरुद्ध खड़ी हो सकती हैं अतः निर्भीकता ही मानव अधिकारों की प्राप्ति का आधार है। उनका विचार था कि मानव को कितने ही भयंकर कष्ट क्यों न झेलने पड़े। उसे अपने मानवोचित कर्तव्य पालन से विचलित नहीं होना चाहिए । निर्भीकता का यह सन्देश ब्रिटिश शासन का विरोध करने की प्रेरणा में था। उनके इस सन्देश से भारतीयों में विदेशी शसन से टक्कर लेने की शक्ति उत्पन्न हुई।

3. अन्धविश्वासों तथा कुरीतियों का विरोध– भरतीय यह समझते थे कि गुलामी उन्हें वरदान स्वरूप प्राप्त हुई है और यह हमारे भाग्य में बँधी हुई है। किन्तु स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उन्हें आकर बताया कि उनकी धारणाएँ बिल्कुल गलत हैं। यह अंग्रेज अत्याचारी है और तुम्हारा शेषण कर रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने भारतवासियों को भग्यवादिता और अन्धविश्वासी प्रवृत्तियों से छुटकारा दिलाया। उन्होंने भारतीय समाज के रूढ़िवादी रीति–रिवाजों और मूर्ति–पूजा आदि कर्मकाण्डों पर प्रहार किया। इससे भरतीयों को अधिक मनोबल मिला और वे इस प्रकार के कर्मकाण्डों के विरुद्ध हो गए। उनके मन में राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति जागृति उत्पन्न हो गई।

4. वैयक्तिक और सामाजिक चरित्र–निर्माण का सन्देश – स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि भारत के पतन के मुख्य कारण हैं, पारस्परिक फूट, धार्मिक भेद, जीवन में शुद्धता का भेदभाव, शिक्षा की कमी, बाल–विवाह जिसमें स्त्री और पुरूष को अपना जीवन साथी चुनने का अधिकार नहीं होता, इन्द्रिय–परायणता, असत तथा अन्य बुरी आदतें बौद्धायन की अवहेलना तथा अन्य कुरीतियाँ ।श उनका विचार था कि भारत के राजनीतिक अधोपतन के मूल में सामाजिक चरित्र को सुधारने की बलवती प्रेरणा दी।

5. दलितोद्धार तथा जाति–पांति का खण्डन – दयानन्दजी ने जाति–पांति का विरोध किया। उनका विचार था कि समस्त कार्य सामाजिक पूर्णता के निमित्त सम्पन्न किये जाते हैं, अतः किसी को उँचा और किसी को नीचा समझना अविवेकपकर्ण कार्य हैं इससे राष्ट्रीय एकता में कमी आती है। इसके अतिरिक्त जाति का निर्धारण जन्म से नहीं, वरन् कर्म से होना चाहिए। उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज में सभी जातियों को प्रवेश मिलता है।

6. देश की स्वतन्त्रता के प्रति तीव्र अनुराग – दयानन्द जी को व्यक्ति तथा अपने देश की स्वतन्त्रता के प्रति तीव्र अनुराग था। वे भारत को आर्यावत कहते थे। उनके मतानुसार यह देश पारसमणि का देश तथा स्वर्णभूमि था। उनका विचार था कि प्राचीनकाल में समस्त विश्व में आर्यों का ही चक्रवर्ती राजतन्त्रीय साम्राज्यवाद फैला हुआ था। इस प्रकार वे अतीत का गौरवगान कर नागरिकों को स्वराज्य के लिए प्रेरित करते थे। दयानन्द जी देश की परतन्त्रता पर दुखी थे । उन्होंने श्सत्यार्थ प्रकाशश में लिखा है कि, शविदेशी राज्य से चाहे वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, अच्छा है ।श दयानन्द जी राजनीतिक स्वन्त्रता की प्राप्ति के लिए मानसिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति आवश्यक मानते थें ।

7. स्वदेशी के समर्थक – स्वामी दयानन्द स्वदेशी के समर्थक थे। उन्होंने स्वदेशी का प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति का धार्मिक कर्तव्य बताया। उन्होंने बताया कि भारत की गरीबी को दूर करने के लिए खादी का प्रयो किया जाना आवश्यक है। इसके साथ ही उन्होंने देशी उद्योगों के विकास पर भी बल दिया।

8. देशी भाषाओं को प्रोत्साहन तथा हिन्दी को सम्पर्क भाषा के रूप में अपनाना – दयानन्दजी वेदों के प्रकाण्ड पण्डित तथा संस्कृत के विद्वान थे। उन्होंने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ श्सत्यार्थ प्रकाश तथा वेदों के भाष्य हिन्दी में लिखे। दयानन्द जी ने देशी भाषाओं को प्रोत्साहन दिया, किन्तु हिन्दी को देश की सम्पर्क भाषा के रूप में मान्यता प्रदान की। इस प्रकार उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रीय एकता का माध्यम बनाया।

9. महान देशभक्तों का जन्म – दयानन्दे द्वारा स्थापित संस्था आर्य समाज से भारत के राजनीतिक आन्दोलन को अनेक देशभक्त नेता तथा कार्यकर्ता प्राप्त हुए हैं। लाला लाजपत राय, तिलक, अरविन्द घोष, श्याम जी कृष्ण वर्मा आदि आर्य समाज से ही प्राप्त हुए हैं।

स्वामी दयानन्द मुख्यतः वेद–शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित? तर्कशास्त्री तथा समाज सुधारक थे और पश्चिमी राजनीतिक विचारकों की भाँति उन्होंने राजनीतिक दर्शन के क्षेत्र में किसी व्यक्तिगत सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया, परन्तु श्सम–सामयिक राजनीतिक स्थितिश तथा वेदों में अभिव्यक्त राजनीतिक विचारों से प्रभावित होते हुए उन्होंने महत्वपूर्ण राजनीतिक विचार व्यक्त किए हैं। उनके श्सत्यार्थ प्रकाशश नामक ग्रन्थ के आठवें समुल्लास में उनके राजनीतिक चिन्तन की अभिव्यक्ति है। वी. पी. वर्मा का कथान है कि, श्दयानन्द सरस्वती के राजनीतिक दर्शन में मनुस्मृति तथा वेदों के विचारों का समन्वय देखने को मिलता है ।

1. राज्य का लोक–कल्याणकारी स्वरूप – दयानन्द सरस्वती ने जिस राज्य की कल्पना की, उसका आदर्श एक पुलिस राज्य न होकर लोक–कल्याणकारी राज्य–व्यवस्था है। उनकी मान्यता थी कि राज्य को अनाथों, अपाहिज तथा समाज के हीन वर्गो के व्यक्तियों के संरक्षण और कल्याण के लिए कार्य करना चाहिए।

2. प्रबुद्ध राजतन्त्र का समर्थन – दयानन्द सरस्वती मनुस्मृति में प्रतिपादित राजतन्त्र का करते हैं। मनु की भाँति उनकी मान्यता है कि राजा को पूर्णतः धर्म के अधीन होना चाहिए। राजनीति को नैतिकता से पृथक नहीं किया जा सकता। राजनेताओं और शासकों को आध यात्मिक नेताओं के सहयोग और निर्देशन में कार्य करना चाहिए। राजा निरंकुश नहीं हो सकता, वह मन्त्रियों के परामर्श से कार्य करता है । यद्यपि राजा वंशानुगत होता है, परन्तु अयोग्य राजा को पदच्युत किया जा सकता है। ऐसी दशा में श्सभा के सदस्यों को अधि ाकार था कि वे अपने में से सर्वाधिक योग्य और बुद्धिमान व्यक्ति को राजा चुन सकते थे। वी. पी. शर्मा का कथन है कि, श्मनुस्मृति द्वारा प्रतिपादित राजत्व के. जिस आदर्श को दयानन्द ने स्वीकार किया, वह यूरोप के अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक राजत्व के उस आदर्श से मिलता–जुलता है, जिसका व्यावहारिक रूप हमें आस्ट्रिया के जोजेफ द्वितीय तथा प्रशा के फेडरिक द्वितीय के आचरण में उपलब्ध होता है।श

वेदों के वैज्ञानिक और तत्वशास्त्री ज्ञान से प्रभावित होकर दयानन्द ने नैतिक उत्थान को प्रमुखता प्रदान की और इस बात पर बल दिया कि शासक नैतिकता के मार्ग से विचलित न हों। वे नैतिकता तथा मानव कल्याण की भावना से रहित राजनीतिक उददेश्य का विरोध करते थे ।

3. लोकतन्त्रीय पद्धति में विश्वास – स्वामी दयानन्द की निष्ठा लोकतन्त्र के प्रति थी यह निष्ठा इस तथ्य से पूरी तरह स्पष्ट होती है कि उन्होंने आर्य समाज का जो संगठनात्मक ढाँचा खड़ा किया, वह निर्वाचन प्रणाली पर आधारित था। इस संगठन में नीचे से लेकर उपर तक सब पदाधि कारियों के लिए निर्वाचन का प्रावधान किया गया था । दयानन्द ने जिस राजतन्त्र की रूपरेखा प्रस्तुत की, उसके अन्तर्गत सरकार के सभी अंगों के निर्माण के लिए लोकतान्त्रिक निर्वाचन पद्धति को स्वीकार किया गया। उन्होंने धर्माय सभा, विद्यार्य सभा तथा राजार्य सभा के संगठन तथा कार्यों को निश्चित करते समय नियन्त्रण एवं शक्ति l Urqyu dsfl) kUr ¼Doctrine of Balance of Power) को ध्यान में रखा। इस सिद्धान्त स्पष्ट करते हुए दयानन्द सरस्वती ने कहा है कि, इसका अभिप्राय है कि एक व्यक्ति को स्वतन्त्र राज्य का अधिकार नहीं देना चाहिए, किन्तु राजा जो सभापति होता है, उसके अधीन राज्य सभा सभा के अधीन राजा, राजा और प्रजा के अधीन और प्रजा राजसभा के अधीन रहे । जब मनुष्य दुष्टाचारी होते हैं तो सब राज्य नष्ट–भ्रष्ट हो जाता है । महाविद्वानों को विधासभा अधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्मसभा अधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों की राज्यसभा के सभासद और जो उनमें सर्वोत्तम गुण–कर्म–स्वभाव युक्त महान् पुरुष हों, उसको राज्यसभा का पति रूप मानकर सब प्रकार से उन्नति करें। तीनों सभाओं की सहमति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के अधीन सब लोग बरतें सबके हितकारक कामों में सम्मति करें, सर्वहित करने के लिए परतन्त्र और धर्मयुक्त

अपने–अपने कार्यों में स्वतन्त्र रहे। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने स्वतन्त्र और निरंकुश राजा को प्रजानाशक माना, उन्होंने न्यायप्रिय शासक की कल्पना की और स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों को पूर्ण निष्ठा प्रकट की। उनका लोकतन्त्र व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करता, अपितु व्यक्तियों को स्वतन्त्रतापूर्वक विकास के अवसर प्रदान करता है।

4. ग्राम्य प्रशासन– बी. पी. शर्मा का कथन है कि स्वामी दयानन्द ने जिस राजनीतिक व्यवस्था की कल्पना की, उसका सार लोकतान्त्रिक आदर्शवाद है, यद्यपि कभी–कभी उसका बाहरी ढींचा राजतन्त्रात्मक भी हो सकता है। वे ऐसे विशाल राज्य की कल्पना करते हैं, जिसकी इकाई ग्राम हो। वे मनुस्मृति के अनुसार ग्रामें को प्रशासन का अभिन्न अंग बताने के पक्षधर थे। उन्होंने कहा कि दो, तीन पाँच और सौ ग्रामों के बीच में एक राज्य स्थान हो जिसमें यथायोग्य राज्य कर्मचारी राज्य के कार्यों को पूर्ण करें। प्रत्येक ग्राम में की कल्पना करते हैं, जिसकी इकाई ग्राम हो । वे मनुस्मृति के अनुसार ग्रामों को प्रशासन का अभिन्न अंग बताने के पक्षधर थे । उन्होंने कहो कि दो, तीन, पाँच और सौ ग्रामों के बीच में एक राज्य स्थान हो जिसमें यथायोग्य राज्य कर्मचारी राज्य के कार्यों को पूर्ण करें। प्रत्येक ग्राम में एक प्रधान पुरुष नियुक्त किया जाये, दस ग्रामों के उपर दूसरा प्रधान पुरुष, बीस ग्रामों के उपर तीसरा, सौ ग्रामों के उपर चौथा और सहस्त्र ग्रामों के उपर पाँचवां पुरुष हो । शांति का कर्तव्य है कि वह अपने तथा दसरे ग्रामों के गुप्त रूप से दस ग्रामपति इस प्रकार बीस ग्रामों का अधिकार क्षेत्र की वर्तमान स्थिति से निरन्तर अवगत कराता रहे। सहस्त्र ग्रामों के स्वामी दस एक लाख ग्रामों की सर्वोत्तर राज्यसभा को प्रतिदिन तत्कालीन स्थिति की सूचना देते रहें । राज्यसभा का दायित्व है कि वह महाराजसभा अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती महाराजसभा को राज्य की स्थिति से पूरी तरह अवगत रखे। प्रत्येक दस सहस्त्र ग्रामों के उपर दो सभापति हों, जिनमें से एक राज्य सभा की अध्यक्षता को और दूसरा आलस्य त्यागकर न्यायाधीश आदि सब राजपुरुषों के कामों का घूम–घूम कर निरीक्षण – निर्देशन करे ।

5. अहिंसा की अवधरणा – यद्यपि दयानन्द सरस्वती संन्यासी और धर्मिक व्यक्ति थे, उन्होंने निरपेक्ष रूप से अहिंसा के पालन का समर्थन नहीं किया । अहिंसा के सम्बन्ध में उनका परन्तु दृष्टिकोण पूरी तरह व्यावहारिक का, वे अनावश्यक हिंसा में विश्वास नहीं रखते थे, परन्तु उनकी मान्यता थी कि राज्य में शान्ति और व्यवस्था की दृष्टि से कुछ–न–कुछ हिंसा अनिवार्य हो जाती है और अपराधी को अवश्य ही दण्ड दिया जाना चाहिए। उन्होंन उचित हिंसा के सिद्धान्त का समर्थन– किया, परन्तु साथ ही एक उच्चकोटि के संन्यासी होने के कारण उन्होंने अपने निजी जीवन में अहिंसा का अनुगमन किया और अनेक बार ऐसे अपराधियों को क्षमा कर दिया, जिन्होंने उन्हें हानि पहुँचाने का प्रयास किया था, उन्होंने उस व्यक्ति को क्षमादान करके उच्चतम क्षमाशीलता का परिचय दिया, जिसने उन्हें घातक विष पिला दिया था ।

6. दण्ड सम्बन्धी विचार – स्वामी दयानन्द के दण्ड सम्बन्ध विचार मनुस्मृति पर आधारित हैं। मनुस्मृति की भाँति उन्होंने कहा कि दण्ड ही राजा और शासनकर्ता है और दण्ड के कारण ही चारों वर्ण और चारों आश्रम बने रहते हैं। दण्ड ही न्याय व्यवस्था बनी रहती है । यदि राजा अपने कर्तव्यों से विमुख हो जाये तो वह भी दण्ड का भागी होता है। अपराध ी राजा को साधारण अपराध से अधिक दण्ड की व्यवस्था है आर जिस अपराध का साध ारण व्यक्ति को कोई दण्ड मिले तो उसी अपराध के लिए राजा को हजार गुना दण्ड मिलना चाहिए।

7. आध्यामिक अराजकतावादी – स्वामी दयानन्द ने देशभक्ति पर बल दिया और स्वीकार किया कि राज्य आवश्यक संस्था है, जिसके कानूनों का पालन किया जाना चाहिए, परन्तु अपने निजी जीवन में में आध्यात्मिक अराजकतावादी थे और ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी

की अधीनता स्वीकार नहीं करते थे। वे राज्य की बाध्यकारी शक्ति को अनिवार्य मानते थे, परन्तु संन्यासी होने के नाते अपने उपर ईश्वर की सत्ता को ही स्वीकार करते थो। ईश्वर ही उनका प्रभु तथा नियत्ना था। वी. पी. शर्मा का कथान है कि ईश्वरीय नियम की श्रेष्ठता में उनके विचार थे, श्मध्ययुगीन यूरोप के प्राकृतिक विधि सम्प्रदाय की उस धारणा से दूर का साम्य था। जिसके अनुसार प्राकृतिक विधि को राज्यारूढ़ राजा की सत्ता से उँचा माना जाता था। यदि ईश्वरीय विधि और राजनीतिक सत्ताधारी की विधि 1 का अनुगमन करेंगे, क्योकि वे ईश्वर सार्वभौम प्रभुत्व को स्वीकार करते थे और उसके प्रति भक्ति को स्पष्टता सर्वोतम मानते थे। उनके शब्द हैं— और यह समझें कि वयं प्रजापते प्रजा अहम्, हम प्रजाति अर्थात परमेश्वर की प्रजा और परमात्मा हमारा राजा हम किंकर भत्यवत् हैं। वह कृपा करके अपनी अपनी सृष्टि में हमको राज्याधि कारी करें और हमारे हाथ से अपने सैन्य, करें और हमारे हाथ से अपने सत्य न्याय की प्रवृत कराये।

8. वैदिक सार्वभौमवाद की अवधारणा— स्वामी दयानन्द के विचारो कमें मानवतावादी सार्वभौमवाद के दर्शन होते हैंवे भारत में वैदिक संस्कृति तथा जीवन—पद्धति के पुनरुद्धार के समर्थक अवश्य थे, परन्तु उनकी दृष्टि बड़ी व्यापक थी, जो सम्पूर्ण जगत् को अपने में समाहित करती थी। उनका कहना था कि उन्होंने आर्यावर्त में जन्म लिया है और वहीं निवास करते हैं, परन्तु वे उसकी भौगोलिक सीमाओं में नहीं बँधे हैं। उनका लक्ष्य मानव मात्र की मूक्ति था। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है— समाज का प्राथमिक उददेश्य मनुष्य जाति की शारीरिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक दशा को सुधारकर समस्त विश्व का कल्याण करना है। में उस धर्म को स्वीकार करता हूँ जो सार्वभौम सिद्धान्तों पर आध ाारित है और जिसका वह आगे के युगों में भी पालन करती रहेगी। इसी को मैं धर्म कहता हूँ—सनातन विश्व—धर्म जिसका विरोधी कोई भी न हो सके। मैं उसी को मानने योग्य मानता हूँ, जो सब मनुष्यों के द्वारा और सब युगों में विश्वास करने योग्य हो ।

स्वामी दयानन्द की तीव्र इच्छा थी कि संसार भर में शुद्ध वैदिक धर्म की स्थापना हो । वे विश्व बन्धुत्व के महान समर्थक थे, परन्तु उन्होंने संसार के समस्त राष्ट्रों के राजनीतिक

विश्व संघ

जैसी कल्पना नहीं की थी। उनकी दृष्टि तो मानव मात्र के कल्याण पर केन्द्रित थी, जिसमें राष्ट्रों की भौतिक सीमाओं के लिए कोई स्थान नहीं था।

स्वामी दयानन्द का आध्यात्मिक राष्ट्रवाद तथा स्वतन्त्रता राष्ट्रवाद के सन्देशवाहक थे। भारत को विदेशी दासता की बेड़ियों से बँधा देखकर उन्हें अपार दुःख होता था और वे ईश्वर से प्रार्थना करते थे कि उनका प्रिय आर्यावर्त स्वाधीन होकर सम्पन्न और समृद्ध बने। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है कि विदेशी शासन जनता को पूर्ण रूप से कभी सुखी नहीं बना सकता, चाहे वह धार्मिक दुर्भाव से मुक्त हो, देशवासियों तथा विदेशियों के साथ पक्षपातरहित श्हो और दयालु, कल्याणकारी तथा न्यायशील हो ।

स्वामी दयानन्द की मान्यता थी कि भारत का कल्याण तभी सम्भाव है, जब देश में प्राचीन भारतीय संस्कृति पर ईसाई संस्कृति का प्रभाव बढ़ता जा रहा था।

स्वामी दयानन्द की मान्यता थी कि भारत का कल्याण तभी सम्भव है, जब देश में प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति स्वाभिमान जाग्रत हो । उनका सन्देश था कि वैदिक धर्म ही सार्वदेशिक है तथा सत्य पर आधारित है। आर्य लोग ही ईश्वर के सर्वाधिक प्रिय लोग हैं, वेद ही उनकी वाणी है और भारत ही ईश्वर का सर्वाधिक प्रिय देश है।

स्वामी दयानन्द ने प्रत्येक दृष्टि से भारतीय राष्ट्रवाद का सबल बनाने का प्रयास किया। उनका राष्ट्रवाद आध्यात्मिक राष्ट्रवाद है, जो आधुनिक राष्ट्रवाद से कई दृष्टियों से भिन्न है। आ पुनिक राष्ट्रवाद का लक्ष्य भौतिक सुखवाद है, जो अपने देश के निवासियों की भौतिक समृद्धि और सुख की कामना करता है तथा उसके लिए प्रयासरत रहता है। उसके लिए लक्ष्य प्रमुख है, साधन नहीं । परन्तु आध्यात्मिक राष्ट्रवाद सम्पूर्ण राष्ट्र की भौतिक,

नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति का पोषक है। इसके लिए उचित व्यवस्था भी होना आवश्यक है। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के एक मन्त्र का भाष्य करते हुए उन्होंने तीन सभाओं का उल्लेख किया है– राजार्य सभा जो विशेषतया राकार्य को विद्यार्य सभा जो विद्या और ज्ञान का प्रचार–प्रसार करे तथा धर्मार्थ सभा जो धर्मोन्नति के लिए कार्य करे। ये सभी समाएँएक साथ मिलकर जनता में उत्तम व्यवहारों का प्रचार करें। वी. पी. वर्मा का कथन है कि, दयानन्दोक्त धर्मार्थ सभा और प्लेटो तथा जर्मन दार्शनिक फिक्टे द्वारा प्रदर्शित दार्शनिक शासक की कल्पना में आंशिक समानता अवश्य है । इन विचारों के कारण स्पष्ट है कि दयानन्द द्वारा समर्थित आध्यात्मिक राष्ट्रवाद सांसारिक अभ्युदय के साथ परमार्थ और निःश्रेयस का भी अनुमोदन करता है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार करने के कारण यह किसी भी प्रकार के अनैतिक साधनों का प्रयोग निहित नहीं मान सकता।

आध्यात्मिक राष्ट्रवाद आधुनिक राष्ट्रवाद से इस दृष्टि से भी भिन्न है कि आधुनिक राष्ट्रवाद ने प्रत्यक्ष रूप से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का समर्थन किया है।यह यूरोपियन लोगों तथा सभ्यता को श्रेष्ठतम् मानकर चलता है, परन्तु दयानन्द का आध्यात्मिक राष्ट्रवादमानव मात्र की समानता पर आधारित है। वी.पी.वर्मा का कथन है कि, शनिस्सन्देह भारतीय इतिहास में वह कान्तिकारी और आलोकमय दिवस था, जब काशी और हरिद्वार जैसे रूढ़िवाद के केन्द्र में दयानन्द ने बुलन्द आवाज में घोषणा की कि जन्म या जाति से कोई महान और नीच नहीं होता, अपितु गुण, कर्म और स्वभाव से मनुष्य श्रेष्ठता या अधमता प्राप्त करता है। भयंकर ब्राहमणवाद के गढ़ में यह घोषणा करना कि वेदों को पढ़ने का अधिकार मानव मात्र को है और अछूत प्रथा को अवैदिक करार करना भारतीय इतिहास में यदि सामाजिक स्वतन्त्रता का प्रथम घोषणा – पत्र कहा जाये तो इसमें जरा भी अत्युक्ति नहीं होगी।श स्पष्ट है कि सामाजिक दृष्टि से भारतीय राष्ट्र को मजबूत करने का यह महान् प्रयास था।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि दयानन्द का राष्ट्रवाद संकुचित तथा संकीर्ण था। वे मानव मात्र की मुक्ति की कामना करते थे। उनकी मान्यता थी कि सब मनुष्य एक ही ईश्वर की प्रजा है। इस प्रकार दयानन्द का आध्यात्मिक राष्ट्रवाद मानव समानता और मातृभाव पर आधारित है। इसका लक्ष्य है–मानव मात्र की एकात्मकता । आधुनिक राष्ट्रवाद का आधार जड़वाद है, यह भावनावाद की नींव पर टिका है, परन्तु दयानन्द ने जिस आध्यात्मिक राष्ट्रवाद का चिन्तन किया? वह जड़वाद के स्थान पर आत्मवाद को, मानव असमानता के स्थान पर मानव समानता को और अविवेकवाद के स्थान पर बुद्धिवाद तथा भावनावाद के समन्वय को प्रमुख मानकर चलता है। वी. पी. वर्मा का कथान है कि, जिस प्रकार रूसो के आदर्शवाद से फांसीसी राज्य कान्ति को प्रेरणा मिली थी और मार्क्स की शिक्षाओं से रूसी कान्ति को बल मिला है, उसी प्रकार दयानन्द तिलक औरी गाँधी के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद से हमारा वर्तमान भारत उन्नव और स्वतन्त्र हुआ है।

स्वामी दयानन्द का आध्यात्मिक राष्ट्रवाद आत्मा की चेतनता की अनिवार्यता को दृष्टि में रखकर चलता है । यदि आत्मा में चौतन्य न हो तो मानव शरीर मृतवत (मरे हुए के समान) है, इसी प्रकार यदि राष्ट्र के नागरिकों में आत्मिक चेतनता न हो तो राष्ट्र का पतन अवश्यम्भावी है। इसलिए राष्ट्रवादजीवित रहे। इसके लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रजनों में आत्मिक चेतनता हो। दयानन्द ने राष्ट्रवादमें इसी आत्मिक चेतनता का सन्देश दिया। वे स्वयं महान आत्मबल से ओतप्रोत थे, अभय के जीवित मूर्तरूपश थे ऐसा व्यक्ति ही पराध ीन जाति को स्वतन्त्रता और राष्ट्रवाद का मंच दे सकता है। स्वामी दयानन्द ने भारतीय लोगों में स्वाभिमान जाग्रत किया, उसकी मानसिक चेतना को झकझोर दिया, उनमें अपने गौरवशाली अतीत के प्रति समान भावना जाग्रत की. इससे भारतीय राष्ट्रवाद परिपुष्ट हुआ। भारतीय राष्ट्रवाद को व्यावहारिक रूप देने के लिए उन्होंने समस्त राष्ट्र के लिए एक सम्पर्क भाषा की आवश्यकता को अनुभव कर लिया. उन्होंने भारत की प्रादेशिक भाषाओं के लिए

समान विधि की कल्पना करके अपनी दूरर्शिता का परिचय दिया था। उनकी स्पष्ट घोषणा थी कि जिस देश में एक भाषा, एक धर्म एक वेशभूषा को महत्व प्रदान नहीं किया जायेगा, उसकी एकता संदिग्ध बनी रहेगी । रुराष्ट्रवाद को प्रोत्साहन देने के लिए उन्होंने स्वदेशी का समर्थन किया और कहा कि स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करना प्रत्येक का धर्म है। उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज मात्र धार्मिक आन्दोलन न होकर सामाजिक तथा राष्ट्रीय पुर्नजागरण का आन्दोलन था। आर्य समाज में स्वदेशी प्रचार, विदेशी वस्तु ओं बहिष्कार, गुरुकुल शिक्ष प्रणाली, स्त्री शिक्षा प्रोत्साहन, अनेक समाज सुधार कार्यग्रम, दलितोद्धार, अस्पृश्यता निवारण, जाति प्रथा निषेध ऐसे कार्यक्रम अपनाए, जो भारतीय राष्ट्रवाद को पुष्ट करने की दिशा में अग्रणी कदम थे। स्वामीजी के विचार तथा उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज को गाँध युग की पूर्ण पीठिका कहा जा सकता है। कांग्रेस ने बाद में गाँधी जी के नेतृत्व में जिन अनेक कार्यक्रमों को अपनाया, आर्य समाज ने बहुत पहले उन पर बल दिया तथा उन्हें कियान्वित करने के लिए सक्रिय प्रयास किये। स्वामीजी ने मृत्य से लगभग 10 वर्ष पूर्व सच्चे स्वराज्य का स्वरूप प्रस्तुत कर दिया था, उन्होंने लिखा है— दुर्दिन जब आता है, तव देशवासियों को अनेक प्रकार का दुःख भोगना पड़ता है। कोई . कितना ही करे, स्वदेशी राय होता है, वह सर्वोपरि होता है। उदार राष्ट्रवादी ब्रिटिश शासन को भारत के लिए वरदान मानते थे, परन्तु सवामीजी ने सुराज और स्वराज्य के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा कि विदेशी राज्य कितना ही अच्छा है, वह स्वराज्य का विकल्प नहीं हो सकता।

10. दयानन्द का आर्यावर्तीय स्वराज्य —— स्वामी दयानन्द वैदिक स्वराज्य के परम प्रशंसक थे, तत्कालीन परिस्थिति में वे स्पष्ट रूप से ब्रिटिश शासन का विदोध न कर सके.

परन्तु उन्होंने स्वराज्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, वह अवश्य ही महत्वपूर्ण है। उनके विचार वेदोंकी स्वराज्य की अवधारणा पर आधारित थे। वेदों में स्वराज्य को शान्ति, समृद्धि, स्वतन्त्रता पर प्रचुरता का साम्राज्य कहा गया है, जिसे पारस्परिक सहयोग तथा एकता की भावना के द्वारा ही प्राप्त करना सम्भव है। इस अवधारणा पर बल देकर उन्होंने भारत की भावी स्वतन्त्रता के लिए नींव तैयार की कऔर देश की जनता के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत किया। अपनी मान्यताओं को उन्होंने अपने जीवन में साक्षात् स्वरूप प्रदान करके भारतीय समाज को आत्मचेतना तथा अपने सच्चे चरित्र को पहचानने की शक्ति प्रदान की। उनके वैदिक ज्ञान की सर्वोच्चता के विचार ने देश को एक नई दृष्टि प्रदान की। उनके वैदिक ज्ञान की सर्वोच्चता के विचार ने देश को एक नई द ष्टि प्रदान की और परोक्ष रूप से उन्होंने स्वतन्त्र राजनीतिक जीवन के भवन की नींव रखी। उनके व्यक्तित्व तथा शिक्षाओं से हिन्दू एकता के आन्दोलन को बल मिला। उन्होंने वेद तथा धर्मशास्त्र को अपना आधार बनाया। यह सत्य है कि अनेक मुसलमानों तथा ईसाइयों ने दयानन्द को शत्रुता की भावना से देखा, परन्तु यह मानना होगा कि भारतीय राष्ट्रवाद का एक प्रमुख तत्व हिन्दू राष्ट्रवाद ही रहा है। भारतीय स्वराज्य को वैदिक स्वराज्य के अनुरूप ढालने पर बल दिया और वे वैदिक आदर्श को पुनर्जीवित करने के पक्षधर थे। उनके अनुसार वैदिक आदर्श का तत्व निम्नलिखित पत्र में निहित है।

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव । यद् भद्रं तत्र आसुव – अर्थात हमारे वैयक्तिक राष्ट्रीय और सांसारिक जीवन के समस्त दुःख और दुष्ट अवगुण दूर हो जायें और कल्याण प्रदाता सर्वदुःखरहित, सत्य विद्या प्राप्ति—मूलक अभ्युदय और निःश्रेयस की समन्वित सिद्धि देने वाला भद्र हमें प्राप्त हो ।

इकाई – 6 **स्वामी दयानंद सरस्वती के सामाजिक विचार**

सामाजिक दर्पण

स्वामी दयानन्द केवल एक धार्मिक नेता ही नहीं थें, उनका सामाजिक दर्श तथा समाज सुधार के उनके प्रयास भारतीय इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं। वे बहुमुखी प्रतिभा के ध नी थे और वे भारतीय समाज को भौतिक तथा नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति से परिपुष्ट देखना चाहते थे। मात्र भौतिक बल या कोरी शक्तिपूजा भयंकर रूप से

अनिष्टकारी हो सकती है। वी. पी. वर्मा का कथन है कि, श्इतिहास इस बात का साक्षी है कि कोरी शक्तिपूजा करने के भयंकर दुष्परिणाम होते हैं । बौद्धों का जगन्मिथ्यावादी, वेदान्तियों का काल्पनिक तत्व ज्ञान, मुस्लिम आक्रमणकारियों से देश की स्वतन्त्रता की रक्षा न कर सका। दयानन्द ने आत्मा के प्रदीपन तथा सामाजिक दृढ़ता दानों को आवश्यक बतलाया। वे समकालीन भारत की जर्जरित हो रही सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था के स्थान पर वैदिक संस्कृति की शक्तिशाली तथा शुद्ध भावना को पुनर्जीवित करना चाहते थे।श स्वामी दयानन्द सामाजिक जागृति तथा समाज–सुधार को राष्ट्रीय चेतना के विकास के लिए अनिवार्य मानते थे ।

1. वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन स्वामी दयानन्द वैदिक वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक थे। वे समाज तथा राज्य में स्पष्ट अन्तर नहीं करते हैं और सामाजिक व्यवस्था को शासन व्यवस्था का एक अभिन्न अंग मानते हैं। उनके अनुसार दोनों का अन्यान्योश्रित सम्बन्ध है। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह देखे कि समाज के चारों वर्ण अपने–अपने उत्तरदायित्वों का ठीक प्रकार से वहन करें।

2. जाति प्रथा का विरोध – वेदों पर आधारित वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन करते हुए भी दयानन्द ने हिन्दू समाज में प्रचलित जाति व्यवस्था तथा छुआछूत की कठोर आलोचना तथा विरोध किया। उनकी मान्यता थी कि वर्ण निर्धारण की कसौटी किसी विशेष वर्ण में जन्म होना नहीं, अपितु किसी विशिष्ट कार्य में दक्षता तथा उसे करने की मानसिक क्षमता है। इस प्रकार इन्होंने गुण कर्म के आधार पर वर्ण विभाजन स्वीकार किया। यह बड़ा कान्तिकारी विचार था । वी. पी. वर्मा का कथन है कि. श्वर्ण निर्धारण की उनकी कसौटी सचमुच लोकतान्त्रिक थी और उनका दृष्टिकोण अनेक सामाजिक तथा व्यावसायिक संघषों का समाधान कर सकता है।श इस प्रकार भारत के सामाजिक जीवन में दयानन्द का लोकतान्त्रिक आदर्शवाद जन्म के स्थान पर योग्यता को महत्व देने में व्यक्त हुआ ।

3. व्यक्ति तथा समाज में विरोध नहीं – स्वामी दयानन्द के अनुसार, व्यक्ति तथा समाज में विरोध नहीं है, वे एक–दूसरे के पूरक हैं। मनुष्य अपने विकास के लिए उचित साधनों का चयन करने में स्वतन्त्र है, परन्तु उसे ऐसे साधनों का चयन और प्रयोग नहीं करना चाहिए, जो समाज के लिए हानिकारक हो । आर्य समाज के नवें और दसवें नियम में कहा गया है कि, श्प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट नहीं रहना चाहिए, अपितु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए तथा प्रत्येक को अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता और विकास को ध्यान में रखना चाहिए जिससे अन्त में वह सार्वजनिक हित के परिवर्धन के लिए अपने को अनुशासित और विकसित कर सके ।

4. दलितों के मसीहा – स्वामी दयानन्द ने दलित जातियों के उत्थान के लिए तथा छुआछूत के विरुद्ध अथक् प्रयास किये। उन्होंने यह कान्तिकारी विचार प्रस्तुत करके कि शूद्र को भी उसी प्रकार वेदान प्राप्त करने का अधिकार है, जिस प्रकार अन्य वर्ण के व्यक्ति को, पुरातनपंथियों पर करारा प्रहार किया। शूद्र कहे जाने वाले लोगों को वैदिक संस्कारों से युक्त करने तथा हिन्दू समाज में उन्हें सम्मान योग्य स्थान दिलाने के लिए स्वामी जी की सेवाएँ अनन्त काल तक स्मरणीय रहेंगी।

5. मूर्ति–पूजा तथा अन्धविश्वासों पर प्रहार– बाल्यकाल में शिवमूर्ति पर चूहे की उछलकूद को देखकर उनके मन में मूर्तियों के प्रति विरक्त भाव पैदा हो गये थे। मूर्तिपूजा का विरोध उनके धार्मिक चिनतन का एक अनिवार्य अंग बन गया। स्वामीजी ने घोषणा की कि मूर्ति–पूजा और वेद धर्म के विरुद्ध है। उन्होंने मूर्ति–पूजा के समर्थकों को कई बार शास्त्रार्थ में बुरी तरह पराजित किया। वे कर्म स्थानों को अनाचार का अडड़ा और पुजारियों को स्वार्थ भावना का प्रतीक मानते थे ।

6. नारी गरिमा के संस्थापक– स्वामीजी ने हिन्दू समाज में नारी के महत्व को स्थापित किया और इस बात पर निरन्तर बल दिया कि नारी पुरुष के समान है, पत्नी पति की दासी

न होकर अर्धांगिनी है। उन्होंने महिलाओं के वेदों के अध्ययन के अधिकार का प्रतिपादन किया और स्त्रियों पर लगे अनेक सामाजिक बन्धनों का घोर विरोध किया । वास्तव में स्वामीजी ने स्त्रियों के गौरव को पुनःस्थापित किया और मनुस्मति द्वारा अभिव्यक्त इस विचार को मान्यता प्रदान की कि जिस घर में नारियों की पूजा होती है, वह देवस्थान के समान पवित्र होता है, वहाँ देवता वास करते हैं ।

7. बाल—विवाह विरोधी स्वामीजी ने हिन्दू समाज में प्रचलित बाल—विवाह का जीववैज्ञानिक तर्क के आधार पर विरोध किया। उन्होंने कहा कि 16 वर्ष से कम आयु वाली स्त्री तथा 26 वर्ष से कम अवस्था वाला पुरुष — गर्भाधान के अयोग्य होता है और इस नियम का पालन न करने वाला दुःख प्राप्त करता है।

8. विवाह के सम्बन्ध में स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय का समर्थन — स्वामीजी ने इस बात पर बल दिया कि वर और कन्या को अपना जीवनसाथी चुनने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यदि अभिभावक विवाह सम्बन्ध निश्चित करें तो वर कन्या से परामर्श करना चाहिए।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने हिन्दू समाज में प्रचलित प्रत्येक बुराई का खुलकर विरोध कियां उन्होंने कहा कि विधवा विवाह उचित है, अस्पृश्यता अपराध है, समुद्र यात्रा, खान—पान और अन्तर्जातीय विवाह वर्जित नहीं है।

9. शिक्षा सम्बन्धी विचार — स्वामी दयानन्द के शिक्षा सम्बन्धी विचार बड़े महत्वपूर्ण हैं द्य शिक्षा मानव विकास के लिए अति आवश्यक है। संसार में सब दानों में विद्यादान सर्वश्रेष्ठ दान माना है। उनके शिक्षा सम्बन्धी विचार वैदिक परम्परा पर आधारित हैं। वे गुरुकुल प्रणाली के आधार पर शिक्षा व्यवस्था का पुनर्गठन करना चाहते थे, जिसके अन्तर्गत यह विधान है कि विद्यार्थियों को शिक्षाकाल में नगर या ग्रामों से कम—से—कम पाँच मील दूर आवासीय शिक्षा संस्थानों में शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। विद्यार्थी अपनी शिक्षा पूरी होने तक वहाँ रहे । शिक्षा संस्थाओं में विद्यार्थियों के बीच किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाये, सबको समान सुविधाएँ मिलें। पुरुष 22 वर्ष की अवस्था तक शिक्षा प्राप्त करे और शिक्षा काल में ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हुए सात्विक वृत्तियों का विकास करे। योग्य विद्यार्थियों का निर्माण करने के लिए विद्वान, सच्चरित्र, योग्य और परिश्रमी शिक्षकों का होना अनिवार्य है । दयानन्द ने शिक्षकों के लिए उच्च मानदण्ड स्थापित किए। आज देश के अनेक शिक्षण संस्थाएँ स्वामी दयानन्द के सच्चे स्मारक है।

स्वामी दयानन्द प्रतिदिन आर्य ग्रन्थों के स्वाध्याय पर विशेष बल देते थे। पे बुद्धि तथा विवेक के द्वारा शास्त्रों का परीक्षण करते थे। वी. पी. वर्मा का कथन है कि, प्रायः एक हजार वर्षों से भारतीय बौद्धिक इतिहास में तर्कपूर्ण ज्ञान का स्थान परम्परावाद ने ले लिया था। लोग शास्त्र पढ़ते तो थे, किन्तु पठित विषयों पर आलाचनात्मक बुद्धि से निर्णय नहीं करते थे । शास्त्री अध्ययनं परम्परा में आलोचनात्मक तर्कणात्मक बुद्धि का प्रवेश करना भी दयानन्द का महान राष्ट्रीय कार्य है।

मूल ग्रन्थों के भाष्य और टीका मात्र पढ़ने से सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं होता और हमारी बुद्धि की मौलिकता समाप्त हो जाती है। स्वामीजी ने मूल ग्रन्थों के समीक्षात्मक अध्ययन पर बल दिया और इस प्रकार सच्ची शिक्षा का मार्ग दिखाकर राष्ट्रीय महत्व का महान कार्य किया। प्लेटो तथा अरस्तू की तरह दयानन्द का भी विचार था कि सत्कर्म में प्रेरित करने वाले साहित्य का अध्ययन ही बालकों को कराना चाहिए। स्वामीजी ने कुछ ग्रन्थों को प्रामाण्य तथा अध् ययन योग्य तथा कुछ को अप्रामाण्य तथा अध्ययन के अयोग्य माना। वी. पी. वर्मा का कथन है कि, श्स्वामी दयानन्द ने जो ग्रन्थों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य होने का विवेचन किया है, उससे भी अंशतरू उनकी राष्ट्र प्रतिपादनी दृष्ट्रि का हमें दर्शन होता है। देश और काल की आवश्यकता के अनुसार, विस्तार की बातों में आंशिक परिवर्तन और संशोधन की आवश्यकता को विहित मानते हुए ही ऋषि दयानन्द और प्लेटो का यह सिद्धान्त स्वीकरणीय है कि शिक्षा के क्षेत्र में उन्हीं ग्रन्थों को स्थान मिलना चाहिए, जिनसे तेजस्विता,

वीरता, स्वकर्मानुरक्ति, राष्ट्रसेवा, परमार्थवृत्ति आदि बातों का मण्डन होता है। राष्ट्रीय जीवन की आधारभूत शिक्षा पर अतिशय ध्यान देना और शील तथा स्वकर्मदक्षता का अनुसंधान करना सामूहिक उननति के लिए परमावश्यक है।

स्वामी दयानन्द ने शरीर योग के साथ–साथ मनोयोग और विज्ञान योग की शिक्षा पर भी बल दिया। इसके साथ वे आत्मयोग के भी आराधक थे। उनकी मान्यता पर भी बल दिया। उनकी मान्यता थी कि केवल भौतिक जगत् और जड़ प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करना अपर्याप्त है। मानव को आत्मबोध होना अनिवार्य है। मनुष्य को पदार्थों से अधिक मूल्यवान और उनसे विभिन्न आत्म–तत्व का ज्ञान प्राप्त करना भी अनिवार्य है। आत्मिक उन्नति से मानव का जीवनपथ आलोकित होता है और विकट परिस्थितियों में भी वह कर्तव्यपरायण बना रहता है।

धर्म सम्बन्धी विचार

स्वामी दयानन्द सरस्वती मूलतः एक धर्मपुरुष थे। उनका मुख्य कार्य धर्म का प्रचार करना था। उन्होंने आर्यों के धर्म को प्राचीन धार्मिक धरोहर माना। उनके लिए वेद इस धरोहर के मूर्तिमान स्वरूप थे। उन्होंने विशुद्ध वेदान्त का प्रचार किया। उनके धार्मिक विचारों को निम्नांकित रूपों में देखा जा सकता है–

1. एकेश्वरवाद में विश्वास – दयानन्द सरस्वती एकेश्वरवादी थे। उनका विचार था कि जिस प्रकार परमात्मा के अनेक गुण, कर्म, और स्वभाव हैं, वैसे ही उनके अनन्त नाम भी हैं। लेकिन इन अनन्त धर्मों के होते हुए भी तत्व रूप में ईश्वर एक ही है। वे ओम शब्द को परमेश्वर का सर्वोत्तम रूप मानते थे। वे ईश्वर की सर्वव्यापकता एवं अनन्य सत्ता में पूर्ण आस्था रखते थे ।

2. मूर्तिपूजा के विरोधी – दयानन्द सरस्वती बाल्यकाल से ही मूर्तिपूजा के विरोधी थे । उनका मत था कि मूर्तिपूजा न तो वेद सम्मत है और न ही कोई धार्मिक कार्य । मूर्ति में ईश्वर के अस्तित्व को मानना तो मात्र एक अन्धविश्वास है। उन्होंने मूर्तिपूजा के समर्थकों को शास्त्रार्थ में पराजित किया ।

3. इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रति दृष्टिकोण – दयानन्द जी ने उन परिस्थितियों में जबकि इस्लाम तथा ईसाई धर्म, हिन्दू धर्म तथा वैदिक संस्कृति की रक्षात्मक उददेश्य से ईसाई तथा इस्लाम धर्म पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। जब दयानन्द जी ने इस्लाम तथा ईसाई धर्म पर आक्रमण करना आरम्भ कर दिया। जब दयानन्द जी ने इस्लाम तथा ईसाई धर्म का उन्हीं की मान्यताओं के आधार पर खण्डन करना आरम्भ कर दिया तो मौलवियों और पादरियों से उनका संघर्ष प्रारम्भ हो गया। किन्तु उनका इन धमों के प्रति न तो कोई द्वेषभाव था और न ही उनक विचार संकुचित दृष्टिकोण से प्रेरित थे। उन्होंने तो केवल धार्मिक संकीर्णताओं से ऊपर उठकर वैदिक धर्म की व्याख्या प्रस्तुत की तथा अन्य धर्मों के अनुयायियों को उनके धार्मिक मत की निर्बलताएं बतायी थीं।

4. शुद्धि आन्दोलन स्वामी दयानन्द ने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए शुद्धि आन्दोलन चलाया। उन्होंने घोषणा की कि जिन हिन्दुओं ने हिन्दू धर्म का त्याग करके अन्य धर्मों को ग्रहण कर लिया है, यदि वे पुनः हिन्दू धर्म स्वीकार करता चाहें तो ऐसा कर सकते हैं। साथ ही अहिन्दू भी यदि चाहें तो हिन्दू धर्म में प्रवेश कर सकते हैं। दयानन्द के इस विचार और कार्य पर टिप्पणी करते साहित्यकार दिनकर कहते हैं, कि यह केवल सुधार की वाणी नहीं थी, जाग्रत हिन्दुत्व का समरनाद हुए था। इसके लिए ही उन्होंने आर्य समाज की स्थापना की थी। इस शुद्धि आन्दोलन के फलस्वरूप बहुत से ऐसे लोग जिन्होंने इस्लाम या ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था, पुनः अपने हिन्दू धर्म में लौट आए थे ।

5. स्त्री – पुरूष समानता – स्वामीजी धार्मिक क्षेत्र में भी स्त्री–पुरुष समानता के पक्षधर थे। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की कि स्त्री और शूद्र को भी वेद के पठन–पाठन का उतना ही अधिकार है, जितना पुरोहित वर्ग के किसी व्यक्ति को हो सकता है।

6. दयानन्दजी गौरक्षा तथा गौवध – निषेध के पक्षधर थे ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि दयानन्द जी ने भारतीय धार्मिक जीवन को उन्नति प्रदान की। इनकी तुलना ईसाई धर्म के मार्टिन लूथर से की जाती है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के शिक्षा सम्बन्धी विचार

स्वामी दयानन्द सरस्वती का विचार था कि कोई भी देश शिक्षा के अभाव में समुचित विकास नहीं कर सकता। वे मनु के इस कथन का समर्थन करते हैं कि राज्य तथा समाज दोनों के द्वारा सभी लोगों के लिए यह अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए कि वे अपने बच्चों को पाँच अथवा आठ वर्ष के पश्चात् शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यालय भेजें। यदि कोई व्यक्ति इस आयु के बाद अपने बच्चे को विद्यालय नहीं भेजता है तो उसे दण्ड दिया जाना चाहिए। दयानन्दजी के शिक्षा सम्बन्धी विचारों को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है

1. अनिवार्य शिक्षा – स्वामी दयानन्द सरस्वती का मत था कि सभी बालक–बालिकाओं के लिए शिक्षा अनिवार्य होनी चाहिए। जो लोग अपने बच्चों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यालय नहीं भेजते हैं, उनको राज्य द्वारा दण्डित किया जाना चाहिए। उनका विचार था कि बच्चे को प्रारम्भिक शिक्षा माता–पिता से ही प्राप्त होती है। माता–पिता के उपदेश से सन्तान को जितना लाभ होता है, उतना और किसी से नहीं हो सकता। इस प्रसंग में माता की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है ।

2. नारी शिक्षा पर बल– दयानन्दजी ने नारी शिक्षा पर विशेष बल दिया। उनका विचार था कि शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार नारी को भी प्रापित होना चाहिए। उन्होंने अपने ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाशश में लिखा कि, श्जो तुम स्त्रियों के वेद पढ़ने का निषेध करते हो, तो वह तुम्हारी मूर्खता, स्वार्थता तथा निर्बुद्धिता का प्रभाव है।श स्वामीजी ने अपने जीवनकाल में ही मेरठ में कन्या पाठशाला तथा फिरोजपुर में बच्चा महाविद्यालय की स्थापना की थी ।.

3. सह–शिक्षा के विरोधी – दयानन्दजी सह–शिक्षा के विरोधी थे। उनका विचार था कि सह–शिक्षा का लड़के–लड़कियों के चरित्र पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः प्रत्येक समाज में बालक तथा बालिकाओं के लिए अलग–अलग शिक्षण संस्थाएं होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उनकी शिक्षा पद्धति, शिक्षा के विषय तथा पाठ्यकम में भी अन्तर होना चाहिए।

4. गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के समर्थक – दयानन्दजी गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के समर्थक थे।

उनका विचार था कि गुरुकुलों की स्थापना की जाये। तरुण ब्रह्मचारीगण गुरुकुल में आचार्यों की निगरानी में शिक्षा प्राप्त करें तथा अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करें। गुरुकुलों में प्रवेश सभी वर्गों और जातियों के बालक–बालिकाओं को समानता के आधार पर प्रवेश मिले तथा धनी व निर्धन के मध्य कोई भी भेदभाव न किया जाये ।

5. हिन्दी भाषा का समर्थन – स्वामी दयानन्द का विचार था कि देश को एकता के सूत्र में पिरोने के लिए पूरे देश में हिन्दी भाषा का प्रचलन किया जाना आवश्यक है। वे हिन्दी को राष्ट्र की सम्पर्क भाषा के रूप में स्वीकार करते थे ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शिक्षा के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों को महत्व दिया है। दयानन्द जी के द्वारा स्थापित आर्य समाज ने सारे देश में गुरुकुलों के साथ–साथ पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली पर आधारित स्कूल तथा कालेजों की भी स्थापना की है।

अभ्यास प्रश्न

1. स्वामी दयानन्द सरस्वती की संक्षिप्त जीवनी लिखें?

2. राष्ट्रवाद के जागरण में स्वामी दयानन्द सरस्वती के क्या विचार हैं तथा भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में उनके क्या योगदान है? समीक्षा करें?

3. स्वामीजी के राजनीतिक विचारों की समीक्षा करें ?
4. स्वामी दयानन्द सरस्वती के सामाजिक दर्शन की विवेचना कीजिये।
5. धर्म के विषय में स्वामीजी के विचार स्पष्ट करें ?

(SWAMI VIVEKANAND)

संक्षिप्त जीवन परिचय – विवेकानन्द का जन्म 12 फरवरी, 1863 को कोलकाता नगर में हुआ था। उनका बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। नवम्बर, 1881 में उनकी भेंट रामकृष्ण परमहंस से हुई, जो उनके जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाली सिद्ध हुई। कुछ समय की मानसिक उथल–पुथल के बाद उन्होंने रामकृष्ण के सामने अपने को पूरी तरह समर्पण कर दिया और उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया, तब वे नरेन्द्र से विवेकानन्द बन गये। 1886 ई. में अपने गुरु के निधन के बाद उन्होंने यह प्रण किया कि वे आजीवन अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस के संदेश का प्रचार करेंगे। उन्होंने गृहस्थ जीवन स्वीकार न कर परिव्राज के रूप में जंगलों में साधना की और सम्पूर्ण देश का भ्रमण करके देश की जनता की शक्ति और निर्बलता को समझा। 1893 ई. में उन्होंने शिकागो धर्म सम्मेलन में जो भाषण दिया, उसने श्रोताओं को अत्यधिक प्रभावित किया। भारत लौटने के कुछ दिन बाद उन्होंने कोलकाता के निकट बैलूर में रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। 1998 ई. में वे पुनः यूरोप गये और अमेरिका के सेन फ्रांसिस्को नगर में शान्ति आश्रम और वेदान्त सोसाइटी की स्थापना की तथा पेरिस में धार्मिक इतिहास परिषद् में भाग लिया। 4 जुलाई, 1902 को उनका निधन हो गया। प्रमुख रचनाएँ – विवेकानन्द के भाषणों एवं प्रवचनों जो आठ जिल्दों में स्वामी विवेकानन्द का सम्पूर्ण साहित्य (Complete Work of Swami Vivekanand) के रूप में प्रकाशन किया गया है । राजनीतिक विचारों की दर्शश्ट से उनकी निम्नलिखित रचनाएँ उल्लेखनीय हैं–

1. इण्डिया एण्ड हर प्रोबलम्स (भारत तथा उसकी समस्याएँ) ।
2. फ्रोम कोलम्बो टू अल्मोड़ा : लेक्चर्स (कोलम्बो से अल्मोड़ा तक भाषण) ।
3. मॉर्डन इण्डिया (आधुनिक भारत) !

विवेकानन्द के चिन्तन के स्त्रोत हैं – वेद तथा वेदान्त तथा उसकी परम्परा, रामकृष्ण परमहंस के विचार तथा अपना वैयक्तिक अनुभव। उन्होंने प्लेटो, अरस्तू, काण्ट, हीगल, ह्राम, शौपेन हावर, मिल, स्पेन्सर आदि परिश्चमी विचारकों की रचनाओं का भी अध्ययन किया था। उनकी रुचि मुख्यतया धर्म और दर्शन में ही थी। वे अद्वैत वेदान्त में विश्वास रखते थे और वेदान्त के आधार पर एक ऐसे दर्शन का विकास करना चाहते थे, जिससे प्रेरणा पाकर एक शक्तिशाली, ओजस्वी तथा आध्यात्मिक उत्साह से परिपूर्ण नवीन भारत का निर्माण हो, जो पुनः विश्व का अंग्रेजी राष्ट्र बनकर विभिन्न क्षेत्रों में उसका मार्गदर्शन करे। डॉ. वी. पी. वर्मा के शब्दों में, "विवेकानन्द वैदिक धर्म से लेकर वैष्णव धर्म एक सम्पूर्ण हिन्दुत्व के प्रतिनिधि थे । वे धर्म को ऐसा नैतिक बल स्वीकार करते थे, जो व्यक्ति और राष्ट्र को शक्ति प्रदान करता है। उनके अनुसार शक्ति जीवन है और दुर्बलता मृत्यु है ।

विवेकानन्द का राष्ट्रवाद

स्वामी विवेकानन्द ने धर्म के आधार पर राष्ट्रवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसीलिए उनके राष्ट्रवाद को धार्मिक राष्ट्रवाद या आध्यात्मिक राष्ट्रवाद कहा जाता है। उनके राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचारों को निम्नांकित रूपों में देखा जा सकता है–

1. राष्ट्रवाद का धार्मिक सिद्धान्त – विवेकानन्द जी का विश्वास था कि प्रत्येक राष्ट्र का जीवन किसी एक प्रमुख तत्व की अभिव्यक्ति है। वे कहते थे कि, जिस प्रकार संगीत में एक प्रमुख स्वर होता है, वैसे ही हर राष्ट्र के जीवन में एक प्रधान तथ्य हुआ करता है, अन्य सब तत्व उसी में निहित होते हैं। भारत का तत्व है–धर्म । इसीलिए विवेकानन्द ने राष्ट्रवाद के एक धार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया ।

2. भारतीय राष्ट्रवाद धर्म पर आधारित है– विवेकानन्द का विचार है कि भारतीय राष्ट्रवाद धर्म पर आधारित है। उन्होंने धर्म को राष्ट्रवाद का आधार बनाया। विवेकानन्द का मत हैं

कि अतीत की महत्ता की नींव पर ही राष्ट्र की भावी महानता का निर्माण किया जा सकता है। इसीलिए भारतीय रा ट्रवाद का निर्माण अतीत की ऐतिहासिक विरासत की सुदश्ढ़ नींव पर ही करना होगा। विवेकानन्द कहते थे कि चूंकि अतीत में भारत की सृजनात्मक प्रतिभा की अभिव्यक्ति प्रमुख रूप से धर्म के क्षेत्र में ही हुई थी तथा धर्म ने भारत में एकता तथा स्थिरता को बनाये रखने में एक सृजनात्मक शक्ति के रूप में कार्य किया था । यहाँ तक कि राजनीतिक सत्ता की पुनःस्थापना में भी धर्म ने अपना योगदान दिया था। अतः राष्ट्रीय जीवन का संगठन धार्मिक उपदेशों के आधार पर किया जाना चाहिए। उनका विचार था कि धर्म ही निरन्तर भारतीय जीवन का आधार रहा है। अतः सभी सुधार धर्म के माध्यम से ही किये जाने चाहिए।

3. भारत एक आराध्य देवी – विवेकानन्द को अपनी मातृभूमि से बहुत प्रेम था । वे बंकिम चन्द्र की तरह भारत को एक आराध्य देवी मानते थे । वे भारत को देवी माता की दृश्यमान विभूति मानते थे । उनका यह विचार बंगाल के राष्ट्रवादियों और क्रान्तिकारियों की प्रेरणा शक्ति की गई।

4. भारत राष्ट्र की महानता में विश्वास–स्वामी विवेकानन्द ने हीगल की तरह राष्ट्र की महत्ता का प्रतिपादन किया है। वे भारत को एक महान राष्ट्र मानते थे। उनके मतानुसार भारत को अपने आध्यात्म से पश्चिम को विजत करना होगा। वे कहते थे कि, ष्एक बार पुनः भारत को विश्व की विजय करनी है। उसे पश्चिम की आध्यात्मिक विजय करनी है।ष

5. देशभक्ति का समर्थन – विवेकानन्द भारतीय रा ट्रवाद के संदेशवाहक थे। वे कहते थे कि, ष्बंकिमचन्द्र को पढ़ो तथा उनके सनातन धर्म और उनकी देशभक्ति को ग्रहण करो।ष वे जन्मभूमि की सेवा को ही अपना सबसे बड़ा कर्त्तव्य मानते थे । वे कहते थे कि प्रत्येक भारतवासी को भारतीय होने पर गर्व होना चाहिए। विवेकानन्द कहते थे कि प्रत्येक भारतीय को अपनी कमर में लंगोटी बाँधकर गर्व के साथ उच्च स्वर में घोशण करनी चाहिए कि, ष्मैं भारतीय हैं और प्रत्येक भारतीय मेरा भाई है। भारतीय मेरा जीवन है, भारतीय देवी–देवता मेरे ईश्वर है, भारतीय समाज मेरा बाल्यकाल का पालना है, मरे योवन का आनन्द उद्यान है, पवित्र स्वर्ग और मेरी वृद्धावस्था वाराणसी है। मेरे बन्धु बोलो भारत की भूमि मेरा परम स्वर्ग है, भारत का कल्याण मेरा कल्याण हैश आदि ।

निष्कर्ष – उपर्युक्त विवेचन से स्पश्ट है कि विवेकानन्द ने स द्रवाद के अधार्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन इसलिए किया, क्योंकि वे समझते थे कि आगे चलकर धर्म ही भारत के राष्ट्रीय जीवन का मेरुदण्ड बनेगा। उन्होंने रा ट्वाद को अपनी ही धरती पर अपने ही पैरों पर खड़े होने की प्रेरणा दी। उन्होंने अन्धे बनकर यूरोपीयकरण से बचने की सीख दी। साथ ही धर्म में विश्वास करने और कर्म में लगर का मन्त्र फूँका। इस प्रकार, विवेकानन्द ने स द्रवाद को एक नये रूप में प्रस्तुत किया। विवेकानन्द के राजनीतिक विचार

विवेकानन्द हॉब्स, लॉक, रूसो, ग्रीन आदि पश्चिमी विचारकों की तरह राजनीकि चिन्तक नहीं थे और उन्होंने किसी राजनीतिक सम्प्रदाय या वाद को जन्म नहीं दिया। वे प्रथमतः आध्यात्मिक व्यक्ति और संन्यासी थे। इसलिए उन्होंने स्पश्ट्र रूप से देश के सम्मुख उपस्थित राजनीतिक प्रश्नों पर अपने विचार प्रकट नहीं किये। उन्होंने स्वीकार किया कि वे न तो राजनीतिश्र हैं और न राजनीतिक आन्दोलनकर्त्ता, वे तो केवल आत्म–तत्व की चिन्ता करते थे और उनका विश्वास था कि उसके ठीक होने पर सब काम अने आप ठीक हो जायेंगे। परन्तु उनके भाषणों में ऐसे विचारों की अभिव्यक्ति अवश्वय पायी जाती है, जो राजनीति से सम्बन्ध रखते हैं और जिनका तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उनकी संन्यासी के गीतश शीर्शक कविता से स्वतन्त्रता के महत्व का प्रतिपादन होता है और उससे बंगाल के राष्ट्रवादियों ने प्रेरणा ग्रहण की थी ।

उनके राजनीतिक विचारों का निम्नलिखित प्रकार उल्लेख किया जा सकता है–– 1. राष्ि ाट्रवाद का आधार रू धर्म और अतीत – हीगल की तरह विवेकानन्द का भी विश्वास था

कि प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में किसी प्रमुख तत्व की अभिव्यक्ति होती है। उनका कथन था कि जिस प्रकार संगीत में एक प्रमुख स्वर होता है, उसी प्रकार प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में भी एक प्रधान तत्व होता है और अन्य तत्व गौण होते हैं तथा प्रमुख तत्व में ही केन्द्रित रहते हैं। उनके अनुसार, भारत का प्रमुख तत्व धर्म है और आगे चलकर धर्म की भारत के राष्ट्र्य जीवन का आधार बनेगा ।

उनकी मान्यता थी कि किसी राष्ट्र का निर्माण उसके अतीत की महत्ता की नींव पर ही हो सकता है और राष्ट्र के अतीत की अवहेलना करना राष्ट्र के सम्पूर्ण जीवन का निशेध करने के समान है । प्राचीनकाल में भारत की सृजनात्मक प्रतिभा की अभिव्यक्ति मुख्यतया धर्म के क्षेत्र में ही हुई थी तथा धर्म ही देश में एकता और स्थिरता बनाये रखने में समर्थ रहा। जब कभी देशा की राजनीतिक सत्ता दुर्बल हुई, धर्म ने ही उसे पुनः शक्ति प्रदान की। इसलिए यह आवश्यक है कि भारत के राष्ट्रीय जीवन को धार्मिक सिद्धान्तों के आधर पर संगठित किया जाये। वे धर्म को धर्म संघों द्वारा प्रतिपादित आचार संहिताओं और पुरनी रूढ़ियों के अर्थ में नहीं लेते थे। उनके अनुसार धर्म का अर्थ है– शाश्वत तत्व का साक्षात्कार करना, जिसकी वेदान्त ने बुद्धिसंगत व्याख्या की है। धर्म ही भारतीय समाज के जीवन का आधार रहा है, इसलिए देशा की सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कतिक व्यवस्था का पुनर्निर्माण धर्म के आधार पर ही सम्भव है। ऐसा भारत अपने अध्यात्म अपने अध्यात्म द्वारा पश्चिमी संस्कति पर विजय प्राप्त कर सकेगा।

2. भारतीय राष्ट्रवाद के संदेशवाहक–विवेकानन्द राजनीतिक विवादों में अपनी शक्ति और प्रतिभा का अपव्यय न करके देश के धार्मिक और नैतिक पुनरुत्थान के कार्य को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते थे । वे भारतीय रा ट्रवादे का संदेश जन–जन तक पहुँचाना चाहते थे। उन्होंने देशवासियों से बंकिमचन्द्र की रचनाओं को पढ़कर उसे सनातन शाश्वत धर्म और राष्ट्रभक्ति की भावना को करने का आग्रह किया और जन्मभूमि की सेवा को सबसे बड़ा कर्त्तव्य मानने को कहा। ये प्रत्येक भारतीय से कहते थे कि वह वीर और निर्भीक बने, साहस धारण करे तथा अपने भारीय होने पर गर्व के साथ घोषणा करे कि वह भारतीय है और प्रत्येक भारतीय उसका भाई है। उन्होंने प्रेरणा दी कि प्रत्येक भारतवासी उच्च स्वर में घोषित करे कि भारत मेरा जीवन है, भारत के देवी–देवता मेरे ईश्वर हैं, भारतीय समाज मेरा बचपन का पालना है, मेरे योवन का आन्द उद्यान है, पवित्र स्वर्ग है और मेरी वृद्धावस्था की वाराणसी हैं, भारत का कल्याण मेरा कल्याण है।

3. स्वतन्त्रता और अधिकार सम्बन्धी विचार– विवेकानन्द का स्वतन्त्रता सम्बन्धी दृष्ट्रिकोण बड़ा व्यापक था, जो धर्म, आध्यात्मिकता तथा नैनिकता से ओतप्रोत था। उनके अनुसार, स्वतन्त्रता उपनिशदों का प्रमुख सिद्धान्त था तथा उपनिषदों में स्वतन्त्रता के भौतिक, मानसिक, आध् यात्मिक आदि सभी पक्षों का समर्थन किया गया है। सम्पूर्ण विश्व निरन्तर स्वतन्त्रता की खोज में संलग्न है। वे मिल की भाँति मानते थे कि विचार तथा कार्य की स्वतन्त्रता जीवन में सुख और समरतिद्ध की एकमात्र शर्त है। जहाँ ऐसी स्वतन्त्रता का अभाव होता है, वहाँ व्यक्ति, जाति और राष्ट्र को उन्नति सम्भव नहीं है ।

उनके शब्दों में, ष शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता की और अग्रसर होना तथा दूसरों को उसकी और अग्रसर होने में सहायता देना मनुष्य का सबसे बड़ा पुरस्कार है। जो सामाजिक नियम ऐसी स्वतन्त्रता के विकास में बाधक बनते हैं, वे हानिकारक हैं और उन्हें शीघ्र नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। उन संस्थाओं को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए, जिनके द्वारा मनुष्य स्वतन्त्रता के मार्ग पर आगे बढ़ता है।

4. स्वतन्त्रता एक प्राकृतिक अधिकार – विवेकानन्द स्वतन्त्रता को प्राकृतिक अधिकार मानते थे, जिसका अर्थ है कि मनुश्य की प्रकृति में ही स्वतन्त्रता निहित है और इसके अभाव में उसकी भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को समाज से स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। विवेकानन्द का प्राकृतिक अधिकार का विचार

हॉब्स के प्राकरतिक अधिकार से भिन्न है। हॉब्स के अनुसार, प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार हैं, जो प्राकतिक अवस्था में रहने वाले व्यक्ति को प्राप्त थे तथा प्राकृतिक अवस्था की समाप्ति पर वे भी समाप्त हो गये। उनके अनुसर प्राकृतिक अधि कार का अर्थ है कि दूसरों को हानि पहुँचायें बिना हमें अपने शरीर, बुद्धि तथा धन का प्रयोग अपनी इच्छा के अनुसार करने की स्वतन्त्रता हो तथा समाज के सभी सदस्यों को धन, शिक्षा और ज्ञान प्राप्त करने का समान अधिकार हो । उनका यह विचार लॉक के प्राकृतिक अधिकार के विचार से अधिकर व्यापक है। परन्तु वे स्वतन्त्रता के प्राकतिक अधिकार को निर्बाध स्वच्छन्दता स्वीकार नहीं करते । स्वतन्त्रता का अर्थ यह नीह कि यदि कोई व्यक्ति किसी को हानि पहुँचाने का प्रयत्न करे तो उसे ऐसा करने से रोका न जाये ।

5. अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्य को प्रमुखता – विवेकानन्द इस बात से चिन्तित थे कि विश्व के विभिन्न समुदायों और वर्गों के बीच अधिकारों के लिए निरन्तर संघर्ष चल रहा है तथा अपने–अपने विचारों और सिद्धान्तों की सफलता के लिएपरस्पर सुद्धरत रहते हैं। उन्होंने अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्यों को अधिक महत्व दिया। उनके अनुसार, मनुष्य का गौरव इस बात में नहीं है कि वह अपने अधिकारों पर बल दें, उसकी गरिमा इस बात में है कि वह सबके कल्याण के लिए अपने को उत्सर्ग कर दें। सभी व्यक्तियों और व्यक्ति समूहों को ईमानदारी के साथ अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों का पालन करना चाहिए ।

6. व्यक्ति प्रमुख है – किसी समाज या राष्ट्र का निर्माण उसके सदस्य व्यक्तियों द्वारा ही होता है, व्यक्ति ही समाज का घटक है। इसलिए यदि समाज के घटक व्यक्ति में नैतिकता, सहिष्णुता आदि गुणों का विकास नहीं और वह स्वस्थ नहीं है तो शक्तिशाली, समृद्ध और महान राष्ट्र का निर्माण सम्भव नहीं। इसलिए यह अनिवार्य है कि व्यक्ति में इन श्रेष्ठ गुणों का विकास हो और वह अपने व्यक्तित्व का समाज और राष्ट्र की आत्मा के साथ तादात्म्य स्थापित करे। प्राचीन भारत का राष्ट्रीय जीवन इन्हीं आदर्शो पर आधारित था और इन आदर्शों को पुनः प्रतिस्थापित करके ही देश को शक्तिशाली बनाया जा सकता है ।

7. शक्ति और निर्भयता का दर्शन– विवेकानन्द का राजनीतिक दर्शन शक्ति एवं निर्भयता का दर्शन है। शक्ति और निर्भयता के आधार पर ही व्यक्ति अपने अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ हो सकता है। उन्होंने घोशणा की कि शक्ति ही धर्म है और जो धर्म शक्ति का संचार नहीं करता, उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। शक्ति धर्म से भी अधिक बड़ी होती है तथा शक्ति से बढ़कर कोई अन्य वस्तु नहीं। उन्होंने भारतवासियों को संदेश दिया कि शक्तिहीनता शक्ति को अर्जित करना हैं । अप्रत्यक्ष रूप से इस संदेश के पीछे ये भावना निहित थी कि राष्ट्र को विदेशी दासता से

मुक्त कराने और राष्ट्रय स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये प्रत्येक भारतवासी को शक्तिवान और निर्भीक बनाना होगा। उनकी दृष्टि से शक्तिवान होने का अर्थ केवल शारीरिक या भौतिक शक्ति प्राप्त करना नही था । शारीरिक और भौतिक शक्ति से भी अधिक महत्वपूर्ण आत्मबल है और जिसमें आत्मबल है वह ही अत्याचार और उत्पीड़न का प्रतिकार करने में समर्थ हो सकता है।

8. असमानता और शोषण का विरोध विवेकानन्द सामाजिक और राजनीतिक असमानता के घोर विरोधी थे। उन्होने भारतीय समाज में व्याप्त इस बुराई का देश की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में विश्लेशण किया। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि देश के सामाजिक अत्याचारों के अभिजात्य वर्गों ने बहुसंख्यक जनता का शोषण किया है, उन्हें घृणा और तिरस्कार की दृष्टि से देखा है और उसे इतना अपमानित किया है कि वह अपना मनुष्यत्व ही खो बैठी है। इस प्रकार अपमानित लोग जो देश और समाज के मेरुदण्ड हैं, जो इनके लिए धन और अन्न पैदा करते हैं, राष्ट्रीय शक्ति के विकास में योगदान नहीं कर सकते! अपने आक्रोश और पीड़ा व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा था–भारत के उच्च वर्गो ! क्या तुम अपने को जीवित समक्षते हो ? तुम तो केवल दस हजार वर्ष पुरानी ममियाँ हो। भारत में

यदि किसी में थोड़ी–सी भी प्राणिशक्ति शेष है तो उन लोंगो में है, जिन्हे तुम्हारे पूर्वज चलती–फिरती लाश समक्षकर घृणा करते हो तुम शून्य और भविष्य की सारहीन नगण्य वस्तु हो– तुम अपने को शून्य में विलीन कर दो और तिरोहित हो जाओ और अपने स्थान पर नवीन भारत का उदय होने दो– इन साधारणजनों ने हजारों वर्षों तक उत्पीड़न सहन किया है – वे अनन्त दुःखों को सहते आये है जिसके परिणामस्वरूप उनमें आश्चर्यजनक सहनशक्ति उत्पन्न हो गयी है – मुट्ठी भर दानों पर जीवित रहकर वे संसार को झकझोर सकते है उन्हें रोटी का आधा टेकड़ा दे दीजिए फिर तुम देखोगे कि सारा विश्व भी उनकी शक्ति को सँभालने के लिए पर्याप्त नही होगा।

9. समाजवादी विचारधार के समर्थक – वी.पी. वर्मा का कथन है कि विवेकानन्द द्वारा सामाजिक असमानता और शोशण का विरोध तत्वतः समाजवादी विचार ही है। वे समाजवादी इस अर्थ में भी कहे जा सकते है। उन्होंने अपने देश के शब लोगों के लिए अवार की समानता के सिद्धान्त पर बल दिया। उन्होंने कहा कि यदि अवसर की असमानता को स्वीकार किया भी जाये तो निर्बलों को भी सबलों की अपेक्षा अधिक अवसर दिये जाने चाहिए।

विवेकानन्द समाजवाद के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हिसात्मक क्रान्ति के विरुद्ध थे। मार्क्स के भौतिकवादी समाजवाद के विपरीत उनके समाजवाद को आध्यात्मिक समाजवाद कहा जा सकता है। वे चरित्र की शुद्धता और भ्रातृत्व पर अधिक बल देते हैं और उनका समाजवाद न्याय प्रेम तथा सार्वभौमिक करुणा के शाश्वत सन्देश का ही पुनः प्रतिपादन हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे समाजवाद के भौतिक पक्ष के महत्व की अवहेलना करते थे। वे दरित्र और निर्धन के लिये रोटी प्रदान करने की आवश्यकता को भी अनुभव करते थे। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि मुझे उस ईश्वर में विश्वास नही, जो मुझे यहाँ रोटी नही दे सकता और स्वर्ग में शाश्वत आनन्द देता है।

वी.पी. वर्मा का मत है कि उनके समाजवाद और मार्क्स के समाजवाद में एक आधारभूत अन्तर यह है कि यद्यपि उन्होंने समाज सुधार पर बल दिया, परन्तु उनका इस बात पर और भी अधि क बल था कि मनुष्य की आत्मा पश्थ्वी से आरोहण करें, स्वर्णिम देवत्व को प्राप्त कर ले

10. विश्व बन्धुत्व का समर्थन–विवेकानन्द को भारत भूमि और उसकी संस्कृति से अपार स्नेह था और इस अर्थ में वे राष्ट्रवादी थे, परन्तु उनका रा ट्रवाद राष्ट्रीयतावाद के विरोध की की नींव पर नही खड़ा था। वे किसी अन्य राष्ट्र से घृणा नही करते थे। उनकी विश्व बन्धुत्व भावना को शिकागो धर्म संसद की समाप्ति के पश्चात यह कहकर स्वीकार किया गया कि धर्म संसध में अन्य सब प्रतिनिधि अपने–अपने धर्म के ईश्वर की ही चर्चा ही करते रहे, जबकि विवेकानन्द ने ही सबके ईश्वर की बात की। वे मानव जीवन के बीच धर्म, रक्त, भाषा, रंग, आदि के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव के कठोर विरोधी थे।

11. आदर्श राज्य की धारणा – विवेकानन्द के अनुसार मानव समाज में चार प्रकार की राज्य व्यवस्था दिखाई पड़ती है। जिस राज्य व्यवस्था में ज्ञान का शासन हो और विज्ञान की प्रगति हो, उसे ब्राह्मण कहा जा सकता है।

क्रूरता तथा अन्याय पर आधारित राज्य क्षत्रिय राज्य होता है, परन्तु इस राज्य मे कला तथा सामाजिक शिष्टता का पूर्ण विकास भी होता है। वैश्य राज्य आर्थिक क्रियाकलापों की प्रगति के साथ शोशण पर आधारित होता है, परन्तु उसमें सभ्यता का स्तर गिर जाता है। सामान्य शिक्षा का प्रचार अवश्य होता है, परन्तु असामान्य प्रतिभा के धनी व्यक्ति कम हो जाते है। यदि ऐसा राज्य किया जा सके, जिसमें ब्राह्मण राज्य का ज्ञान क्षत्रिय राज्य की सभ्यता– वैश्य राज्य के आर्थिक क्रियाकलाप और श्रमिक राज्य की समानता का समन्वय हो तो ऐसा राज्य आदर्श राज्य होगा, परन्तु इस प्रकार का समन्वय स्थापित करना कठिन है।

विवेकानन्द मुख्यत धार्मिक और दार्शनिक विशयों में रूचि रखते थे और उन्होंने समाज विध्आन के सम्बन्ध में किन्हीं सिद्धान्तों को प्रतिपादन नहीं किया, परन्तु उनकी भारतीय समाज और उसकी समस्याओं में गहरी रूचि थी और उन्होंने भारतीय सामाजिक व्यवस्था का गम्भीर अध्ययन किया था । वे भारतीय समाज का क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण करना चाहते थे। वे प्राचीन भारत की वर्ण–व्यवस्था और उसके समन्वय तथा सामंजस्य के आदर्श से अत्यधिक प्रभावित थे, इसलिए उनकी हार्दिक अभिलाशा थी कि इस व्यवस्था को इसके श्रेष्टतम रूप में पुनर्जीवित किया जाये, परन्तु वे वर्तमान जाति व्यवस्था और अस्पृश्यता के कट्टर विराधी थे।

1. शोषितों के उद्धारक – विवेकानन्द दलितों और शोशितों के उद्धार के लिए विशेश चिन्तित रहते थे। उन्होंने लिखा है कि मुझे इस बात की चिन्ता नहीं कि वे (दलित) हिन्दू है या मुसलमान अथवा ईसाई, किन्तु जिन्हे ईश्वर से प्रेम है उनकी सेवा के लिए मै सदैव तत्पर रहूँगा। मेरे श्बच्चों ! अग्नि में कूद जाओ, यदि तुम्हें विश्वास है तो तुम्हें सब कुछ मिल जाऐगा। हममें प्रत्येक को दिन रात भारत के उन करोड़ों दलितों के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, जो कि दरिद्रता पुरोहितों के जंजाल और अत्याचार से जकड़े हुए हैं– मैं न तत्व शास्त्री हूँ, न दार्शनिक और मैं सन्त भी नही हूँ। मैं दरित्र हूँ, मुझे दरित्रों से प्रेम है–– भारत में ऐसा कौन है जिनके नम में उन बीस करोड़ स्त्री पुरूशों के लिए सहानुभूति न हो, जो दरिद्रता और अज्ञान में डूबे हुए हैं–मैं उन्हीं को महात्मा कहता हूँ जिसका हृदय दरित्रों के लिए द्रवित होता है।

2. अस्पृश्यता का विरोध

विवेकानन्द ने देश में व्याप्त छुआछूत और रूढ़िवादिता पर कठोर प्रहार किया। उन्होंने ऐसे लोगो की तीव्र भर्त्सना की जो छुआछूत के रोग से ग्रस्त है। ऐसे लोगों ने हमारे सनातन धर्म को भष्ट कर दिया है उनके मुख से एक ही वाक्य निकलता है मत छू मत छू अब ऐसे लोगों का धर्म छुआछूत में रह गया है। उन्होंने कहा कि छूआछूत को समाप्त कर चाण्डाल को ऊपर उठाकर ब्राह्मण के स्तर पर लाया जाये और निम्नतर कही जाने वाली जातियों को सुसंस्कश्त बनाया जाये।

3. बाल विवाह का विरोध – विवेकानन्द बाल विवाह के विरोधी थे । वे कहते थे कि बाल विवाह से असमय सन्तानोत्पत्ति होती है और छोटी अवस्था मे सन्तान उत्पन्न करने से स्त्रियाँ अल्पायु होती है तथा उनकी सन्तान दुर्बल और रोगी होती हैं। ऐसी संतान देश में भिखारियों की संख्या बढ़ाने का कारण बनती है ।

4. आत्म विश्वास पर बल – विवेकानन्द कहते थे कि दूसरों पर विश्वास करने पर पूर्व अपने पर विश्वास करना सीखना चाहिए। व्यक्ति में सर्व शक्ति है, वह सब कुछ कर सकता है और आत्म विश्वास से परिपूर्ण व्यक्ति समस्त बाधाओं को लाँध सकता है। भारत को ऐसे आत्म विश्वासी लोगों की आवश्कता है।

5. प्राचीन वर्ण–विभाजन तर्कसंगत – विवेकानन्द के मत में प्राचीन भारत में समाज का चार वर्गों में विभाजन आदर्श समाज व्यवस्था का द्योतक है । ब्राह्मण ज्ञान–विज्ञान की प्रगति के लिए कार्यरत रहते थे, क्षेत्रिय का काम व्यवस्था बनाये रखना था, वैश्य वाणिज्य व्यापार का प्रतिनिधि था और शूद्र समानता की विजय का प्रतीक था। इन चारों के समन्वय से समाज व्यवस्था का आदर्श स्वरूप बना था । परन्तु कालान्तर में इस व्यवस्था में विकार पैदा हो गये और शूद्र अन्य वर्णों का उत्पीड़न का शिकार बने । विवेकानन्द ने इस प्रकार के उत्पीड़न और दमन तथा वर्ण व्यवस्था के जाति व्यवस्था में विकृत रूप का निरन्तर विरोध्ा किया। उन्होंने अन्य वर्ग के लोगों को धिक्कारते हुए कहा था, भारत के उच्च वर्गों ! क्या तुम अपने को जीवित समझते हो ? तुम तो केवल दस हजार वर्ष पुरानी मनियाँ हो ।. इस प्रकार विवेकानन्द ने भारतीय समाज के अन्य वर्गों के अहंकार और धूर्तता की कठोर भर्त्सना की ।

6. नारी उत्थान के समर्थक – स्वामी विवेकानन्द ने अपने जीवन में प्रारम्भ से अन्त तक नारी उत्थान का पूर्ण समर्थन किया एवं वे रभाव से ही उदार थे। स्वामी विवेकानन्द ने पुरुष जाति के द्वारा नारियों के प्रति असमानता तथा हीनता की भ्रान्त मान्यताओं का विरोध ा किया। सामाजिक कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए यह अति आवश्यक हैं कि समस्त नारी वर्ग को समाजिक जीवन में समान एवं सहयोगी बनाना ही पड़ेगा और यह तभी सम्भव है जबकि उन्हें विधिवत् शिक्षा प्राप्त हो। उनके अनुसार स्त्रियों को इस प्रकार की शिक्षा प्रदान की जाये, जिससे उन्हें चारित्रिक गृहस्थ, स्वास्थ्य, स्वच्छता आदि से सम्बन्धित कार्यों के सम्पादन में सहायता प्राप्त हो ।

7. जाति व्यवस्था यूरोपीकरण की प्रवृत्ति का विरोध – स्वामी विवेकानन्द जी भारत में सामाजिक क्रान्ति लाना चाहते थे । उनका मत था कि जाति व्यवस्था के कठोर बन्धनों को ढीला करके समाज को लाभान्वित किया जा सकता है। पूर्ण रूप से स्वामी जी जाति व्यवस्था के विरोध ी नहीं थे, किन्तु वे जाति व्यवस्था के उत्पीड़नकारी रूप व उसके नाम पर किये गये कुत्सित कार्यों के घोर शत्रु थे । अतः उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि जाति प्रथा को दुरूस्त बनाया जाय। भारत के जातीय चक्र का विशद् उल्लेख स्वामी विवेकानन्द के सामाजिक चिन्तन का प्रमुख आधार है । उनके अनुसार, मनुष्य के जिन तीन गुणों–सत्व, राजस, तमस, का सार्वभौमिक आधार है, वे तीन गुण सर्वकानन्द समाज का चार वर्गों में विभाजन करना आदर्श समाज व्यवस्था बनाते थे, अतः विवेकानन्द ने उच्च जातियों द्वारा किये गये उत्पीड़न और दमन के विरूद्ध विराध किया ।

उन्होंने जाति व्यवस्था के साथ–साथ यूरोपीकरण की प्रवृत्ति का भी विरोध किया। वे चाहते थे कि भारत वासी कूपमण्डूक न रहें और वह प्रगतशील हो। उन्होंने भारतीय समाज के यूरोपीकरण की तीव्र आलोचना करते हुए कहा है कि हमें अपनी प्रकति के अनुसार ही विकसित होना चाहिए। विदेशियों के द्वारा थोपी गयी जीवन प्रणाली के अनुसार चलने का प्रयत्न करना व्यर्थ और असम्भव मैं अन्य जातियों की संस्थाओं की निन्दा करता, वे केवल उनके लिए ही अच्छी है, किन्तु हमारे लिए अच्छी नहीं है। हमारी अपनी भी परम्पराएँ हैं, जो हजारों वर्षों के कर्म हमारे साथ है। अतः भारत का यूरोपीकरण करना असम्भव तथा मूर्खतापूर्ण काम है।

8. सामाजिक यथार्थवादी– डॉ. बी.पी. वर्मा के अनुसार स्वामी विवेकानन्द सामाजिक यथार्थवादी थे और उनके व्यक्तित्व का प्रमुख पक्ष यह था कि उन्होंने अपनी शक्ति ज्ञान चिन्तन और आध्यात्मिक अनुभूति परिपक्व दार्शनिक अन्वेशण में लगा दी। उन्होंने भारतवासियों को धर्म का उपदेश देना कोरा उपहास है। भारत वह देश है जहाँ दशियों लाख लोग महुए के फूल खाकर जीवित रहते हैं और दस या बीस लाख साधू एक करोड़ के लगभग ब्राह्मण उन लोगों का रक्त चूसते है । विवेकानन्द के आर्थिक तथा शैक्षिक विचार आर्थिक विचार – स्वामी विवेकानन्द एक संन्यासी और आध्यात्मिक व्यक्ति थे और ऐसा व्यक्ति अर्थ को महत्व प्रदान नहीं करता। विवेकानन्द ने भी धन समाप्ति के सामाजिक, आर्थिक महत्व तथा ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे आर्थिक कारणों का विवेचन नहीं किया। जैसा कि अर्थशास्त्री और ऐतिहासिक भौतिकवादी विचार करते है । परन्तु पश्चिमी देशों की यात्रा के पश्चात् वे धन का महत्व समझने लगे थे। तभी उन्होंने कहा था कि यदि वे तीन करोड़ रूपया एकत्र कर सकें तो भारतीय जनता का उद्धार कर सकते थे। देश में व्याप्त भूखमरी और दरिद्रता से उनका हृदय द्रवित होता था । उन्होंने कहा कि दरिद्रता निवारण के लिए कार्य उत्पन्न करने हेतु भौतिक सभ्यता, अपितु विलासिता भी आवश्यक है रोटी ! रोटी ! मुझे उस ईश्वर में विश्वास नही हैं जो मुझे रोटी नहीं दे सकता, परन्तु स्वर्ग में शाश्वत आनन्द देता है। मुझे भारत को उठाना है मुझे निर्धनों को भोजन देना है – सामजिक अत्याचार का नाश हो, अधिक रोटी प्रत्येक के लिए अधिक अवसर ।

विवेकानन्द आर्थिक सामाजिक शोशण के विरोधी थे, परन्तु मार्क्स के यानी हिंसात्मक

क्रान्ति के पक्षधर नहीं थे। वे भारत के आर्थिक सामाजिक उद्धार के लिए ध्येयनिश्ठ तथा त्यागी कार्यकर्त्ताओं को प्रतिक्षित एवं संगठित करना चाहते थे। उनके विचारों में घृणा ईश्यों तिरस्कार के स्थान पर प्रेम करुणा और सद्भावना के दर्शन होते है।

शिक्षा सम्बन्धी विचार

1. विवेकानन्द भारत की दयनीय स्थिति के पीछे अशिक्षा को मूल कारण मानते थे। वे अंग्रेजी पद्धति के कठोर आलोचक थे, जिसे वे कशि का निर्माण करने वाला यन्त्र मानते थे।

2. वे गुरु शिश्य परम्परा पर आधारित प्राचीन गुरूकुल पद्धति के समर्थक थे ।

3. वे एक विशुद्ध भारतीय शिक्षा प्रणाली का निर्माण करना चाहते थे तथा पाठ्यक्रम के ध ाार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन को अनिवार्य मानते थे, परन्तु वे अंग्रेजी भाषा के अध्ययन के विरोधी नहीं थे। उनकी मान्यता थी कि अंग्रेजी भाषा का ज्ञान प्राप्त करके वर्तमान वैज्ञानिक प्रगति से काम उठाया जा समता हैं तथा पश्चिम के विकसित देशों की जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

4. वे शिक्षा के क्षेत्र में समान अवसर प्रदान किये जाने के पक्षधर थे ।

विवेकानन्द के धार्मिक विचार

1. चिन्तन तथा व्यवहार के मूल में वेदान्त – स्वामी विवेकानन्द मुख्यता एक धार्मिक पुरुष थे, जिनकी प्रधान रूचि आध्यात्मिक तथा दर्शन में थी वे वेदान्त के आधार पर एक ऐसे दर्शन का विकास करना चाहते थे, जो समस्त संघर्षों को दूर करके मानव जाति को विकास के उच्चतम स्तर तक पहुँचाने में समर्थ हो । उनका वेदान्त दर्शन संसार को त्यागने का उपदेश न देकर मानवमात्र की सेवा करने तथा उसे ब्रह्माचर्य करने की शिक्षा देता है। उन्होंने कहा कि देदान्त व्यक्ति के उत्थान समाज के निर्माण तथा राष्ट्र के समन्वय का शास्त्र है । वेदान्त का आदर्श है–मानव के सच्चे स्वरूप को जानना तो व्यक्ति ईश्वर स्वरूप अपने भाई की सहायता नहीं कर सकता वह अव्यक्त ईश्वर की उपासना किस प्रकार कर सकता है ।

विवेकानन्द मानव के विकास के लिए धर्म को आवश्यक मानते थे। धर्म व्यक्ति और राष्ट्र दोनों को शक्ति प्रदान करने वाला तत्व है। उन्होंने कहा– मेरे धर्म का सार शक्ति है, जो धर्म हृदय में शक्ति का संसार नहीं करता, वह मेरी दृष्टि में धर्म नहीं, चाहे वह उपनिषदों का धर्म हो और चाहे गीता या भगवान का ।

2. धार्मिक संकीर्णता तथा रूढिवादिता के विरोधी विवेकानन्द धर्म के क्षेत्र में संकीर्णता तथा रूढ़िवादिता के विरोधी थे। धर्म अन्य श्रद्धा का विषय नहीं है, जिसमें तर्क तथा बुद्धि को स्थान ही न हो। उनके अनुसार जिस प्रकार विज्ञान भौतिक जगत के नियमों की खोज करता है, उसी प्रकार धर्म नैतिक जगत के सत्य तथा मानव के आन्तरिक स्वभाव के नियमों की खोज करता है। उनके अनुसार धर्म का उदय उस समय होता है जब मनुष्य अपनी सामान्य संज्ञानात्मक शक्तियों से ऊपर उठने का प्रयत्न करता है। उनकी मान्यता थी कि धर्म भारत की नियति के साथ जुड़ा है।

3. हिन्दू धर्म की सार्वभौमिकता में विश्वास – विवेकानन्द को हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता और सार्वभौमिकता में अटूट विश्वास था। उनका कथन था कि पृथ्वी पर ऐसा कोई दूसरा धर्म नहीं है जो हिन्दू धर्म के समान इतने उच्च स्वर से मानवता के गौरव का उपदेश देता हो। परन्तु उन्हें इस बात से अपार दुःख था कि पाखण्डी लोगों ने स्वार्थवश हिन्दू धर्म को कलंकित कर दिया है। उन्होंने अपनी पीड़ा इन शब्दों में व्यक्त की पृथ्वी पर ऐसा कोई ध ार्म नहीं है जो हिन्दू धर्म के समान निर्धनों और निम्न जाति के लोगों का ऐसा क्रूरता से गला घोंटता हो, उनके लिए सच्चा हिन्दू धर्म एक ऐसा व्याप्त सत्य था जो न्याय सांख्या और वेदान्त के द्वारा अपने हृदय में गम्भीरता दार्शनिक प्रतिमा को शरण दे सकता था । वी.पी. वर्मा का कथन है कि विवेकानन्द की दृष्टि में हिन्दू धर्म उन दुरूह पंथों कर्मकाण्डी

अन्धविश्वासों परम्परागत मतवादों और आदिम कर्मकाण्ड का पुंज नहीं था जिन्हें देखने के लिए पल्लवग्राही यूरोपीय आलोचक दुर्भाग्यवश सदैव इच्छुक रहता है ।

4. हिन्दू धर्म अन्य धर्मों की जननी – वे अन्य धर्मों को हिन्दू धर्म से निरस्थ मानते थे, जिसे कुछ सीमा तक इतिहास द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है। इतिहास में जो नवीन शीध हो रहे हैं, उससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारतीय धार्मिक विचारों का मिश्र तथा पश्चिमी एशिया के देशों में प्रवेश हो चुका है। वी.पी. वर्मा का कथन है कि विवेकानन्द वैदिक धर्म से लेकर वैष्णव धर्म तक सम्पूर्ण हिन्दुत्व के प्रतिनिधि थे। उन पर उपनिषदों के ज्ञान भण्डार का विशेष प्रभाव पड़ा था और उनका सार्वभौमवाद अशोक की उदार संस्कति की याद दिलाता है। उनके व्याख्यानों में बताया गया है कि आध्यात्मिक समानता की शिक्षा देने वाला वेदान्त दर्शन ही बहुसंक्ष्यक मनुष्यों के लिए समानता के व्यवहार की सच्ची गारण्टी हो सकता है।

विवेकानन्द मानते थे कि आध्यात्म विद्या के क्षेत्र में कोई राष्ट्र हिन्दुओं का मार्गदर्शन नहीं कर सकता । केवल विश्वास का नाम हिन्दु धर्म नहीं है हिन्दु धर्म का मूलमन्त्र हैं मैं आत्मा हूँ यह विश्वास होना और तदरूप बन गया। हिन्दुओं को सम्पूर्ण साधना प्रणाली का लक्ष्य है– ईश्वर के दर्शन करना, उसके सम्मानपूर्ण हो जाना। यही सच्चा हिन्दु धर्म है ।

5. मूर्ति पूजा को मान्यता– स्वामी विवेकानन्द जी मूर्ति पूजा के समर्थक थे। वे राजा राममोहन राय व स्वामी दयानन्द की तरह मूर्ति पूजा के विरोधी नहीं थे। उन्होंने मूर्तिपूजा की निन्दा नहीं की क्योंकि मूर्ति पूजा मन को हिन्दुत्व में आवश्यक भी नही है । वह हिन्दू के अनुष्ठानिक पक्ष से सम्बन्धित है। हिन्दू लोग दर्शन के बजाय पूर्ति पूजा को परम अनुभूति की प्राप्ति के लिए एक माह यम के रूप में अपनाते है। अतः स्वामी विवेकानन्द के मूर्ति पूजा का विरोध नहीं किया जैसा कि अन्य सन्तों व सुधारकों ने किया।

6. दरिद्रों के सेवक– स्वामी जी स्भाव से बहुत ही दयालु प्रवत्ति के थे। वे दरिद्रों व गरीबों के सच्चे सेवक थे। स्वामी विवेकानन्द यथार्थवादी थे । वे सदा यही सोचा करते थे कि भारत की पीडित एवं पददलित जनता में किस प्रकार एक जनजीवन तथा नवचेतना उत्पन्न की जाये तथा उसको कैसे एक नवीन लक्ष्य की ओर ले जाया जाये !

स्वामी विवेकानन्द जी का कहना था कि ईश्वर का एक रूप दीन दुःखी तथा दरिद्रों की सेवा अर्थात् दरिद्र नारायण भी है। दरिद्र नारायण के प्रति उनकी असीम सहानुभूति थी। आज भी विवेकानन्द के अनुयायी उनके बताये दीन–दुखियों की सेवा कार्य में रत है।

7. विश्व धर्म व स्वधर्म समन्वय के समर्थक स्वामी विवेकानन्द ने धर्मो की एकता अथवा विश्व धर्म के सन्दर्भ में गीता में श्रीकृष्ण के उपदेशों की चर्चा करते हुए हिन्दू धर्म के अन्तर्गत ईश्वर के रूप के बारे में बताया है कि विश्व धर्म को प्राप्त करने का मार्ग यह नहीं है कि किसी एक धर्म को अपनाकर दूसरे धर्मो की निन्दा की जाये। स्वामी जी के विश्व धर्म का उदेश्य था – विभिन्न धर्मो के बीच मे सहिष्णुता व सामंजस्य स्थापित करना। उनका कहना था कि सब धर्मों के प्रति निश्ठा और अनेकता में एकता की अनुभूति धार्मिक सार्वभौमिकता के लिए जरूरी है। इसी प्रकार स्वामी जी ने सर्वधर्म समन्वय या विश्व धर्म का विचार दिया।

8. ईसाई मिशनरियों के कार्यों के प्रति विचार स्वामी जी ईसाई मत की बाढ़ को रोकने का प्रयत्न कर रहे थे। स्वामी जी ने हिन्दुत्व के मानवतावादी एवं सार्वभौमिक आधारों के द्वारा ईसाई मिशनरियों का प्रमुख लक्ष्य हिन्दू धर्म की आलोचना करना तथा ईसाई मत का भारत में प्रचार करना था वे हिन्दू धर्म की बुराईयों का लाभ उठाकर हिन्दुओं का धर्म परिर्वतन कर रहे थे। अंतः ईसाई मशीनरी धीरे–धीरे प्रोत्साहन पाकर धर्म विद्वेश का विष उगलने लगे थे। जितने उपायों से निन्दा की जा रही थी ईसाईयों ने उनमें से एक भी नहीं छोड़ा। इसी प्रकार उन्होंने ईसा और ईसाई मत के अन्तर को स्पष्ट करते हुए ईसा को सच्चा ईसाई बनने की शिक्षा दी। जो कि त्याग एवं सेवा पर ही आधारित है। स्वामी जी के द्वारा हिन्दुत्व

के इस गौरवमय रूप को पुनः प्रस्तुत करना उल्लेखनीय कार्य है। जिसके लिए हिन्दुत्व एवं प्रत्येक भारतवासी उनका चिर ऋणी है।

9. माया का सिद्धान्त – विवेकानन्द ने मायावी सिद्धान्त को अपनाया था परन्तु उनका कहना था कि इन्द्रियों द्वारा अनुभव होने वाला संसार अवास्तविक नही है। इन्द्रियों द्वारा अनुभव किया गया कि संसार अन्तिम वास्तविकता नही है। किन्तु वह मिथ्या भी नही है। अतः यह उनका विचार था कि माया कोई सिद्धान्त नहीं बल्कि तथ्य है। अतः विवेकानन्द के अनुसार धर्म आध्यात्मिक जगत के सत्य से उसी प्रकार सम्बन्धित है जिस प्रकार रसायनशास्त्र तथा दूसरे भौतिक विज्ञान भौतिक जगत सत्य से।

विवेकानन्द के समाजवाद के सम्बन्ध में विचार

स्वामी विवेकानन्द जी अराजकतावादी समाजवादी विचारक प्रिन्स क्रोपाटकिन से बहुत प्रभावित थे उन्होंने समाजवादी व्यवस्था में बहुत आस्था थी। उनके समाजवादी विचारों को निम्नांकित रूपों में देखा जा सकता है–

1. समाजवादी उच्च व्यवस्था

स्वामी विवेकानन्द जी की आस्था समाजवाद में थी, किन्तु फिर भी वे इसे एक पूर्ण या आदर्श व्यवस्था नही मानते थे। उन्होंने घोशणा की कि मै समाजवादी इसलिए भी हूँ क्योंकि वह एक पूर्ण व्यवस्था है बल्कि इसलिए कि आधी रोटी न कुछ से अच्छी है। वे कहते थे कि अन्य व्यवस्थाओं को अपनाया जा चुका है और वे विफल सिद्ध हुई है । अब समाजवाद की परीक्षा वाकी है।

2. समाज में उच्च वर्णों के वर्चस्व के विरोधी – स्वामी विवेकानन्द जी सामाजिक व्यवस्था में उच्च वर्णों के वर्चस्व के विरोधी थे। उनका विचार था कि भारतीय इतिहास ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों का ही आधिपत्य रहा है। ब्राह्मणों ने गरीब जनता के नवीन तथा धार्मिक क्रियाकलापों और अनुष्ठानों के बन्धन में जकड़कर रखा तो क्षत्रीयों ने गरीब जनता का आर्थिक तथा राजनीतिक शोषण किया है। इसलिए उन्होंने कड़े शब्दों में जातिगत उत्पीड़न की निन्दा करते हुए मनुश्य–मनुष्य के बीच सामाजिक बन्धनों को अस्वीकार कर दिया।

3. अवसर की समानता के सिद्धान्त का पोषण – विवेकानन्द जी ने देश के सभी निवासियों के लिए समान अवसर के सिद्धान्त का समर्थन किया। वे लिखते है कि यदि प्रकृति में असमानता है तो भी सबके लिए समान अवसर होना चाहिए, अथवा यदि कुछ को अधिक और कुछ को कम अवसर दिया जाये तो दुर्बलों को सबलों से अधिक अवसर दिया जाना चाहिए। दूसरे शब्दों में ब्राह्मणों को शिक्षा की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि चाण्डाल को। यदि ब्राह्मण को एक अध्यापक की आवश्यकता है तो चाण्डाल को दस की है। क्योंकि जिसको प्रकति ने जन्म से सूक्ष्म बुद्धि नहीं दी है उसे अधिक सहायता दी जानी चाहिए। इस प्रकार विवेकानन्द के समान अवसर के सिद्धान्त से स्पष्ट है कि वे एक समाजवादी थे।

4. आध्यात्मिकता पर आधारित समाजवाद – विवेकानन्द का समाजवाद आध्यात्मिक मान्याताओं पर आधारित था उनका विचार था कि शूद्र शासक वर्ग के रूप में समाजवाद निकट आ रहा है उनका समाजवाद चरित्र की शुद्धता तथा भ्रातृत्व अधिक बल देता है ।

5. हिंसात्मक साधनों के विरोधी – विवेकानन्द जी समाजवाद की स्थापना करने के लिए हिन्सात्मक साधनों के प्रयोग के विरोधी थे उनका विचार है कि समाजवाद के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए हिन्सात्मक सामाजिक क्रान्ति जैसे साधनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। समाजवाद की स्थापना अहिंसक साधनों को अपनाकर ही की जानी चाहिए।

निष्कर्ष –– डॉ.वी.पी. वर्मा ने विवेकानन्द को निम्नलिखित दो अर्थो में समाजवादी माना है।

1. विवेकानन्द ने जातिगत उत्पीड़न की निन्दा करते हुए मनुष्य मनुष्य के बीच सामाजिक बन्धनों को अस्वीकार किया। उनका यह सामाजिक समानता का सिद्धान्त मूलता समाजवादी है। 2. विवेकानन्द ने देश के सभी निवासियों के लिए समान अवसर के सिद्धान्त

का समर्थन करते हुए समाजवादी दिशा को अपनाया।

इस प्रकार, निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विवेकानन्द एक समाजवादी विचारक थे।

भारतीय चिन्तन में स्वामी जी का योगदान

विवेकानन्द तेजस्वी, शक्तिशाली और सर्वतोन्मुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति थे। वी. पी. वर्मा का कथन है कि उन्हें प्लेटीनुस और स्पिनोजा की तरह रहस्यात्मक अनुभूति थी तथा उनका उस परमार्थ सत् (ब्रह्म) के साथ सामंजस्य था, जिसका विवेचन अद्वैत वेदान्तियों ने किया है। वे एक मनीषी थे और आध्यात्मवादी वेदान्त के रहस्यों, यूरोपीय दर्शन तथा आधुनिक विज्ञान के मूल सिद्धान्तों से भली–भाँति परिचित थे। मानव के कश्टों का निवारण करने के लिए उनके मन में ज्वलन्त उत्साह था । विश्व उन्हें एक ऐसे व्यक्ति के रूप में जानता है, जिसकी बुद्धि प्रकाण्ड थी और जिसने अपनी प्रचण्ड इच्छा शक्ति को देश के पुनरुद्धार के कार्य में लगा दिया था।

डॉ. वी. एन. सील का कथन है कि विवेकानन्द ने काण्ट, मिल, शोपेन हावर और स्पेन्सर का अध्ययन किया था। वे संशयवादी दर्शन से भी परिचित थे तथा उन्होंने अरस्तू सम्प्रदाय की रचनाओं में भी अवगाहन किया था। कुछ समय के लिए उन्हें काम्टे के प्रत्यक्षवाद से शान्ति मिली परन्तु विवेकानन्द को अन्तिम संतोष न तो प्लेटो के अपरिवर्तनशील प्रयत्नों में मिला, न हीगल के द्वन्द्वात्मक प्रत्ययवाद में और न सर्वाभौम बुद्धि में मिला। अद्वैत वेदान्त ही उन्हें सच्ची शान्ति दे सका।. सच्चे समाजसेवी विवेकानन्द भारतीय समाजिक जीवन में व्याप्त बुराइयों को देखकर बड़े दुखी होते थे। वे मात्र संन्यासी न होकर सच्चे अर्थ में समाजवादी थे तथा दलितों के लिए एक महान योद्धा की भाँति जीवनभर संघर्श करते रहे। उनकी तेजस्विता के कारण ही रोम्यां रोला ने कहा था कि उनमें नेपालियन निहित था । वी. पी. वर्मा का यह कथन यथार्थ ही है कि, विवेकानन्द भारत के सांस्कतिक जीवन के निर्माण में एक गत्यात्मक व ओजमय आध्यात्मिक उत्साह का पुट देते में सफल हुए। लूथर और केल्विन ने पश्चिमी यूरोप को जो ओजस्विता प्रदान की थी, वह ओजस्विता देवेकानन्द ने तत्कालीन भारतीय सभ्यता के स्तब्ध वातावरण में फेंक दी थी। इसमें संदेह नहीं कि बंगाल के अरविन्द, सुभाषचन्द्र आदि नेताओं पर विवेकानन्द का प्रभाव बहुत गहरा था।

यद्यपि विवेकानन्द की रुचि धर्म और दर्शन में थी. परन्तु वे समाज का क्रान्तिकारी पुनर्निर्माण करना चाहते थे । उन्होंने प्राचीन वर्ण–व्यवस्था की प्रशंसा अवश्य की हैं, जो कार्य विशेषीकरण के सिद्धान्त पर आधारित था, परन्तु वे वर्तमान जाति–व्यवस्था तथा अस्पश्यता को समाज का अभिशाप मानते थे । इसलिए उन्होंने कहा था कि हिन्दू धर्म का वर्तमान रूप अत्यधिक क्रूर है।

2. दलितों के उद्धारक उनमें दलितों की उद्धार के लिए अपार लगन थी। उनका उपदेश था कि भारत के लोग इन्हें अपना देवता समझें। जब तक करोड़ों लोग भुखमरी और अज्ञान के शिकार हैं, तब तक वह प्रत्येक व्यक्ति विश्वासघाती है, जो उनके धन से शिक्षा पाकर उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता ।

3. महान् हिन्दू – विवेकानन्द आधुनिक युग के प्रथम महान हिन्दू थे, जिन्होंने हिन्दू धर्म और हिन्दू दर्शन के सार्वभौम स्वरूप के प्रचार का निरन्तर प्रयास किया। वे आजीवन सामजिक बुराइयों तथा कुरीतियों के विरूद्ध संघर्ष करते रहे। विवेकानन्द पश्चिमी राजनीतिक विचारकों की भाँति सिद्धान्तवादी चिन्तक नहीं थे और उन्होंने राजनीतिक चिन्तन का कोई सम्प्रदाय स्थापित नहीं किया। परन्तु आधुनिक भारत में राजनीतिक विचारको में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। वी.पी. वर्मा के अनुसार इसके दो कारण है–प्रथम उनकी शिक्षाओं तथा व्यक्तित्व का बंगाल के राष्ट्रवादी आन्दोलन पर गहरा प्रभाव पड़ा । दसरे, उन्होंने भारतीय समाज के विकास के सम्बन्ध में कुछ नए विचार दिये। वे महान देशभक्त थे। वे देश की एकता और स्वतन्त्रता का स्वप्न देखा करते थे । यद्यपि उनकी स्वतन्त्रता की धारणा प्रधानतया आध्यात्मिक है परन्तु उससे राजनीतिक स्वाधीनता के विचार

की भी प्रेरणा मिली। उनके संन्यासी के गीत शीर्शक कविता ने स्वतन्त्रता का पाठ पढाया। इस कविता में उन्होंने देश के नागरिकों को आह्वान करते हुए कहा– अपनी बेड़ियों को तोड़ डाल। उन बेडियों को जिन्होंने तुझे बाँधकर डाल रखा है। तू समझ ले दास दास है उसे प्रेमपूर्वक पूचकारा जाये अथवा कोड़ों से पीटा जाए वह स्वतन्त्र नहीं है।

4. राष्ट्रवाद के प्रबल समर्थक रू– विवेकानन्द रा ट्रवाद के प्रबल समर्थक थे और उनका स्पष्ट विचार था कि भारतीय राष्ट्र एवं समाज का पुनर्गठन धर्म और भारत के प्राचीन गौरव की नींव पर ही सम्भव है। धर्म सम्बन्धी उनकी धारणा पूर्णतया रूढ़िवादिता से मुक्त थी और उनके लिए छ धर्म का अर्थ था– शाश्वत तत्व का साक्षात्कार उन्हें भारतीय होने पर गर्व था और भारत राष्ट्र को अपना जीवन मानते थे, देश का कल्याण उनका अपना कल्याण था। उन्होंने स्वतन्त्रता को व्यक्ति के प्रांकरतिक अधिकार के रूप में स्वीकार करके यह घोशणा की कि प्रत्येक व्यक्ति को समान स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। परन्तु वे अधिकारों की अपेक्षा कर्त्तव्य को अधिक महत्व प्रदान करते थे और उनका कथन था कि मानव का कर्तव्य है कि वह समाज कल्याण के लिए कार्य और इसी उद्देश्य को लेकर अपना जीवन तक उत्सर्ग कर दे ।

वे व्यक्ति को सर्वोच्च मानते थे और उनकी मान्यता थी कि नैतिकता, सहिष्णुता, जनसेवा भी भावना से ओत–प्रोत व्यक्ति ही एक समृद्ध और महान राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं। समाज तथा राष्ट्र के घटक व्यक्ति में इन गुणों का विकास होगा तो समाज और राष्ट्र भी सशक्त होगा !

विवेकानन्द शक्ति के पूजक थे और उन्होंने शक्ति एवं निर्भयता का संदेश दिया। वी. पी. वर्मा इसे प्रतिरोधा का सिद्धान्त कहते हैं। उनका कथन था कि शक्ति के अभाव में व्यक्ति न तो अपना के अस्तित्व बनाये रख सकता है और न अपने अधिकारों की रक्षा कर सकता है। एक पराशीन राष्ट्र लिए इस प्रकार का संदेह अत्यधिक महत्वपूर्ण है ।

5. आध्यात्मिक समाजवादी– विवेकानन्द ने जीवनभर शोषण और असमानता का विरोध ज किया और देश के उच्च वर्गों की शोषण–प्रवृत्ति की कठोर शब्दों मे निरन्तर भर्त्सना की। इस प्रकार उनके विचार समाजवाद के निकट पहुँच जाते हैं, परन्तु उनके समाजवाद को भौतिक समाजवाद की अपेक्षा आध्यात्मिक समाजवाद कहना उपयुक्त है। उन्होंने एक ऐसी राज–व्यवस्था की स्थापना का स्वप्न देखा, जिसमें ज्ञान, शक्ति, अर्थ तथा श्रम का समन्वय हो ।

विवेकानन्द का राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद की सीमाओं को स्पर्श करता था। शिकागो की धर्म संसद में उन्होंने विश्व बन्धुत्व का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। विवेकानन्द ने भारतीय समाज में व्याप्त कुरीरियों पर कठोर प्रहार किया। उन्होंने देश में व्याप्त भुखमरी और दरिद्रता को एक सामाजिक अभिशाप माना तथा देश के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कतिक उत्थान के लिए निरन्त देशवासियों का आहवान किया। उनके व्यक्तित्व में एक सच्चे संन्यासी और समाज सेवक का अपूर्ण समन्वय था।

अभ्यास प्रश्न

1. स्वामी विवेकानन्द का संक्षिप्त जीवन परिचय प्रस्तुत करते हुए राष्द्रवाद के संबन्ध में उनके विचारों की समीक्षा करें।
2. विवेकानन्द के राजनीति संबंधी विचारों पर टिप्पणी लिखें।
3. स्वामीजी के समाज कल्याण संबंधी विचारों का वर्णन करें।
4. स्वामी विवेकानन्द के शिक्षा एवं धर्म संबंधी विचारों की व्याख्या करें।
5. समाजवादी व्यवस्था के संबंध में विवेकानन्द की क्या सोच थी? स्पष्ट करें।

bdkb & 9 गोपाल कृष्ण गोखले (GOPAL KRISHNA GOKHLE)

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के उदारवादी नेताओं की पंक्ति में गोपाल कृष्ण गोखले देशसेवा एवं कर्तव्य भावना से आत–प्रोत थे महात्मा गांधी उन्हें अपना राजनीतिक गुरू मानते थे। उनकी वाणी को ओज एवं संयम तर्कपूर्ण नींव पर आधारित था । संवैधानिक साधनों के वे पक्षधर थे । चरित्र की पवित्रता व सरल जीवन उनकी देशभक्ति के मार्ग के द्वार थे। राजनीतिक–आर्थिक–सामाजिक सभी पक्ष उनके चिंतन के आधार थे। कमिक सुधारों में वे विश्वास करते थे। ब्रिटिश चरित्र व न्यायप्रियता पर उन्हें विश्वास था ।

उन्नीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ पुनर्जागरणकालीन भार की तीन मुख्य अवस्थायें समय की दृ ष्टि से सर्वथा पृथक नहीं की जा सकतीं। प्रथम अवस्था में पाश्चात्य सभ्यता की दो मुख्य विशेषतायें बुद्धिवाद व उदारवाद को स्वीकारा गया, दूसरी अवस्था में उसके विरूद्ध प्रतिक्रिया हुई और तीसरी अवस्था से पूर्वी व पश्चिमी संस्कृति के श्रेष्ठ तत्वों के समन्वय के प्रयास हुए। बंगाल से प्रारम्भ यह आन्दोलन सामाजिक–धार्मिक आन्दोलन से उद्भूत होकर एक सशक्त राष्ट्रीय आन्दोलन का आधार बन गया जिसकी सुखद परिणति भारत की स्वतंत्रता में हुई।

राममोहन राय तथा महादेव गोविन्द रानाडे आदि नेताओं ने बुद्धिवाद का आश्रय लेकर भारतीय समाज की जड़ों को आघात पहुंचाने वाली विभिन्न रूढ़ियों को दूर करने के प्रयास किये। पश्चिमी उदारवाद से प्रभावित नेताओं ने बंगाल (सुरेन्द्र नाथ बनर्जी), महाराष्ट्र (गोपाल कृष्ण गोखले, दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता) आदि में प्रतिनिधि संसथाओं के द्वारा लोकतांत्रिक आदर्शों को निकट लोने व भारतीयों में अधिकारों की चेतना विकसित करने का प्रयास किया। पुनर्जागरण के ये नेता स्वयं को उदारवादी नहीं कहते थे । नरम दल के नाम से जाने वाले ये नेता उग्रवादी दल से भिन्न विचारधारा के थे ।

भारतीय उदारवादी परम्परा का दर्शन सामाजिक व धार्मिक सुधारक राजा राममोहन राय एवं महादेव गोविन्द रानार्ड के विचारों व कार्यों में दृष्टिगत होता है तो राजनीतिक क्षेत्र में दादाभाई नौराजी, फीरोजशाह मेहता, गोखले नाथ बनर्जी में इस राजनीतिक विरासत को बाद में सी.वाई. चिन्तामणि, चमनलाल सीतलवाड, श्रीनिवास शास्त्री, तेज बहादुर सप्रू, एम. आर. जयकर ने आगे बढ़ाया ।

वाल्टर बेजहॉट का चेतनापूर्ण नरसी वाक्यांश भारतीय उदारवादी परम्परा की सही व्याख्या करता है। चेतनापूर्ण नरमी वाला व्यक्ति अपने भीतर बहुत शक्ति होते हुए भी अति नहीं करता और इसीलिए सफल रहता है। उसमें बहुत गति होती है फिर भी वह ठीक समय पर रूकना भी जानता है। इस परम्परा के प्रारम्भिक नेता नौराजी, मेहता, गोखले व बनर्जी आदि वीर राष्ट्रीय योद्धा थे जो ब्रिटिश शासन के निर्भीक आलोचक थे पर वे संयम नहीं खोते थे। स्वशासन इनका उद्देश्य था । शुरूआती दौर में मांगे छोटी–छोटी थीं। जैसे कि सिविल सर्विस की परीक्षा के लिए आयु घटाना व भारत में भी इस परीक्षा का आयोजन, विधान परिषद के आकार में वृद्धि व उसमें निर्वाचित भारतीयों को प्रवेश देना, न्यायिक व कार्यपालिका के कार्यों का पृथक्करण आदि । अपनी मांगों की सीमा जानने के कारण वे उनका अतिक्रमण नहीं करते थे । व्यवहारकुशलता के कारण वे अपनी मोंगों की आंशिक पूर्ति से भी निराश नहीं होते थे।

संवैधानिक साधनों में विश्वास व ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठा उनके राजनीतिक विश्वास की धुरी थे। उनका स्वशासन ब्रिटिश साम्राज्य के एक अंग के रूप में था (डॉमिनियन स्टेटस) निष्क्रिय प्रतिरोध में उनका विश्वास नहीं था। पूर्ण स्वाधीनता उन्हें अव्यावहारिक

प्रतीत होती थी। वे राष्ट्रीय एकता के पक्षधर थे । उनका दृष्टिकोण असाम्प्रदायिक था। लोकतांत्रिक मूल्यों से पूर्ण ये नेता भारत में प्रतिनिधी व संसदीय संस्थाओं की स्थापना कर स्वशासन की ओर अग्रसर थे। इससे वे शासन में भागीदारी के साथ संसदीय लोकतंत्र की प्रशिक्षण भी स्वतंत्र भारतीयों के लिए देने की व्यवस्था करने के कारक बन सके ।

जीवन परिचय

महाराष्ट्र के रत्नगिरि जिले के गांव कोटलक में पिता कृष्णराव तथा माता सत्यभामा के परिवार में गोपाल कृष्ण गोखले जन्म 9 मई, 1866 को हुआ । चितपावन ब्राह्मण परिवार के पिता कोल्हापुर की देशी रियासत में लिपिक थे। तेरह वर्ष की अल्पायु में पिता की मृत्यु के बाद परिवार चाचा अनंत के साथ गया। बड़े भाई गोविन्द ने नौकरी कर परिवार तथा गोपालकृष्ण की शिक्षा का व्यय उठाया, कोल्हापुर के राजा राम कॉलेज के बाद वे डेकन कॉलेज, जूना व ऐलफिंस्टन कॉलेज, बम्बई (1881) के छात्र रहे। गणित के छात्र गोखले को अंग्रेजी साहित्य में विशेष रूचि थी, बर्फ की रचना 'Reflection on the French Revoltuion'] chVu 'Public Speaker' बेकन के 'Essays' व ब्राइट के 'Speeches' के कुछ अंश उन्हें याद थे। बर्फ की भाषण कला व रूढ़िवाद दोनों ने उन पर प्रभाव डाला। उन्होंने स्नातक पास कर न्यू इंग्लिश स्कूल (बाद में फर्ग्यूसन कॉलेज) से नौकरी प्रारम्भ की। फिर वे पूना के दक्षिण शिक्षा समाज (क्मबबंद म्कनबंजपवद ैवबपमजल) के आजीवन सदस्य बने । उन्होंने 75/— रूपये मासिक वेतन पर सोसाइटी शिक्षक बन कर सेवा की। 1892 से 1898 तक वे इसके सचिव व कालान्तर में इसके प्रमुख प्रवक्ता बने । सोसायटी के सेवा काल में वे बाल गंगाधर तिलक, आगरकर, महादेव गोविन्द रानाडे के संपर्क में आये। तिलक व आगरकर उनके कॉलेज के सहकर्मी थे । तिलक की अपेक्षा आगरकर सामाजिक सुधार, पाश्चात्य सभ्यता, हिन्दू विश्वासों के गुण—दोषों पर समान विचारों के कारण गोखले के ज्यादा निकट थे । तिलक व उनके मतभेद धीरे— धीरे बढ़े व अन्ततः कांग्रेस में भी प्रकट हुए।

पूना के मुकुट विहीन राजा कहलाने वाले महादेव गोवन्द रानाडे का गोखले पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। रानाडे ने उनकी प्रतिभा को समझ कर उन्हें प्रशिक्षण दिया। यह कठोर परिश्रम राजवेता के रूप में उनके बड़े काम आया । रानाडे उन्हें मूल अभिलेख देकर अनेक पुस्तकों का अध्ययन कर लेख याचिकायें व स्मरण पत्र तैयार करवाते थे । रानाडे को गोखले अपना गुरू मानते थे । इस आध र शिला से गोखले ने कठार परिश्रम, नैतिकता के प्रति उत्साह, आध्यात्मिक उत्कर्ष, उदारवादी सिद्धांत व व्यापक संवेदनायें भी ग्रहण कीं । चारित्रिक उत्थान को राजाने राष्ट्रीय प्रगति का आधार मानते थे । इस महान समाज सुध ाारक से गोखले ने अर्थशास्त्र का भी अध्ययन किया। पूना की सार्वजनिक सभा भारत की मुख्य राजनीतिक संस्था के रूप में जनता की आवश्यकताओं व विचारों की ओर सरकार का ध्यान सार्वजनिक महत्व के प्रश्नों पर स्मरण पत्र भेज कर आकर्षित करती थी । सचिव के रूप में कई वर्ष तक स्मरण पत्र गोखले ही तैयार करते थे।

दक्षिण शिक्षा समाज के सचिव के रूप में फर्ग्युसन कॉलेज के भवन हेतु जन संग्रह हेतु भी गोखले को अनेक यात्रायें व जन सम्पर्क करना पड़ा। इससे वे एक सुपरिचित नाम बन गये। आगरकर की सुधारक पत्रिका में भी वे निरन्तर लिखते थे। इन सबसे वह विचार विश्लेषण व अभिव्यक्ति की कला में निपुण बने । रानाडे से नरम व संयत भाषा की प्रेरणा भी गोखले ने सीखी। 1902 में दक्षिण शिक्षा समाज से सेवानिवृत्त होकर वे सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट हुए। गोखले पर फिरोजशाह मेहता का भी प्रभाव था।

सन् 1889 में गोखले ने कांग्रेस में प्रवेश किया। 1895 में कांग्रेस के मंत्री बने। 1897 में वह दक्षिण शिक्षा समाज के प्रतिनिधि के रूप में सेलबी कमीशन के समक्ष गवाही हेतु इंग्लैण्ड गये। 1902 में वे केन्द्रीय विधान परिषद के सदस्य बने। उनके तर्कपूर्ण तथ्यों पर आधारित व रचनात्मक सुझावों से पूर्ण भाषणों का आकर्षण सदस्यों व शासकों दोनों पर था। उनके

विचारों व सुझावों पर शासकीय कार्य भी होता था द्य नमक कर को हटाने अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा, सरकारी नौकरियों में भारतीयों के साथ भेदभाव न करने, सरकारी व्यय में कमी आदि में उन्होंने अपनी वक्तव्य कला प्रदर्शित कर अपना प्रभाव डाला। लार्ड कर्जन के नकारात्मक सुधारों का उन्होंने विरोध किया। विश्वविद्यालय अधिनियम, प्रेस अधिनियम, शासकीय गोपनीयता अधिनियम आदि विरोध से वह न रुक सके। लार्ड कर्जन भी उनकी प्रतिभा के कायल थे व उन्हें सी.आई.ई. का खिताब दिया ! सन् 1905 में गोखले बनारस कांग्रेस के सभापति बने । बहिष्कार को समर्थन वे अंतिम अस्त्र के रूप में ही करना चाहते थे । नरम दल के नेता के रूप में वह कांग्रेस का अनेक वर्ष तक कार्य करते रहे। प्रारम्भिक उत्साह के बार 1909 के सुधारों पर निराश होकर उन्होंने उसकी आलोचना की। 1912 में दक्षिण अफ्रीका के रंगभेद विरोधी आन्दोलन में गांधी की सहायता की । अत्यधिक परिश्रम के कारण 1915 मे 49 वर्ष में ही गोखले की मृत्यु हो गयी। वे देश का पुनर्निर्माण कमिक सुधारों से करना चाहते थे। इसी पर उनका गरम दल से मदभेद था जो उन्हें दुर्बल हृदय वाला कहते थे। भारत में सुधारों की उनकी विस्तृत योजना गोखले का राजनीतिक वसीयतनामा कहलाती है। प्रांतीय स्वायतता आदि सुझाव बाद में मॉटफोर्ड सुझावों का आध ार बने। ये सुझाव बम्बई के गवर्नर लार्ड विलिंग्टन के आग्रह पर भारत में संवैधानिक सुधारों के लिए थे।

सन् 1897 से 1914 की अवधि में उन्होंने ब्रिटेन में सकारात्मक व सहानुभूति वातावरण व जनमत निर्माण हेतु सात बार इंग्लैण्ड की यात्रा की। अस्वस्थ रहने पर भी सार्वजनिक मामलों में उनकी रूचि व कठोर परिश्रम में कमी नहीं आयी । गोखले के लेख मराठा, केसरी, व सुधारक में प्रकाशित हुए। गोखले ने सुधारक (आगरकर द्वारा प्रकाशित) एवं सार्वजनिक सभा के क्वार्टरलीश रिव्यू का भी संपादन किया।

सामाजिक विचार

गोखले राजा राममोहन रॉय व बाल गंगाधर तिलक के समान सामाजिक आन्दोलन के लिए सक्रिय नहीं माने जाते हैं पर वे सच्चे सहिष्णु समाज सुधारक थे। उन्होंने अपने जीवन के प्रारम्भ में ही अनंत संभावनाओं को त्यागकर शिक्षा को क्षेत्र सेवा हेतु चुना। शिक्षा संभावनाओं के द्वार खोलने के लिए जनता हेतु आवश्यक थी। डेकन सोसायटी के साथ जुड़कर उन्होंने यही कार्य किया । दलितों व स्त्रियों की शिक्षा के भी गोखले पक्षधर थे। गोखले का जीवन त्याग, तपस्या, कठोर परिश्रम व जन सेवा की जीवन्त मिसाल था । देशसेवा उनका धर्म था।

गोखले रूढ़िवादिता का विरोध करते थे। हिन्दू धर्म के पूर्वाग्रहों के विरोध पर आगरकर व उनके विचार समान थे। संकीर्णता उन्हें रास नहीं थी । तिलक से मतभेद का एक कारण संकीर्णता का विरोध था। तिलक बाल विवाह का खुला समर्थन करते थे। शिक्षा हेतु भी गोखले की तुलना में तिलक का कार्य नगण्य व कट्टरपंथी प्रतीत होता है। धर्मनिरपेक्ष गोखले जाति व्यवस्था को प्रगतिविरोधी समझते थे। वे हिन्दू–मुस्लिम के मध्य मधुर सामाजिक सम्बन्धों को समर्थन करते थे। सामाजिक–धार्मिक सहिष्णुता व सद्भावना उनका लक्ष्य था ।

गोखले मानवतावादी थे। नशाबंदी और अकाल पीड़ितों के हेतु आग्रह एवं प्लेग के समय सहायता आदि सामाजिक कल्याण की भावना को दर्शाता है। वे पूर्ण नशाबंदी का समर्थन करते थे जिससे निर्धन इस घातक बुराई से दूर रह सकें। मद्यपान से प्राप्त राजस्व की कमी की पूर्ति हेतु उन्होंने दा. सुझाव दिये।

राजस्व अधिकारी को लाइसेंस देने वाला अधिकारी नहीं बनाना चाहिए तथा लाइसेंस की नीलामी बंद करानी चाहियें। मादक पदार्थों के दाम बढ़ाने से लाभ नहीं होता । दक्षिण अफ्रीकी रंगभेद नीति की आलोचना के साथ ही उसे दूर करने का भी गोखले ने प्रयास किया ।

आर्थिक विचार

गोखले के आर्थिक विचार भारतीय परिस्थितियों पर आधारित थे । ग्रणित ने उनके विचारों को तार्किक व तथ्यपूर्ण बनाया। इतिहासज्ञ व अर्थशास्त्री व ग्रामीण जीवन के संघर्ष ने उनकी सोच को व्यावहारिकता के निकट रखा। वे सम्पूर्ण आय का समान सा वितरण चाहते थे। भारतीय स्थिति पर आधारित सुझाव भी उन्होंने प्रस्तुत किये। इनकी दृष्टि से संवैधानिक उन्नति के लिए राष्ट्रीय वित्त पर नियंत्रण आवश्यक था।

(1) भारत के सैनिक व्यय में कमी का आग्रह– ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत में सैनिक विषयों में व्यय भारत के कुल राजस्व के अनुपात में विश्व के अन्य देशों से कहीं अधिक था। बैलबी आयोग के समक्ष साक्ष्य के रूप में ये तथ्य गोखले ने इंग्लैण्ड में प्रस्तुत किये। रूस में यह राजस्व का 21%, फ्रांस 19%, जापान में 16%, व इटली में 13% था । दिनशा वाचा भी इस यात्रा में उनके साथ थे। शांतिकाल में भी अत्यधिक सैन्य व्यय भारत जैसे गरीब देश के लिए संभव नहीं था । अतः सैन्य व्यय पर कमी अत्यावश्यक थी ।

इस व्यय में कमी हेतु भारत में रिजर्व सेना का भी गोखले ने सुझाव दिया। भारतीय सेना के भारतीकरण के सुझाव से सैन्य व्यय में कमी (अंग्रेज अधिकारियों को प्रदत्त भारी वेतन व भत्तों से मुक्ति) व शिक्षित भारतीय युवकों के अधिकारी के रूप में भर्ती के व्यापक अवसरों की ओर भी उन्होंने संकेत किया।

भारतीय जनता के हित के मूल्य पर भारतीय सेना के ब्रिटिश साम्राज्यवादी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उपयोग पर भी गोखले ने गंभीर आपत्ति प्रदर्शित की। भारतीय सेनाओं के भारत की सीमाओं से बाहर के अभियानों का व्यय ब्रिटिश सरकार द्वारा वहन किया जाना चाहिये। सरकार के अनावश्यक व्यय से जनता की गरीबी बढ़ रही थी। वे आय–व्यय में संतुलन के पक्षधर थे ।

(2) जनता पर करों के बोझ को कम करने का आग्रह –– भारतीय जनता पर करों के भारी बोझ के गोखले विरोधी थे। इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कॉसिल में सरकारी कर नीति की उन्होंने आलोचना की। 1902 के बजट भारण में वित्त सचिव द्वारा प्रस्तुत अधिशेष को उन्होंने आपत्तिजनक व दोहरे अन्याय वाला बताया। आर्थिक विपन्नता वाली जनता पर करों का आवश्यकता से अधिक भार थोपा जा रहा था। दूसरी ओर सरकार अर्जित आय का अधिकांश भाग जन कल्याण हेतु खर्च करने के स्थान पर सैन्य व्यय व सरकारी तंत्र पर उपयोग कर रही थी। इससे भारत की गरीबी और अधिक बढ़ रही थी। जनकल्याण का कार्य प्रांतों पर है। अतः राजस्व का अधिकांश भाग केन्द्रीय सरकार द्वारा लेना उचित नहीं है, ऐसा गोखले का विचार था।

कर व्यवस्था सुधार हेतु गोखले ने सरकार को ठोस सुझाव दिये जैसे– अकाल के समय भू राजस्व माफ करना, आय कर से मुक्ति की सीमा में वृद्धि, सूती कपड़े के उत्पादन पर आबकारी ड्यूटी हटाना, नमक पर कर की दरों में कमी, आदि। वे सरकार की राजस्व नीति की निर्भीक तथ्यपूर्ण आलोचना प्रस्तुत करते थे। प्रशासनिक दक्षता के नाम पर प्रशासनिक व्यय में राजस्व का उपयोग शासन की जनकल्याणकारी गतिविधियों के विपरीत प्रभाव डाल रहा था । अर्थशास्त्री की उनकी पैनी दृष्टि समस्या की जड़ तक पहुंच कर समाधान प्रस्तुत करने से हिचकती नहीं थी। इस गहरी पैठ व दृष्टि हेतु वे अथक परिश्रम करते थे।

(3) मुक्त व्यापार की नीति के प्रति संशय – मुक्त व्यापार नीति के भारतीय स्थितियों में संभावित गंभीर दुष्परिणाम उनकी समझ के अंदर थे। औद्योगीकरण के लिए आधरभूत ढांचा व आर्थिक विकास की न्यूनतम दर के अभाव में भारत या किसी भी अन्य देश को मुक्त व्यापार में निकलना न्याय के प्रतिकूल है। इसे व्यापक रूप से लागू करना उचित नहीं है क्योंकि मुक्त व्यापार अन्य उदारवादी मूल्यों भ्रातृत्व, स्वतंत्रता जैसा पवित्र नहीं है । उदारवादी होते हुए भी भारतीय स्थितियां व हित उनके सामने सर्वोपरि था ।

मुक्त व्यापार की (ईस्ट इण्डिया कम्पनी की) नीति से भारत में लघु व कुटीर उद्योग के माल

को विदेशों में बड़े कारखानों में लघु व कुटीर उद्योग के माल को विदेशों में बड़े कारखानों में मशीनों से तैयार माल से प्रतियोगिता करनी पड़ी। इससे कुटीर व लघु उद्योग नष्ट हो गये। उनमें कार्यरत लोग बेरोजगार या पूणतः कृषि आधारित हो गये। इस नीति के हानिकारक पक्ष स्वरूप भारत में औद्योगिक विकास पूंजी निवेश के प्रयास नहीं किये गये। तकनीकी एवं औद्योगिक शिक्षा के प्रसार हेतु भी कार्य नहीं किया गया। इससे उद्योगों (लघु), दस्तकारी, शिल्प के नष्ट होने के साथ ही औद्योगीकरण के लाभों जैसे उद्योगों के विस्तार, औद्योगिक रोजगार में वृद्धि आदि से भी भारत वंचित रहा ।

भारतीय उद्योगों के लिए संरक्षण की सतर्क व विवेकसंगत नीति अपनाना गोखले के अनुसार आवश्यक था । संरक्षण नीति को पर्याप्त सतर्कता व सकारात्मक दृष्टिकोण से अपनाना आवश्यक था जिससे विकासशील उद्योगों को आवश्यक प्रोत्साहन व समर्थन दिया जाता है। पर यह आम जनता के लिए अहितकर नहीं होना चाहिए । अनुचित संरक्षण शक्तिशाली औद्योगिक हित को राज्य संरक्षण देकर आम जनता के लिए अहितकर हो सकता है।

गोखले मुक्त व्यापार व संरक्षण के अच्छे पक्षों से युक्त नीति को भारत के लिए उचित समझते थे। स्वतंत्र भारत की मिश्रित नीति का स्त्रोत गोखले भी थे। वे उद्योगपतियों से उद्योगों में शिक्षित भारतीयों की नियुक्ति के समर्थन थे व भारतीय माल हेतु विदेशों में मंडियां चाहते थे।

(4) ग्रामीण ऋणग्रस्तता – किसानों की दीन–हीन ऋणग्रस्त दशा से गोखले चिंतित थे । एक ओर किसान साहूकार द्वारा शोषित थे तो दूसरी ओर वे सरकार के करों के बोझ से भी दुखी कोप न्यन्तो हो भन अपनी कृषि भूमि या अन्य संसाधनों को गिरवी रखनी पड़ती थी। अतः सरकार के इस समस्या के समाधान हेतु लैंड एलिनिएशन बिल का उन्होंने विरोध किया। ये सहकारी साख समितियों की स्थापना के द्वारा ग्रामीणों व कृषकों को वित्तीय सुविधओं की संस्थागत व्यवस्था चाहते थे। कालान्तर में स्वतंत्र भारत मे सहकारी संस्थाओं व बैंकों को गोखले के सुझाव से उद्भूत उत्तराधिकारी माना जा सकता है। इसी सन्दर्भ में बंगलादेश के नोबेल पुरस्कार विजेता (सहकारी आन्दोलन– बैंक––श्री युनुस) का नाम उल्लेखनीय है। ये प्रयास आज के विश्व व भारत दोनों में गोखले के
सुझाव की प्रासंगिकता दर्शाते हैं।

गोखले कृषि के क्षेत्र में उत्पादन की तकनीकों में सुधार, उत्पादन के समुचित साधनों की उपलब्धता तथा विपणन के स्तर पर कृषकों के हित संरक्षित करने हेतु सरकारी हस्तक्षेप को उचित मानते थे। उन्होंने सुझाव दये–भूमि की सरकारी मांग में कमी, भूमि सुधार व कृषि सम्बन्धी ऋणग्रस्तता को दूर करना, सिंचाई व वैज्ञानिक ढंग से खेती आदि। गोखले किसानों को करों में उचित राहत देने तथा कर वसूली के तरीकों में समुचित परिवर्तन के पक्षधर थे ।

(5) भारत में रेल विस्तार को प्राथमिकता का विरोध – रेलों के विस्तार हेतु भारी व्यय के गोखले विरोधी थे। वैलबी आयोग में एक सदस्य द्वारा रेल के प्रसार से एक सुदृढ़ औद्योगिक आध र का तर्क दिया गया। गोखने का निर्भीक उत्तर था कि ऐसा भारत के प्रशासन पर अपनी पकड़ मजबूत बनाने व ब्रिटिश औद्योगिक हितों की रक्षा हेतु किया गया। वे सरकार द्वारा जनकल्याणकारी गतिविधियों में धन के उपयोग तथा भारतीय उद्योगों को संरक्षण देने की अधिक आवश्यकता पर बल देना चाहते थे। जबकि सरकार उनकी उपेक्षा कर रेलवे विस्तार पर अत्यधिक व्यय कर रही थी । विदेशी व्यापारियों को प्रदत्त अधिक रियायतों व सुविधाओं से रेलों में घाटा हो रहा था।

गोखले के प्रतिवर्ष बजट अधिवेशन के भाषण देश की आर्थिक स्थिति, सरकार की आर्थिक नीति व सुझावों पर ध्यान आकर्षित करते थे। भारत की कृषि व्यवस्था को सुदृढ़ करने व औद्योगीकरण की जनहितकारी नीति (रोजगारपरक आत्मनिर्भरता व आत्मसम्मान वर्धक)

हेतु राजकीय संरक्षण, संस्थागत समर्थन न जनकल्याण के वह पक्षधर थे। उनके प्रयासों से नमक कर ढाई रुपये से घटाकर आठ आने प्रति मन हो गया। जनता का हित उनकी प्राथमिकता था। वे कृषि के साथ–साथ औद्योगिक विकास के भी समर्थक थे अन्यथा देश की भावी प्रगति में बाधा होती। इसी हेतु वे औद्योगिक व तकनीकी शिक्षा का विकास चाहते थे।

सहकारी साख समितियों की स्थापना का उनका सुझाव स्वीकार किया गया। बम्बई प्रजीडेंसी में यह योजना बहुत सफल रही। शिक्षा को गोखले विकास के लिए एक मूलभूत शर्त मानते थे। एक शिक्षक के रूप में व शिक्षार्थी के रूप में भी वे शिक्षा की महत्ता से सुपरिचित थे। शिक्ष के प्रसार के अभाव में राजनीतिक–समाजिक जागृति व आर्थिक आत्मनिर्भरता की प्राप्ति संभव नहीं थी। भारत में ब्रिटिश संपर्क से पश्चिमी शिक्षा व उदारवाद से परिचय को वे महत्वपूर्ण मानते थे, विशेषतः सामाजिक रूढ़िबद्धता से मुक्ति हेतु।

अपने जीवन के प्रारम्भ में ही गोखले ने 75 रुपये के वेतन पर दक्षिण शिक्षा समाज की सेवा का संकल्प लेकर शिक्षा के प्रति अपनी प्रतिबद्धता का परिचय दिया। उनकी शिक्षा की ध ारणा व्यापक श्री । प्रशासन की तकनीकें, जनस्वास्थ्य व स्वच्छता, उन्नत तकरीक में दक्षता, सामाजिक सहिष्णुता व समानता, संवैधानिक आन्दोलन के तरीके भी उनके अनुसार शिक्षा का अंग थे। पठन–पाठन – लेखन अनके लिए प्राथमिक क्षमता थी । औद्योगिक व तकनीकी शिक्षा, स्त्री शिक्षा व प्राथमिक शिक्षा पर उन्होंने विशेष बल दिया। प्राथमिक शिक्षा हेतु जा उन्होंने 1910 व 1912 में विधेयक भी प्रस्तुत किया। (1) प्राथमिक शिक्षा – गोखले के 1910 व 1912 के प्राथमिक शिक्षा विधेयक जन इच्छा के साथ–साथ ब्रिटिश उदाहरण (1870 प 1876 के शिक्षा एक्ट व 1892 का आयरिश शिक्षा एक्ट) से भी प्रभावित थे। बिल का उद्देश्य देश की प्राथमिक शिक्षा व्यवस्था में अनवार्यता का तत्व सम्मिलित करने की इच्छा है। अन्य देशों में भी जन प्राथमिक शिक्षा के प्रसार हेतु किसी न किसी रूप में उसे अनिवार्य बनाना पड़ा। भारत में भी ऐसी अनिवार्यता का प्रारम्भ करना आवश्यक है।

1906 में बड़ौदा राज्य ने अपने यहां निःशुल्क, सार्वभौम, अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा का प्रारम्भ किया था । निःशुल्क अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की मांग 1855 में अक्षय कुमार दत्त ने गवर्नर जनरल को स्मरण देकर की थी।

गोखले के बिल में (स्थानीय संस्थाओं द्वारा) किसी अन्यायपूर्ण दबाव या कार्य को रोकने हेतु यह व्यवस्था केवल लड़कों पर प्रांतीय सरकार द्वारा पूर्व अनुमति के उपरान्त ही लागू होनी थी। बिल 1912 में पुनः प्रस्तुत किया गया। गोखले इसके सरकार द्वारा स्वीकार जाने के विषय में शंकित थे, पर वे अंग्रेजी शिक्षा कानून (1870) से पूर्व के अनेक असफल व विरोध ा वाले प्रयासों से भी परिचित थे। आज एक शताब्दी से अधिक समय के बाद भी भारत में प्राथमिक शिक्षा सभी तक पहुंचाने वाले श्सर्वशिक्षा अभियानश आदि जारी हैं। ब्रिटिश सरकार का विचार था कि भारतीयों पर अनिवार्यता की अपेक्षा समझना अधिक कारगर होगा। तर्क आज भी प्रासंगिक हैं।

गोखले का विधेयक पारित न होने पर भी सरकार व भारतीय नेतृत्व को जगा गया। स्वदेशी, स्वराज, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा आदि आंदोलनों की सफलता पर उच्च आदर्शयुक्त प्रारम्भिक शिक्षा बिल (1910 1912) की सफलता भारतीय नेतृत्व पर भी एक प्रश्नचिन्ह लगाती है। भारतीय राजनीतिक दलों द्वारा शिक्षा सम्बन्धी प्रस्तावों का अनुपात उनकी शिक्षा के प्रति गंभीरता को सूचक है जो तब और आज दोनों स्थिति में देख जा सकता है।

विधान परिषद में गोखले प्राथमिक निःशुल्क शिक्षा हेतु व स्त्री शिक्षा हेतु आवाज उठाते रहे। उन्होंने स्वैच्छिक प्रयत्नों को भी बल दिया।

(2) तकनीकी शिक्षा – औद्योगिक विकास हेतु गोखले तकनीकी शिक्षा पर बल देते थे। वे सरकार द्वारा तकनीकी शिक्षा के प्रसार पर व्यय निश्चित करवाना चाहते थे। कृषि,

अभियंत्रिकी व अन्य तकनीकी क्षेत्रों की उपेक्षा को वे प्रगति में बाधक मानते थे। इसका कारण आर्थिक पिछड़ेपन को दूर करना भी था।

पाश्चात्य शिक्षा का समर्थन – तत्कालीन उदारवादी नेताओं के समान गोखले भी पाश्चात्य शिक्षा को भारतीय रूढ़िवादी मानस के बंधन मुक्त कर उसे मुक्त व व्यापक बनाने हेतु समर्थन व प्रशंसा करते थे। वे उस उदात्त परम्पराओं के स्तर पर लाने हेतु प्रयासरत थे । सहिष्णुता (धर्म, जाति, लिंग) हेतु भी वे इसके समर्थक थे ।

(4) उच्च शिक्षा व विश्वविद्यालय स्वायतता का समर्थन उच्च शिक्षा का बे उदारवादिता एवं अधिकारों व दायित्वों हेतु समर्थन करते थे । विश्वविद्यालय स्वायत्तता को सीमित करने के सरकारी प्रयासों के वे विरोधी (इंडियन यूनिवर्सिटीज एक्ट, 1904) थे। उनके विरोध के बाद भी यह एक्ट सरकार द्वारा पारित किया गया। अपने व्यक्तिगत प्रयासों एवं व अथक परिश्रम से गोखले ने फर्ग्युसन कॉलेज की पूना में स्थापना की।

इकाई– 10 गोपाल कृष्ण गोखले के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार

राजनीतिक विचार

बहुमुखी प्रतिभा के धनी गोखलें उदारवादी, व्यावहारिक आदर्शवादी तथा आध्यात्मिक राजनीति के पक्षधर कहलाते हैं। वे कमिक सुधारों के पक्षपाती थे व ब्रिटेन के साथ भारत के घनिष्ठ सम्बन्ध को समर्थन भारतीयों के कल्याण हेतु करते थे । उदारवादी विचारधारा के संयत गोखले को. चे उग्रवादी सदस्य अच्छा नहीं समझते थे। तिलक के साथ उनके मतभेदों का यही आधार था । सरकार व जनता के विचार एक–दूसरे तक संम्प्रेषित करते थे और दोनों पर विरोध भी इसी कारणवश सहते थे। इस सच्चे देशभक्त के जीवन का उद्देश्य देश सेवा था ओर यही उनका धर्म था । सहृदयता, उदारता व कष्ट सहनशीलता को वे अच्छे चरित्र के समान ही देश के विकास हेतु आवश्यक मानतें थे। संवैधानिक साधनों में वे विश्वास करते थे। इन सभी की झलक उनके जीवन में भी प्रतिबिम्बित होती है। उनके विचार निम्नांकित बिन्दुओं द्वारा समझे जा सकते हैं–

(1) ब्रिटिश उदारवाद में विश्वास – समयकालीन उदारवादी नेताओं की भांति गोखले को ब्रिटिश न्यायप्रियता में विश्वास था तो ब्रिटिश शासन की लोकतांत्रिक संस्थाओं व पाश्चात्य शिक्षा पद्धति तथा साहित्य के प्रति आकर्षण भी था। नौरोजी की भांति उनकी आशा थी कि अंग्रेजों में एक उच्च न्यायप्रिय राजनीतिक सोच का उदय भारत के साथ न्याय करेगा। वे अंग्रेजों की न्याय व उदार. भावना को उकसा कर उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य के लिए तैयार करना चाहते थे । उग्रवाद को वे भारत के लिए अहितकर मानते थे। तत्कालीन ब्रिटेन की शक्ति समार्थ्य के अनुसार यह व्यावहारिकता का परिचय था, पर अपने आत्मसम्मान के साथ।

(2) ब्रिटिश शासन को भारत के लिए वरदान मानना – ब्रिटेन के साथ संपर्क को वे भारत की बौद्धिक प्रगति व भावी निर्माण हेतु श्रेयस्कर मानते थे। भारत में शांति व स्यवस्था की स्थापना, पाश्चात्य शिक्षा, लोकतांत्रिक व्यवस्था व संवैधानिक संस्थाओं के ज्ञान से उन्हें ब्रिटिश सम्पर्क वरदान लगता था। भारत में व्यवस्था व शान्ति की स्थापना उनके इतिहासज्ञ मन को एक वरदान दिखाई देती थी। आज भी भारत में विभिन्न गुटों में संघर्ष, मनमुटाव व दंगे इस तत्व की याद दिलाते हैं कि देश की भौतिक– नैतिक–सामाजिक सम्पन्नता, स्थायित्व व शान्ति पर ही निर्भर है।

(3) गोखले ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासन चाहते थे । स्वशासन का अर्थ था ब्रिटिश अभिकरण के स्थान पर भारतीय अभिकरण की प्रतिष्ठा, विधान परिषदों का विस्तार व सुधार करते–करते उन्हें वास्तविक निकाय बना देना तथा जनता को सामान्यतः अपने मामलों का प्रबन्ध स्वयं करने देना, 1905 में बनारस कांग्रेस के अध्यक्षीय भाषण में वे एक निश्चित समय तक अन्य अपनिवेशों के समान स्वशासन के आकांक्षी थे। स्वशासन हेतु निम्न बिन्दु आवश्यक थे–

(i) इंग्लैण्ड में होने वाली सभी प्रतियोगी परीक्षाओं का भारत में आयोजन।

(ii) भारत मंत्री की परिषद व वायसराय की कार्यकारिणी परिषद में भारतीयों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व!

(iii) केन्द्रीय व प्रांतीय विधान परिषदों का विस्तार जिससे जनता का प्रभावी प्रतिनिधित्व हो सके।

(iv) स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं व नगरपालिकाओं की शक्ति बढ़ाना !

(4) संवैधानिक साधनों में विश्वास – उदारवादी गोखले क्रमिक सुधार व संविधानवाद के पोषक थे। प्रार्थना, स्मरण पत्र, प्रतिनिधि मंडल, वार्ता एंव शासन की रचनात्मक आलोचना उनके अस्त्र थे । विद्राह, हिंसा, कांति या उग्र आन्दोलन का इसमें निषेध था । बहिष्कार की राजनीति का, दबाव या भय को वे विरोध करते थे । वे भारतीयों को राजनीतिक जागरूकता व दायित्वबोध दिखाकर अधिक प्रशासनिक अवसर पाना चाहते थे। शासन से असहयोग कर प्रगति उन्हें असंभव प्रतीत होती थी । व्यावहारिक स्थिति व याथार्थ आज भी यही दर्शाता है। तथ्यों व तर्कों को आधार बनाकर समझा–बुझाकर वे महत्वपूर्ण लोगों के विचारों को अपने पक्ष में परिवर्तित करना चाहते थे। उत्तेजना की आंधी के वे पक्षधर नहीं थे, इसीलिए उनका मानना था कि संविधानवाद से स्थापित विचार व व्यवस्था में उथल–पुथल की संभावना होती है। स्वतंत्र भाषण, लेखन, संगठन, सभाओं, जुलूसों, शिष्टमंडलों आदि से जनमत को तैयार कर, रचनात्मक आलोचना के वे पक्षधर थे ।

गोखले जैसे उदारवादियों के इस मार्ग का भिक्षावृत्ति, दुर्बल ह्रदयता आदि कहा गया पर लोकतंत्र में संविधान व उसके साधनों को ही उचित कहा जा सकता है अन्यथा जंगल राज्य हो सकता है ।

(5) नौकरशाही की आलोचना –– कठोर व उत्पीड़न की नीति के वे विरोधी थे। उनके अनुसार सरकार में जनहित के प्रतीक किसी व्यक्ति का अभाव, शासन की पूर्ण केन्द्रीकृत होना, कार्मिकों का 5 वर्ष का सीमित कार्यकाल आदि नौकरशाही की कमियां थीं ।

(6) सत्ता के विकेन्द्रीयकरण का समर्थन सत्ता का विकन्द्रीकरण ही वास्ततिक लोकतंत्र व जनता के अधिकार का मार्ग है । केन्द्रीयकरण निरंकुशता व मनमानी को प्रोत्साहित करता है। शासन के विकेन्द्रीकरण से सम्बद्ध हॉबहाउस आयेग (1908) के समक्ष भी गोखले ने विकेन्द्रीकारण हेतु प्रांतीय व स्थानीय विकेन्द्रीकारण को बढ़ावा देने का पक्ष रखा।

गोखले का सुझाव था–प्रांतीय विधान परिषद की शक्ति में वृद्धि जैसे बजट पर स्वयं श विचार की शक्ति, जिला प्रशासन में कलैक्टर को प्रशासकीय सलाह जिला स्तरीय परिषद द्वारा ही जायें। उन्होंन सबसे नीचे पंचायत, फिर जिला परिषद (मध्य स्तर) व प्रांतीय विधान परिषदें का तीन स्तरीय संगठन सुझाया। प्रांतीय सरकारों को राजस्व के अधिकारी की भी मांग की। केन्द्रीय सरकार के पास प्रतिरक्षा, विदेश, मुद्रा, आबकारी, डाक––तार–रेल तथा कर विभाग हों, अन्य विभाग प्रान्तीय सरकार के पास हों ।

(7) राष्ट्रीय एकता पर बल – राष्ट्रीय एकता व दृढ़ता हेतु गोखले हिन्दू–मुस्लिम एकता को आवश्यक मानते थे, दोनों से ही वे सहिष्णुता व संयम की अपेक्षा करते थे। स्वयं भी तिलक के गणपति व शिवाजी महोत्सव में उन्होंने कोई रूचि नहीं प्रदर्शित की।

राष्ट्रवाद हेतु वे नैतिक चरित्र पर अत्यधिक बल देते थे। आज भारत में विकास का अपेक्षित व सर्वव्यापी रूप न होने का एक कारण चरित्र की दृढ़ता के अभाव से उत्पन्न भ्रष्टाचार है। कठोर परिश्रम, त्याग, सामाजिक चेतना व नैतिक दृढ़ता ही राष्ट्र की दृढ़ नींव डालती है। अपने इस राष्ट्रीय एकता व राजनीति के आध्यात्मीकरण हेतु गोखले ने 12 जून, 1905 को भारत सेवक समिति (Servants of India Society) के रूप में राजनीतिक कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था की । इसके संविधान में वे ब्रिटिश शासन में निष्ठा, चरित्र व क्षमता के विकास, उत्कट देशप्रेम, निर्भीकता, विधि में आस्था आदि विभिन्न गुणों व सार्वजनिक जीवन हेतु एक नेता के गुणों की सूची प्रस्तुत करते हैं ।

(8) राजनीति का आध्यात्मीकरण – राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन को गोखले

वास्तविक आध्यात्मिक भाव से परिपूर्ण करना चाहते थे। सार्वजनिक आचरण की पवित्रता, साधनों की पवित्रता, संयम व त्याग आदि गुणों को देखकर ही गांधी– गोखले को अपना राजनीतिक गुरू व महात्मा कहते थे । वे राजनीतिक संन्यासी भी कहलाते थें, संयम, सेवाधर्म, पवित्रता, चारित्रिक मनोबल उनमें कूट–कूटकर भरा था।

(9) प्रशासकीय सुधारों की मांग – गोखले वित्तीय प्रशासकीय व आर्थिक सुधारों के पक्षध ार थे अपने बजट भाषणों में वे सरकार पर सुधारों हेतु दबाव डालते थे। वे अनावश्यक व्यय के स्थान पर जनकल्याण हेतु कार्य चाहते थे। बनारस कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में उनकी मांगें थीं–

(A) विधान परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या घटाकर आधी करना,
(B) इंडिया कौंसिल में कम से कम 3 भारतीय संदस्यों की नियुक्ति,
(C) जिले में सलाहकार परिषद कलैक्टर को परामर्श दे,
(D) भारतीय लोकसेवाओं की न्यायिक शाखा की नियुक्तियां वकील वर्ग से,
(E) न्यायिक व कार्यपालिका विभागों का पृथक्करण !

(10) स्वदेशी आन्दोलन का समर्थन – स्वदेशी का अर्थ था– देश के लिए उत्कट प्रेम व भक्ति । इसीलिये वे इसे आर्थिक के साथ–साथ देशभक्ति का आन्दोलन भी मानते थे । यह त्याग, देश के आर्थिक विकास के प्रति रूचि व परस्पर सहयोग सिखाता है। भारत की मुख्य समस्या गोखले के अनुसार उत्पादन हेतु पूंजी व साहस का आभाव था। किसी विदेशी व्यक्ति या संगठन द्वारा भारत. में पूंजी व साहस लगाने को भी वे स्वदेशीवाद ही मानते थे ।

स्वदेशी के राजनीतिक – आर्थिक आन्दोलन की सफलता हेतु वे विभिन्न देशों की आर्थिक दशाओं का ज्ञान, भारतीय उद्योगपतियों द्वारा देशी उद्योगों हेतु वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराना, देश में तकनीकी, वैज्ञानिक व औद्योगिक शिक्षा का विस्तार, देश में उत्पादित वस्तुओं का उपयोग करने पर बल देते थे।

(11) स्वतंत्रता में विश्वास – मानस प्रगति हेतु वे स्वतंत्रता के पक्षधर थे। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों से भी ऐसा शासन चाहते थे कि भारतीय पश्चिम के लोकतांत्रिक आदशों के अनुरूप स्वयं शासन करने योग्य बन सकें। स्वतंत्रता के लिए वे न्यायपालिका व कार्यपालिका की पृथकता चाहते थे । जन अभिव्यक्ति हेतु वे स्वतंत्रता व प्रेस की स्वतंत्रता के दृढ़ समर्थक थे। उनकी अभिव्यक्तियां भी निर्भीकता, स्वतंत्र अभिव्यक्ति, आलोचना व रचनात्मक सुझावों का प्रदर्शन हैं। सार्वभौम वयस्क मताधिकार के वे पहले भारतीय प्रतिपादक थे ।

(12) भारत सेवक समाज श्री गोखले ने अपने विचारों और राजनीतिक विश्वासों को मूर्तरूप देने के लिए और उपने उद्देश्यों को कार्य रूप में परिणत करने के लिए भारत सेवक समाज संघ की स्थापना 12 जून, 1905 को की थी। कार्यालय पूना में था । इसका उद्देश्य था, देश के नवयुवकों को देशभक्तिपूर्ण राजनीतिक शिक्षा देना। इस संस्था के द्वारा वे राजनीतिक संन्यासी पैदा करना चाहते थे। उनके अनुसार भारत में राष्ट्र–निर्माण के कार्य में और अध िाक प्रगति के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षित ऐसी संस्था जरूरी थी जो सच्ची मिशनरी भावना के साथ कार्य में लग जाये। इस तथ्य की अनुभूति है हम सबसे पहले भारतीय हैं एक संगठित पुनर्निर्मित भारत का विचार एक निरर्थक सपना मात्र ही नहीं रह गया है, वह एक स्वीकृत धर्म है। सार्वजनिक जीवन के मार्गों को दिन–प्रतिदिन अधिक व्यापक मान्यता मिल रही है। इस आधार पर भवन निर्माण करने का महान कार्य अभी बाकी है। भारत सेवा संघ के सदस्य ब्रिटिश सम्पर्क को एक रहस्यमय ईश्वरीय इच्छा का परिणाम मानते थे । उसमें भारत की भलाई का संघ के सदस्यों का लक्ष्य वर्षो तक गम्भीर और ६ र्यपूर्वक प्रयासों तथा यथेष्ट बलिदान के बिना नहीं हो सकता। देश में कहीं अधिक उत्कृष्ट चरित्र और अधिक क्षमता के निर्माण की दिशा में बहुत कुछ कार्य करना है। मार्ग बड़ा कंटकाकीर्ण है।

सार्वजनिक जीवन के कार्य में सफलता की एक आवश्यक शर्त है सार्वजनिक जीवन का आध्यात्मिकरण, उत्साहपूर्ण देशभक्ति और निर्भीक हृदय । भारत सेवक संघ उद्यत व्यक्तियों को प्रशिक्षित करने और समस्त संवैधानिक साधनों द्वारा भारतीय जनता के राष्ट्रीय हितों के पोषण करने का प्रयास करता था। इसके मुख्य कार्य थे–राजनीतिक शिक्षा और आन्दोलन, विभिन्न जातियों के बीच सदभावनामय सम्बन्धों को दृढ़ करना, शैक्षणिक आन्दोलन, औद्योगिक विकास को मदद देना ।

संवैधानिक सुधारों का प्रारूप

यूरोप प्रथम विश्व युद्ध में विजय पाने के लिए ब्रिटेन की भारतीय जनता एवं नेताओं से तुरन्त सहयोग की आवश्कता थी। अतः सरकार ने सुधार सम्बन्धी भारतीयों की मांग के प्रति ध्यान देना शुरू किया। बम्बई प्रान्त के गवर्नर लार्ड विलिंगटन ने गोखले से फिरोजशाह मेहता और आगा खां (मुस्लिम लीग) के सहयोग से भारत के लिए संवैधानिक एवं प्रशासनिक सुधारों को ऐसा प्रारूप तैयार करने को कहा ।

गोखले ने केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों स्तरों पर सांविधानिक और प्रशासनिक सुधारों की रूपरेखा प्रस्तावित की, प्रान्तीय प्रशासन को भारत की केन्द्रीय सरकार और भारत सचिव के व्यापक नियंत्रण की परिधि से बाहर निकालकर जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों का प्रभावी नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे ।.

प्रत्येक प्रान्त में 6 सदस्यों वाली कार्यकारी परिषद में कम से कम तीन भारतीय सदस्य हों । विभागों का प्रभार सदस्यों को स्पष्टतः प्रदान किया जाना चाहिए। प्रान्तों में प्रभावशाली विधायी परषदें स्थापित की जानी चाहिये। कम से कम 80 प्रतिशत सदस्य विभिन्न निर्वाचन क्षेत्रों और हित समूहों से निर्वाचित होने चाहिये। अल्पसंख्यक के लिए विशेष प्रतिनिधित्व की व्यवस्था हो तथा विशेषज्ञों को छोड़कर कोई भी गैर सरकारी सदस्य मनोनीत नहीं होने चाहियें । प्रान्तीय स्तर पर कार्यकारी परिषद् विधायी परिषद् के प्रति वह सभी मामलों में जवाबदेह अवश्य हो ।

प्रान्तों को स्वायत्तता हो और आन्तरिक प्रशासन और वित्तीय मामलों में केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण से प्रान्तों में मुक्त रखा जाना चाहिए। प्रान्तीय सरकार निर्धारित अनुपात में करों से प्राप्त राजस्व को एक हिस्सा भारत सरकार को अंशदान के रूप में प्रदान करे

प्रान्तीय प्रशासन को व्यापक रूप से विकेन्द्रीकृत किया जाना चाहिए। स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का प्रभावी विस्तार किया जाना चाहिये। ग्राम पंचायतों नगर परिषदों व तालुका परिषदों को पर्याप्त वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराये जाने चाहिये ।

श्केन्द्रीय सरकार में वायसराय की कार्यकारी परिषद के 6 सदस्या जिनमें से कम से कम दो भारतीय हों इम्पीरियल लेजिस्लेटिव कौंसिल का नाम भारत की विधानसभा किया जाना चाहिए। अधि कारों और शक्तियों में वृद्धि करके इसे एक प्रभावशाली व्यवस्थापिका का रूप प्रदान किया जाना चाहिये–रक्षा, वित्त व अन्य सभी मामलों में। सेना में भारतीयों को कमीशन प्राप्त करने के व्यापक अवसर प्रदान किये जाने चाहिये। गोखले भारतीयों की भागीदारी को बढ़ाकर, स्वशासन के लक्ष्य की ओर एक और कदम बढ़ाना चाहते थे। नगरीय व ग्रामीण दोनों प्रकार की स्थानीय संस्थाओं को स्थापित करने के लिए गोखने ने जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण में सक्रिय भागीदारी की व्यवस्था की। गोखले के अंतिम लक्ष्य की अभिव्यक्ति न होकर उन्हें मॉर्ले–मिन्टो सुधारों की अपर्याप्तता के कारण उत्पन्न हुये असंतोष का तात्कालिक समाधान कहा जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न

1. गोखले की विचार धार किन स्थितियों या स्त्रोतों से प्रभावित थी ?
2. भारतीय स्वतन्त्रता संघर्ष में गोखले की भूमिका की विवेचना करें।
3. शिक्षा तथा राजनीतिक के संबंध में गोखले की क्या सोच थी ? व्याख्या करें।
4. गोखले के आर्थिक विचारों की समीक्षा करें।

इकाई– 11 बाल गंगाधर तिलक बाल
(BAL GANGADHAR TILAK)

बाल गंगाधर तिकल का जन्त सन् 1856 में महाराष्ट्र के रत्नागिरि नामक स्थान पर हुआ था । उनके पिता का नाम गंगाधर पन्त और माता का ना पार्वती बाई था पिता शिक्षा विभाग में काम करते थे । नाता धार्मिक महिला थीं । तिलक की माता का देहावसान जिस समय हुआ, तब वे केवल उस वर्ष के थे। उनकी वर्ष की अवस्था में ही उनके पिता का भी नि न हो गया था। इस प्रकार छोटी–सी अवस्था में ही उनको महान् कष्टों का समाना करना पड़ा, जिन्हे उन्होंने बड़े धर्य और आत्मविश्वास के साथ झेला ।

तिलक के सार्वजनिक जीवन का आरम्भ 1880 ई. में पूना में हुआ, जब उन्होंने चिपलूणकर के सहयोग से वहां न्यू इंगलिश स्कूल की स्थापना की थी। 1881 ई. में उन्होंने पत्रकारता के क्षेत्र में प्रवेश किया तथा श्मराठाश तथा श्केशरीश श्समाचार पत्रों को आरम्भ किया और अनेक सामाजिक

मैं

पूना बुराइयों के विरुद्ध जन–जागरण का कार्य अपने हाथों में लिया। 1889 ई. के अन्त की सार्वजनिक सभा ने उन्हें मुम्बई कांग्रेस में भाग लेने के लिए अपना प्रतिनिधि चुना। बाद में उन्होंने देश की धार्मिक और ऐतिहासिक परम्पराओं को पुनर्जीवित करने तथा राष्ट्रीय आन्दोनल को सशक्त बनाने के उद्देश्य से श्गणपित उत्सवश और शिवाजी उत्सवश आरम्भ किये।

1897 ई. में महाराष्ट्र में अकाल पड़ा तथा पूना में प्लेग फैला। उस समय उन्होंने जनता की अपार सेवा की। इसी समय पूना के प्लेग कमिश्नर रैंड की हत्या हुई तथा तिलक पर हिंसा और राजद्रोह के अपराध का आरोप लगाया गया तथा उन्हें 18 मास का कठोर कारावास दण्ड दिया गया। तिलक ने 1905 ई. में बंगभंग का विरोध किया तथा श्केशरी के माध्यम से स्वदेशी प्रचार, विदेशी बहिष्कार और स्वराज्य का सन्देश जन–जन तक पहुंचाया। 1905 ई में कांग्रेस के बनारस अधिवेशन में कांग्रेस के नरम और गरम दल के बीच मतभेद उत्पन्न हो गया। तिलक गरम दल के साथ रहे।

है । 1907 ई. में सूरत अधिवेशन में मतभेद और व्यापक बन गये, जिसे सूरत की फूट कहा जाता

उनके कान्तिकारी विचारों एवं कान्तिकारी आन्दोलन के समर्थन के कारण उन्हें 1908 ई. के छः वर्ष काले पानी का दण्ड देकर म्यामांर की माण्डले जेल में भेज दिया गया । यहीं उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ गीता रहस्य के नाम से गीता पर भाष्य लिखा। 1916 ई. में जेल से मुक्त होने पर पुनः राजनीति में सक्रिय हो गये और ऐनी बेसेन्ट के श्होमरूलश आन्दोलन में शामिल हो गए। उनके प्रयासों से 1916 ई. में कांग्रेस के लखनऊ अधिवेशन में कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के बीच श्लखनऊ पैक्टश हुआ। 1918 ई. में वे कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये, परन्तु शिरोल के विरूद्ध इंग्लैण्ड में मानहानि के मुकदमों में भाग लेने के कारण अध यक्ष पद को स्वीकार न कर सके। 1920 ई. में मुम्बई में उनका आकास्मिक निधन हो गया।

रचनाएँ – तिलक एक आन्दोलनकारी और राजनीतिज्ञ मात्र नहीं थे, वे एक सशक्त तथा विद्वान लेखक भी थे। उनके चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। ये है––

दि आरियन, दि आर्कटिक होत इन दि वेदाज, वैदिक कानालॉजी एण्ड वेदांग ज्यातिष तथा गीता रहस्य (मराठी भाषा में)। इन ग्रन्थों से तिलक की वद्वता, शोधवृत्ति, व्यापक ज्ञान और प्रतिभा का परिचय मिलता है । श्गीता रहस्य उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रूकृति है। यह गीता पर एक विस्तृत भाष्य है, जिसे उन्होंने माण्डला जेल में लिखा था ।

तिलक के विचारों की पृष्ठभूमि

तिलक के विचारा की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि– आध्यात्मिक दृष्टि से तिलक अद्वैतवाद के दर्शन में विश्वास करते थे और उनकी मान्यता थी कि एक ही अमर निर्गुण आत्मत्व प्राणी मात्र के शरीर और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। परन्तु तिलक शंकराचार्य के विपरीत संसार को मिथ्या या भ्रम नहीं मानते। उनका अद्वैतवाद सकियता और निष्काम कर्म का दर्शन हैं, जो मनुष्य का आशा का संदेश देता है और पीड़ा एवं कष्ट को सहते हुए कियाशील जीवन की ओर अग्रसर करता है। वी. पी. वर्मा का कथन है कि, श्अपने कर्मयोग के इस सन्देश में तिलक ने यजुर्वेद तथा गद्य उपनिषदों में प्रतिपादित कर्म के सिद्धान्त का सामाजिक आदर्शवाद, लोकतान्त्रिक, नैतिकता तथा गतिशील मानववाद की आधुनिक भावना के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया है।श तिलक की दृष्टि में कर्मयोग जीवन नैतिकता तथा ध ार्म का सांगोपांग तथा सुचित दर्शन है वह सुखवाद तथा इन्द्रियानुभववाद के सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करता। वह अन्तः प्रज्ञावाद के भी पार पहुंच जाता है और काण्ट तथा ग्रीन द्वारा प्रतिपादित नैतिकता के सिद्धान्त को भी पीछे छोड़ देता है। कर्मयोग का सन्देश हमें अपने. सामाजिक और राजनीतिक कर्तव्यों का पालन करने का शूरत्वपूर्ण साहस प्रदान करता है।

तिलक के अनुसार, मनुष्य को निःस्वार्थ भाव से अपने कर्तव्य को पूरा करना चाहिए और इसके लिए अपनी श्रेष्ठतम शक्तियां लगा देनी चाहिए। शुद्ध मन में कर्तव्य की पूर्ति करते हुए फल की आशा नहीं करनी चाहिए। यही लोक संग्रह हैं, यही सच्या कर्मयोग है।
तिलक ने धर्म और हिन्दू धर्म की व्यापक व्याख्या की है। उनके अनुसार
धर्म में ईश्वर तथा आत्मा के स्वरूप का ज्ञान तथा मोक्ष प्राप्ति के साधन सम्मिलित हैं और यही धर्म को सही अर्थ है। वे हिन्दू धर्म को सनातन धर्म मानकर कहते हैं कि सनातन शब्द इस बात का द्योतक है कि हमारा धर्म बड़ा प्राचीन है, उतना ही प्राचीन जितनी स्वयं मानव जाति । धर्म का शाब्दिक अर्थ है–बन्धर । किसको बांधना ? आत्मा को ईश्वर से और मनुष्य को मनुष्य से बांधना । हिन्दू धर्म में नैतिक और सामाजिक दोनों प्रकार के बन्धन की व्यवस्था है। उन्होंने कहा कि विश्व में हिन्दू धर्म का छोड़कर अन्य किसी धर्म में ऐसा कल्याणकारी वचन नहीं दिया गया है कि ईश्वर, जितनी बार हमें आवश्यकता होती है, उतनी बार हमारे पास आता है।

उनके अनुसार, मानव का अन्तिक लक्ष्य निष्काम कर्म करते हुए ईश्वर से एकत्व करना है, यही मोक्ष है। यदि मनुष्य ऐसा एकत्व चाहता है तो उसे संसार के हितों से भी एकत्व स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उसका एकत्व अपूर्ण रहेगा। तब वह तीनों तत्वों में से कवल दो तत्वों से ही एकत्व प्राप्त कर सकेगा (मनुष्य तथा ईश्वर) और तीसरा तत्व (संसार) छूट जायेगा।

उनकी मान्यता थी कि समाज की सेवा करना और इस प्रकार ईश्वर की इच्छा की पूर्ति करना मोक्ष प्राप्त करने का श्रेष्ठ मार्ग है। संसार में रहते हुए ही इस मार्ग पर चला जा सकता है, इसके लिए संसार से भागने की आवश्यकता नहीं है।

तिलक महान दार्शनिक थे, परन्तु वे जीवन में भकि् के महत्व को स्वीकर करते थे। उनका धार्मिक प्रतीकों में भी विश्वास था तथा वे अवतारवाद को स्वीकार करते थे। वे श्रीकृष्ण को ईश्वर का अवतार मानते थे और धार्मिक कर्मकाण्ड के विरोधी नहीं थे ।

तिलक की आकांक्षा थी कि हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदाय संगठित होकर शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण करें और ऐसा प्रयत्न करें कि हिन्दू धर्म की सरिता एक प्रचण्ड एकीकृत तथा केन्द्रित शक्ति के रूप में एक ही धारा में बहे ।

तिलक राजनीतिक दर्शन तिलक ने स्वतन्त्र रूप से किसी राजनीतिक दर्शन या सम्प्रदाय की नींव नहीं रखी और दस दृष्टि से उन्हें प्लेटो, अनस्तू, काण्ट, ग्रीन या हींगल की भांति राजनीतिक दार्शनिक नहीं कहा जा सकता। उनके समय में देश में विदेशी शासन था,

जिसके विरुद्ध अनेक देशभक्त आन्दोलन चला रहे थे। उस समय देश में राष्ट्रवाद की लहर चल रही थी और विदेशी दासता से मुक्ति के लिए चारों ओर छटपटाहट दृष्टिगोचर होती थी । तिलक भी उससे अप्रभावित नहीं रहे ओर वे राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े। इस प्रकार सक्रिय राजनीति में भाग लेते हुए उन्होंने राजनीति तथा राजीतिक समस्याओं पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये, जो उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हैं——

(1) स्वतन्त्रता की अवधारणा तिलक के आध्यात्मि दृष्टिकोण ने उनकी स्वतन्त्रता की अवध ारणा को प्रभावित किया। उनके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति में परमात्मा का अंश विद्यमान है, इसलिए प्रत्येक व्यक्ति में वही स्वतन्त्र आध्यात्मिक शक्ति निहित है, श्जो परमात्मा का गण है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रकृति से ही स्वतन्त्र है। उन्होंने कहा, श्स्वतन्त्रता ही व्यक्तिगत आत्मा —का जीवन है और व्यक्तिगत आत्मा ईश्वर से भिन्न नहीं है।श

इस प्रकार तिलक स्वतन्त्रता को एक ईश्वरीय गुण मानते थे, जिसके अभाव में नैतिक और आध्यात्मिक जीवन सम्भव नहीं है । स्वतन्त्रता व्यक्ति को सृजनात्मक शक्ति प्रदान करती है ।

(2) राष्ट्रवाद की अवधारणा — तिलक का राष्ट्रवाद अंशतया पुनरुत्थानवादी तथा पुनर्निर्माणवादी था। उन्होंने वेदों तथा गीता से आध्यात्मिक शक्ति तथा राष्ट्रीय उत्साह ग्रहण करने का सन्देश दिया। उनका विचार था कि भारत की प्राचीन परम्पराओं के आधार पर ही आज के भारत के लिए स्वस्थ्य राष्ट्रवाद की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। सुधारों के नाम पर प्राचीनता का अनादर राष्ट्रीय पतन का प्रतीक है। तिलक राष्ट्रवाद को एक आध यात्मिक और मनोवैज्ञानिक धारण मानते थे । उनका मत था कि प्राचीनकाल में आदिम जातियों के मन में अपने कबीले के प्रति जो भक्ति भावना विद्यमान थी, उसी का नाम आध ुनिक राष्ट्रवाद है। प्राचीनकाल में जो आत्मिक लगाव एक क्षेत्र विशेष तक सीमित था, वह अब सम्पूर्ण राष्ट्र में व्याप्त हो गया है, जिससे राष्ट्रवाद की भावना सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति अनुभव की जाती है। तिलक कहते हैं कि जो राष्ट्रवाद राष्ट्रीय एकता पर आध रित है, वही सच्चा और स्वस्थ राष्ट्रवाद है। तिलक ने राष्ट्रवाद की भावना के विकास के लिए गणपति और शिवाजी उत्सवों को मनाना प्रारम्भ किया, क्योंकि इन उत्सवों से राष्ट्रवाद की भावना पनपती है। इसके अलावा राष्ट्रीय गान, राष्ट्रीय ध्वज आदि भी राष्ट्रवाद का निर्माण करते हैं।

(3) स्वराज्य—— स्वराज्य का अर्थ है अपना शासन अर्थात् स्वशासन। स्वराज्य तिलक के लिए एक नैतिक आवश्यकता थी तथा प्रत्येक भारतीय का धर्म अर्थात् कर्तव्य था । इसीलिए उन्होंने यह घोषणा की कि, श्स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा।श तिलक की स्वराज्य धारणा भारतीय संस्कृति पर आधारित थी। तिलक के मतानुसार, स्वराज्य एक ईश्वरीय गुण है । विदेशी साम्राज्य राष्ट्र की आत्मा का हनन करता है। इसीलिए उन्होंने विदेशी साम्राज्यवाद के विरूद्ध संघर्ष और भारत के लिए स्वराज्य की घोषणा की।

सन् 1916 से पूर्व तक स्वराज्य से तिलक का अभिप्राय देश के लिए पूर्ण स्वाधीनता की स्थिति से था, जिसमें ब्रिटिश सम्राट के लिए कोई स्थान नहीं था, किन्तु 1916 ई. में उन्होंने यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए कहा कि, श्स्वराज्य से अभिप्राय केवल यह है कि भारत के आन्तरिक मामलों का संचालन तथा प्रबन्ध भारतवासियों के हाथों में हो। हम ब्रिटेन के राजा सम्राट को बनाये रखने में विश्वास करते हैं।श 20 अप्रैल, 1916 का उन्होंने होमरूल लीग की स्थापना की।

तिलक का सम्पूर्ण राजनीतिक चिन्तन स्वराज्य पर केन्द्रित है। उनके मतानुसार स्वराज्य समस्त सामाजिक व्यवस्था का आधार राष्ट्रीय प्रगति का मूल तत्व है। स्वराज्य के अभाव में न तो कोई औद्योगिक प्रगति हो सकती है और न ही कोई राष्ट्रीय शिक्षा और न कोई सामाजिक सुधार सम्भव है। तिलक के लिए स्वराज्य उनका धर्म, जीवन और प्राण था ।

उनके प्रत्येक कार्य का लक्ष्य स्वराज्य ही था ।

(4) स्वदेशी तथा बहिष्कार – तिलक स्वराज्य की प्राप्ति के लिए स्वदेशी तथा बहिष्कार को सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन मानते थे। उन्होंने केसरी में लिखा, हमार राष्ट्र एक वृक्ष की तरह है, जिसका मूल तना स्वराज्य है। स्वदेशी तथा बहिष्कार उसकी शाखायें हैं। तिलक ने स्वदेशी तथा बहिष्कार को एक आर्थिक आन्दोलन के साथ–साथ राजनीतिशास्त्र के रूप में भी अपनाया ।

तिलक ने भारतीयों के लिए आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी का प्रयोग करने का समर्थन किया। उनका विचार था कि स्वदेशी को प्रात्साहित करने से एक तो औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि होगी, दूसरे लघु व कुटीर उद्योगों का संरक्षण मिलेगा, जिससे देश में बेरोजगारी की समस्या का समाधान हो जायेगा । तिलक स्वयं मनसा, वाचा, कर्मणां स्वदेशी थे। वे स्वयं अपने हाथ से काते हुए सूत से अपने ही घर में स्वदेशी करघे से बने हुए वस्त्र पहनते थे। कहा जाता है कि वे अदालत के साथ–साथ साम्राज्ञी विक्टोरिया के दरबार में भी उन्हीं वस्त्रों को पहनकर गये। तिलक ने स्वदेशी वस्तु प्रचारिणी सभा के मुख्य अंग के रूप में सहाकरी भण्डार भी खोले। तिलक स्वदेशी आन्दोलन को आत्म–विश्वास, आत्म– सहायता तथा आत्म–सम्मान का आन्दोलन मानते थे। उनके मतानुसार, स्वदेशी आन्दोलन का अर्थ यह भी था कि धीरे–धीरे विदेशी विचारों को भी भारतीय जनमानस से लुप्त कर दिया जाये।

तिलक बहिष्कार को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारतीयें के रोष की अभिव्यक्ति का प्रभावशाली माध्यम मानते थे। वे स्वदेशी तथा बहिष्कार को एक दूसरे का पूरक मानते थे। वे कहते थे कि श्जब आप स्वदेशी को स्वीकार करते हैं तो आपको विदेशी का बहिष्कार करना ही होगा।श उनका विचार था कि विदेशी वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि होगी तो दूसरी ओर आर्थिक हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने के कारण ब्रिटिश सरकार भारतीयों की मांगें मानने के लिए बाध्य हो जायेगी । तिलक के बहिष्कार का अभिप्राय विदेशी माल के साथ–साथ विदेशी शासन का भी बहिष्कार करना था, जिसमें सरकारी नौकरियों, उपाधियों, समारोहों और अदालतों का बहिष्कार तथा लगान व अन्य कर दे देना सम्मिलित था।

इस प्रकार तिलक स्वराज्य प्राप्ति के लिए स्वदेशी तथा बहिष्कार को एक प्रभावशाली राजनीतिक शस्त्र मानते थे । .

(5) राष्ट्रीय शिक्षा – राष्ट्र के विकास के लिए जनता में जगृति होना आवश्यक है। शिक्षा के अभाव में जन–जागरण सम्भव नहीं होता और यदि जनता जागरूक नहीं है तो लोकतन्त्र की सफलता संदिग्ध है। डिजरायली का यह कथन यथार्थ ही है कि, ष्लोकतन्त्र की सफलता के लिए शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है ।श तिलक ने इस बात पर विशेष बल दिया कि देश के लिए एक उचित राष्ट्रीय शिक्षा आवश्यक है। तिलक ने इस बात पर विशेष बल दिया कि देश के लिए एक उचित राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली होनी चाहिए। उन्होंने तत्कालीन शिक्षा प्रणाली की कटु आलोचना की । तिलक का कहना था, पढ़ना–लिखना सीख लेना ही शिक्षा नहीं है। शिक्षा वही है, जा हमें जीविकोपार्जन के योग्य बनाये, देश का सच्चा नागरिक बनाये और हमें पूर्वजों को ज्ञान तथा अनुभव हो।

इस दृष्टि से उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा की जोरदार वकालत की। तिलक ने चिपलूणकर और आगरकार के साथ महारष्ट्र में नवीन शैक्षिक आन्दोलन का सूत्रपात किया। जब वे पूना में कानून की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे, उसी समय उनके मन में यह विचार आया कि ऐसा गैर–सरकारी विद्यालय स्थापित किया जाये, जिससे शिक्षक उच्च आत्म–त्याग की भावना से प्ररित हों और वहां देशप्रमी, राष्ट्रभक्त और चरित्रवान छात्रों का निर्माण हो सके। इसी दृष्टि से उन्होंने चिपलूणकर और आगरकर के सहयोग से 2 जनवरी, 1880 को पूना में न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना की।

वी.पी. वर्मा का कथन है कि, न्यू इंग्लिश स्कूलष नये सिद्धान्तों और आदर्शों से अनुप्राणित

था, जो उस समय की प्रमुख शिक्षा संस्थओं के सिद्धान्तों और व्यवहार से भिन्न थे ।
तिलक के दो प्रमुख उद्देश्य थे– सस्ती शिक्षा और प्राचीन भारतीय आदर्शों से अनुप्रेरित शिक्षकों की व्यवस्था तथा अधिकारिक शिक्षा प्रसार, प्राचीन भारत में गुरु और आचार्य अपनी विद्वता, कर्तव्यनिष्ठा और सत्य परायणता के लिए प्रसिद्ध थे, उनका लक्ष्य धन कमाना न होकर योग्या शिष्यों का निर्माण करना था। देश के लिए इसी प्रकार की शिक्षा प्रणाली का आवश्यकता थी। दूसरे, देश में राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जागृति लाने तथा प्रगति के लिए यह भी आवश्यक था कि शिक्षा सुविधाओं का विस्तार हो, ताकि अधिकाधि ाक लोग उनका लाभ उठाकर शिक्षित बन सकें। तिलक शिक्षा प्रचार को सर्वाधिक महत्व देते थे। स्वदेशी आन्दोलन के समय (1905–1910) उन्होंने शिक्षा के राष्ट्रवादी पक्ष पर अधि ाक बल देना आरम्भ कर दिया था, परन्तु इससे पूर्व उन्होंने शिक्षा के राष्ट्रवादी पक्ष पर अधि ाक बल दिया था । उस समय उन्होंने यह स्वीकार किया था कि शिक्षा का प्रसार तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव था, अतः उन्होंने शिक्षा सम्बन्धी सुविध ााओं के विस्तार के लिए सरकारी सहायता प्राप्त करना भी स्वीकार किया था।
तिलक ने शिक्षा सम्बन्धी प्राचीन भारतीय आदर्शों को स्वीकार करते हुए भी पाश्चात्य शिक्षा के महत्व को नकारा नहीं । वे इस सीमा तक पुनरूत्थानवादी या परम्परावादी नहीं थे कि आधुनिक युग में प्राचीन आदर्शों और सिद्धान्तों को पूर्णतः स्वीकार करते हुए भी पाश्चात्य शिक्षा के महत्व को नकारा नहीं । वे इस सीमा तक पुनरूत्थानवादी या परम्परावादी नहीं थे कि आधुनिक युग में प्राचीन आदर्शों और सिद्धान्तों को पूर्णतः स्वीकार कर लें। वे यह मानते थे कि अंग्रेजी शिक्षा का जन–जागरण के लिए महत्वपूर्ण स्थान है तथा यह शिक्षा राजनीतिक उग्रवाद एवं प्रगतिवाद की भवनाओं के विकास के लिए भी आवश्यक है। इस प्रकार तिलक शिक्षा सम्बन्धी प्राचीन भारतीय आदर्श और पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के समन्वय के समर्थक थे। वे शिक्षक के महत्व को भी समझते थे। वी. पी. वर्मा का कथन है कि, श्अपना सार्वजनिक जीवन आरम्भ करने के बाद लगभग एक दशक तक तिलक आयापक का कार्य करते रहे, किन्तु जब वे विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे, उन्हीं दिनों उन्होंने श्जनता के लिए शिक्षा की एक व्यापक योजना बना ली थी।
तिलक यथार्थवादी थे, इसीलिए उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचार–प्रसार का महत्वपूर्ण कार्य किया। परिणामस्वरूप सरकारी दमन के बावजूद राष्ट्रीय शिक्षा का आन्दोलन बंगाल और महाराष्ट्र में तीव्र होता गया । तिलक के साथ–साथ रासबिहारी बोस, गुरूदास बनर्जी और अरविन्द घोष ने बंगाल के नये राष्ट्रवादी शैक्षिक कार्यों में प्रमुख योगदान दिया। तिलक के प्रयासों से तालेगांव में शिवाजी के गुरू समर्थ रामदास के नाम पर श्री समर्थ विद्यालय स्थापित किया गया। इस विद्यालय ने राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया, जिससे अन्य लोगों को भी इस क्षेत्र में कार्य करने की प्रेरणा मिली।
तिलक यह नहीं चाहते थे कि विद्यार्थी शिक्षा–संस्थानों को छोड़ दें, परन्तु वे राष्ट्रीय मुक्ति के कार्य को भी अत्यधिक महत्व देते थे और तत्कालीन परिस्थितियों में यह आवश्क था कि युवकों का उत्साह मातृभूति की सेवा में समपर्तित हो ।
तिलक ने श्री समर्थ विद्यालय के लिए पांच लाख रूपया एकत्र करने के लक्ष्य को लेकर 1908 ई. में महाराष्ट्र का भ्रमण आरम्भ किया और इस कार्य में उन्हें भारी सफलता मिली। तिलक ने राष्ट्रीय शिक्षा पर अनेक भाषण दिये। वे चरित्र–निर्माण के लिए धार्मिक शिक्षा को महत्वपूर्ण मानते थे। उन्होंने कहा कि, केवल धर्म निरपेक्ष शिक्षा चरित्र का निर्माण करने कि लिए पर्याप्त नहीं है। धार्मिक शिक्षा आवश्यक है, क्योंकि उच्च सिद्धान्तों और आदर्शो का अध्ययन हमें पाप कर्मों से दूर रखता है। कर्म हमें सर्वशक्तिमान परमात्मा के वास्तविक रूवरूप का दर्शन कराता है। हमारा धर्म बताता है कि अपने कर्मों से मनुष्य देवता तक बन सकता है। तिलक औद्योगिक शिक्षा को भी आवश्यक मानते थे। उनकी यह मान्यता भी थी कि शिक्षा संस्थाओं में राजनीतिक शिक्षा भी दी जानी चाहिए, ताकि विद्यार्थियों को

नागरिक अधिकारों तथा कर्तव्यों का ज्ञान प्राप्त हो सकें।

(6) अंग्रेजों की न्यायप्रियता में अविश्वास – तिलक को अंग्रेजो की न्यायप्रियता में कोई विश्वास नहीं था । उनका विचार था कि कोई भी साम्राज्यवादी शक्ति शासित देश की जनता के हित में शासन नहीं करती। उनका उद्देश्य तो शासित देश का राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक शोषण करना होता है। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का लक्ष्य भी यहीं है। उनका मत था कि अंग्रेजों की न्यायप्रियता पर अविश्वास करना अविवेकपूर्ण चाहिए।

(7) उदारवादी विचारधारा में अविश्वास – तिलक उदारवादी विचारधारा में विश्वास नहीं करते थें वे उदारवादियों की कार्य–पद्धति और साधनों को निरर्थक मानते थे। उनका कहना था, श्अनमय, आग्रह और प्रतिनिधि मण्डल से कुछ नहीं होगा, जब तक कि इसके पीछे ठोस शक्ति न हो । आयरलैण्ड, जापान और रूस के उदाहरणों से हमें सबक लेना चाहिए।

उदारवादी विचारक का मूल आधार संवैधानिक पद्धति थी, किन्तु तिलक का विचार था कि ब्रिटेन जैसे लोकतान्त्रिक देश में तो संवैधानिक पद्धति सफल हो सकती है, जहां एक संविध ाान है तथा शासन व्यवस्था जनता के प्रति उत्तरदायी है, किन्तु भारत जैसे देश में जहां कि दण्ड ही संविधान है तथा जनता के पास सरकार को बदलने के लोकतांत्रिक साधन नहीं थे, संवैधानिक पद्धति सर्वथा अनुपयुक्त है। तिलक का मत था कि स्वराज्य की स्थिति प्राप्त करने के लिए हमें बलिदान का मार्ग अपनाना होगा।

(8) जनमत तथा जनशक्ति में विश्वास तिलक जनमत तथा जनशक्ति को बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। उनका मानना था कि जनता में बहुत शक्ति होती है। निरंकुश शासक भी जनमत अपनी शक्ति नहीं जानती। अगर जनता एक हो जाये तो शासक सबके सामने शक्तिहीन हो जायेंगे।

(9) पत्रकारता की शक्ति में विश्वास – तिलक राष्ट्रीय के सन्देश को प्रचार करने के लिए समाचार–पत्रों को बहुत अधिक शक्तिशाली मानते थे। व्यवहार में तिलक के पत्रों–केसरी तथा मराथा के द्वारा जन–जागरण की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किये थे।

इकाई– 12 बाल गंगाधर तिलक के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार

बाल गंगाधर तिलक का राष्ट्रवाद

तिलक का राष्ट्रवाद पश्चिम के राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और राष्ट्रों के आत्म–निर्णय के सिद्धान्त से प्रभावित था। अमेरिका कर राष्ट्रपति विल्सन आत्म निर्णय के सिद्धान्त का कट्टर अनुयायी था और उसका विचार था कि प्रत्येक राष्ट्र को यह अधिकार मिलना चाहिए कि यह एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में अपना अलग अस्तित्व स्थापित कर सके। वी.पी. वर्मा का कथन है कि, श्तिलक का राष्ट्रवाद कुछ अंशों में पनरूत्थानवादी था और वे राष्ट्र मे आध यात्मिक शक्ति और नैतिक उत्साह उत्पन्न करने के लिए वेदों और गीता के सन्देश को जनत के समक्ष रखना चाहते थे । तिलक ने कहा कि, श्सच्चा राष्ट्रवादी पुरानी नींव पर ही निर्माण करना चाहता है, जो सुधार पुरानत के प्रति घोर असम्मान की भावना पर आध ाारित है, उसे सच्चा राष्ट्रवादी रचनात्मक कार्य नहीं समझाता । हम असम्मान की भावना पर आधारित है, उसे सच्चा राष्ट्रवादी रचनात्मक कार्य नहीं समझता। हम अपनी संस्थाओं को अंग्रेजियत के ढांचे में नहीं ढालना चाहते, समाज के तथा राजनीतिक सुधार के नाम पर उनका अराष्ट्रीयकण नहीं करना चाहते। श्तिलक की मान्यता थी कि राष्ट्रवाद एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक धारणा है। उनका कहना था कि प्राचीनकाल में आदिम जातियों के मन में अपने कबीले के प्रति जो भक्ति भावना तथा अनुभूतियों से होता है। प्राचीनकाल में जो आत्मिक प्रभाव और लगाव एक क्षेत्र विशेष तक सीमित थे, वे अब राष्ट्रवाद के अन्तर्गत सम्पूर्ण राष्ट्र में विद्यमान हो गए हैं, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रवाद की भावना किसी क्षेत्र विशेष के प्रति नहीं, अपितु समूचे राष्ट्र के प्रति अनुभव की जाती है। तिलक की मान्यता थी कि जा राष्ट्रवाद राष्ट्रीय एकता पर आधारित होता है, वही

सच्चा और स्वस्थ राष्ट्रवाद है। तिलक ने समाज में राष्ट्रवाद की भावना के विकास और राष्ट्रीय आन्दोलन को गति प्रदान करने की दृष्टि से शिवाजी और गणपति उत्सवों को प्रोत्साहन दिया। गणपति उत्सव महाराष्ट्र में परम्परागत रूप में मनाया जाता था । वी. पी. वर्मा ने यर्थात ही कहा है कि, श्गणपति उत्सव जनता म राष्ट्रवादी भावनाओं को जगाने की दिशा में एक बड़ा ही सफल प्रयोग था और इस दृष्टि से उसने महाराष्ट्र की जनता की मानसिक दशा को अनेक दशकों तक प्रभावित किया।

इस प्रकार के उत्सवों का एक प्रतीकात्मक महत्व है। राष्ट्रीय गान, राष्ट्र ध्वज, राष्ट्रीय उत्सव आदि लोगों की राष्ट्रवादी भावनाओं को तीव्रता प्रदान करते हैं तथा सांसकृतिक एकता की अभिवृद्धि होती है।

तिलक की ऐसी मान्यता थी कि राष्ट्रवाद कोई ऐसी स्थूल वस्तु नहीं है, जिसे देखा जा सके। यह एक भावना है, एक आदर्श है और इस भावना को जायत करने तथा आदर्श के प्रति निष्ठा बढ़ाने में देश के महान पुरूषों की स्मृतियां महत्वपूर्ण योगदान करती हैं। शिवाजी एक महान् पुरुष थे, जिनमें लोक संग्रह की भावनायें थी। उन्होंने कभी भी किसी वर्ग विशेष के हितों की दृष्टि से न सोचकर सम्पूर्ण समाज के हित में कार्य किया । उन्होंने अन्याय और उत्पीड़न के विरूद्ध निरन्तर संघर्ष किया।

तिलक ने बार–बार इस आरोप का खण्डन किया कि शिवाजी उत्सव मुस्लिम विरोधी है। उन्होंने बल देकर कहा कि शिवाजी उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक थे। उन्होंने मुगलों से इसलिए युद्ध किया था कि वे उन्हें (मुगलों को) उत्पीड़न मानते थे ।

परन्तु तिलक का राष्ट्रवाद कोरा या संकुचित हिन्दू राष्ट्रवाद नहीं था। के. दामोदरन ने कहा है कि, श्वे उग्रवादी सांस्कृतिक परम्पराओं में गर्व तथा धार्मिक आस्था का देशभक्ति की भावनायें जगाने के लिए उपयोग करना चाहते थे। इस लक्ष्य को समाने रखकर तिलक ने महाराष्ट्र में धार्मिक तिथि–त्योहारों और गणपति पूजा जैसे पर्वों तथा शिवाजी की जन्म तिथि के उत्सवों आदि आयोजन किया और उन्हें पूजा जैसे पर्वो तथा शिवाजी की जन्म तिथि के उत्सवों आदि का आयोजन किया और उन्हें लोकप्रिय बनाया। हिन्दुओं के लिए गणपति, ज्ञान और विवेक के प्रतीक हैं और गणपति पूजा ने जनता में नया उत्साह जगाया।

स्वष्टतः तिलक का राष्ट्रवाद हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रति गौरव की भावना पर आधरित था, परन्तु इसका अर्थ नहीं कि वे अन्य सभी धर्मों के विरोधी थे । जनकारिका का यह कथन था कि तिलक हिन्दूओं की मुस्लिम विरोधी ओर बदले की भावना के प्रतिनिधि थे, दोषपूर्ण है। वैलेन्टाइन शिरोल ने भी तिलक को अतीव परम्परावादी तथा मुस्लिम विरोधी सिद्ध करने का हास्यास्पद प्रयास ही किया है। वस्तुतः अनेक मुस्लिम नेताओं जैसे मुहम्मद अली जिन्ना, एम.ए. अंसारी आदि ने तिलक की राष्ट्रवादी विचारधार की सराहना की थी, क्योंकि उनके परामर्श और प्रयास के कारण ही 1916 ई. में मुस्लिम लीग और कांग्रेस के बीच समझौता सम्भव हो सका था । तिलक ने मुसलमानों द्वारा आरम्भ किये गये खिलाफत आन्दोलन में सहयोग करने का प्रयास किया था। इस प्रकार तिलक का राष्ट्रवाद अंशतः पुनरुत्थानवादी होते हुए भी गैर–हिन्दू धर्मावलम्बियों के प्रति द्वेष पर आधारित नहीं था । तिलक का राष्ट्रवाद आकामक राष्ट्रवाद यह कहा जा सकता है कि तिलक का राष्ट्रवाद आक्रामक राष्ट्रवाद था। उन्हें भारतीय राजनीतिक क्षेत्र में उग्रवादी राष्ट्रीयता का अग्रदूत कहा गया है। आरम्भ में तिलक सक्रिय रूप में किसी राजनीतिक आन्दोलन से नहीं जुड़े थे। ऐसा अवसर उन्हें 1905 ई. में बंगाल के विभाजन के समय मिला। उन्होंने कर्जन की साम्राज्यवादी नीति की तीव्र भर्त्सना की और केसरी में कर्जन विरोधी अनेक लेख लिखे। सरकार का कथन था कि बंगाल का विभाजन प्रशासकीय सुविधा की दृष्टि से किय गया प्रदेश का पुनर्वितरण मात्र है, परन्तु वास्तव में इस विभाजन का उद्देश्य बंगाली जनता की एकता को नष्ट करना और साम्प्रदायिक को अंकुरित करना था। इस विभाजन के विरूद्ध

तिलक, विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष और सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में आन्दोलन आरम्भ हुआ, जिसने आगे चलकर राष्ट्रीय मुक्ति के लिए संघर्ष का मार्ग प्रशस्त किया और तिलक नये राष्ट्रीय दल के राष्ट्रीय स्तर के नेता बन गये। यह आन्दोलन अखिल भारतीय आन्दोलन बन गया और राष्ट्र के पुनरुद्धार के लिए धर्मयुद्ध का रूप ले लिया। सरकारी दबाव और दमन की नीति ने इस धर्मयुद्ध की आग में घी का काम किया, जिसके लिए स्वदेशी बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और निष्क्रिय प्रतिरोध के तरीके अपनाये गये। 1905 ई. के बाद कई आन्दोलन आरम्भ हो गए।

तिलक का राष्ट्रवाद तथा आर्थिक तर्क – वी. पी. वर्मा का कथन है कि, श्तिलक भारत. के राष्ट्रीय आन्दोलन को हिन्दुत्व के सशक्त सांस्कृतिक और धार्मिक पुनरुत्थान के द्वारा बल प्रदान करना चाहते थे, किन्तु राष्ट्रवाद के सम्बन्ध में वे आर्थिक तत्वों की भी स्वीकार करते थे। श्उन्होंने स्वीकार किया कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के कारण देश के आर्थिक साधनों का आरोप निर्गम हुआ और उद्योगों तथा कलाओ का पतन हुआ है। उनका कथन था कि जब देश का शासन विदेशियों के हाथ में है, तब तक देशी उद्योगों का संरक्षण और विकास सम्भव नहीं। उनके स्वदेशी वस्तुओं के. प्रयोग तथा विदेशी बहिष्कार के पीछे यही तर्क था और यह आन्दोलन राष्ट्रीय मुक्ति के लिए राष्ट्रवाद का प्रचार करने तथा राष्ट्रीय शक्त्यिों को उन्मुख करने का शक्तिशाली अस्त्र बन गया । बाल गंगाधर तिलक का स्वराज्य दर्शन है ।

स्वराज्य का समान्य अर्थ है – अपना राज्य अर्थात् राष्ट्रीय स्वशासन। तिलक का दृ ष्टिकोण आध्यात्मिक था । अतएव उन्होंने श्स्वराज्य नैतिक और आध्यात्मिक अर्थ भी किया। उन्होंने कहा कि स्वराज्य मनुष्य का अधिकार ही नहीं, अपितु धर्म भी है। इसका अर्थ आत्मा की स्वतन्त्रता से है । स्वराज्य की प्रगति आत्मा की स्वतन्त्रा के आधार पर ही हो सकती है।

स्वराज्यः प्राकृतिक अधिकार – तिलक ने स्वराज्य की अवधारण को प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त पर भी आधारित किया। उन्होंने कहा कि स्वराज्य व्यक्ति का प्राकृतिक अधि ाकार है। स्वराज्यः एक नैतिक आवश्यकता –– उन्होंने कहा कि स्वराज्य एक नैतिक आवश्यकता है। प्रत्येक व्यक्ति में एक दैवी तत्व होती है, जिसकी अनुभूति व्यक्ति तभी कर सकता है, जब उसे स्व धर्म के अनुसार आचरण करने की स्वतंत्रता हो। ऐसी स्वतन्त्रता एक संयमित स्वतन्त्रता है, जिसकी प्राप्ति एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत ही सम्भव है, जो जनता की नैतिक आकांक्षाओं के अनुकूल हो। ऐसी राजनीतिक व्यवस्था का नाम ही स्वराज्य है।

तिलक ने 1916 ई. के कांग्रेस के अधिवेशन में घोधण की कि, श्स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधि ाकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा ।

स्वराज्य प्राप्ति का आधार – तिलक की मान्यता थी कि कोई राष्ट्र अपनी औद्योगिक, शैक्षिक, सामाजिक, नैतिक, और आध्यात्मिक प्रगति तब तक नहीं कर सकता, जब तक उसे स्वराज्य प्राप्त न हो। उन्होंने भारतीयों को आहावन किया कि वे स्वराज्य प्राप्त करने के लिए संघर्ष करें और देश को अंग्रेजों की पराधीनता से मुक्त करायें । परन्तु अंग्रेजों को हटाने का अर्थ यह नहीं कि भारत किसी देशी नरेश की अधीनता में आ जाये या अंग्रेजों के स्थान पर जर्मन लोग यहाँ शासक बनकर आ जायें। उनकी स्वराज्य की कल्पना यही थी कि भारत के आन्तरिक मामलों को संचालन और प्रबन्ध भारतीयों के हाथ में हो ।

ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य यद्यपि तिलक की स्वराज्य की धारण में पूर्ण स्वाध ीनता का भाव निहित है, परन्तु तत्कालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत बने रहने का सुझाव दिया। 31 मई, 1916 को अहमदनगर में स्वराज्य पर अपने भाषण में उन्होंने कहा, स्वराज्य से अभिप्राय केवल यह है कि आन्तरिक मामलों का संचालन और प्रबन्ध भारतवासियों के

हाथ में हो। हम ब्रिटेन के राजा सम्राट को बनाये रखने में विश्वास करते हैं। उनके द्वारा स्थापित होमरूल लीग ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत ही स्वराज्य चाहती थी, परन्तु यह तात्कालिक लक्ष्य ही था ।

लोकतान्त्रिक स्वराज्य–तिलक स्वराज्य के अंतर्गत देश में संघात्मक ढांचा स्थापित करने के पक्षधर थे। उनका स्वराज्य लोकतान्त्रिक स्वराज्य था। स्वराज्य को अर्थ यह नहीं कि कुछ अन्य पदों पर भारतीय आसीन हो जायें । इसका अर्थ है–ऐसी शासन व्यवस्था जिसमें प्रशासन जनता की भवनाओं के प्रति सचेत हो, स्वयं को जनता के प्रति उत्तरदायी समझे तथा अन्तिक सत्ता जनता के हाथ में हो ।

टी.बी. पर्वते ने कहा है कि, तिलक भारतीय स्वराज्य को लाकतान्त्रिक स्वराज्य के रूप में देखते थे और उनका दृढ़ विश्वास था कि ऐसा स्वराज्य केवल जन–जागृति, जनता की आत्माभिव्यक्ति की शक्ति और उसक आत्म विश्वास से ही निर्मित हो सकेगा।

उन्होंने स्वष्ट रूप से कहा हक स्वराज्य हमारे अस्तित्व के लिए आवश्यक है। स्वराज्य के अभाव में भारत समृद्ध नहीं हो सकता ।

स्वराज्य प्राप्ति के लिए होमरूल लीग की स्थापना तिलक ने अप्रैल, 1916 में औपचारिक रूप से स्वराज्य आन्दोलन आरम्भ किया। 28 अप्रैल, 1916 को जोजफ वैपटिस्टा की अध ्यक्षता में मुम्बई, महाराष्ट्र, बरार और कर्नाटक के लिए एक संयुक्त होम लीग की स्थापना की गयी । तिलक ने इस अवससर पर स्वराज्य का अर्थ स्वष्ट किया और बाद में होमरूल पर ही अननी पूरी शक्ति लगा दी और अहमदानगर में स्वराज्य पर पहला भाषण दिया। जून 1916 में उन्होने अहमदनगर में ही स्वराज्य पर दूसरा भाषण देते हुए श्रोताओं को आहावन किया कि वे सभी मानवोचित प्राकृतिक अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयास करें। उन्होंने कहा कि यदि राष्ट्र को सबल बनाना है तो सवराज्य प्राप्त करना ही होगा।

स्वराज्य प्राप्ति के साधन (स्वदेशी और बहिष्कार) – तिलक की मान्यता थी कि देश को विदेशी पराधीनता से मुक्ति सरकार का याचिकायें भेजने मात्र से प्राप्त नहीं हो सकती। यह तो भिक्षावृत्ति मात्र है। इसीलिए उन्होंने 1906 ई. के कांग्रेस के कोलकाता अधिवेशन में पारित स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और निष्क्रिय प्रतिरोध से सम्बन्धित प्रस्तावों को व्यावहारिक रूप देने पर विशेष बल दिया और इस दिशा में प्रयास आरम्भ किया। उन्होंने स्वदेशी के सन्देश को आरम्भ में महाराष्ट्र और बरार के कोने–कोने में पहुंचाया और बाद में इसके आर्थिक महत्व को हृदयंगम करते हुए अपने सार्थियों की सहायता से सम्पूर्ण राष्ट्र में फैलाया। इस प्रकार उदारवादियों द्वारा आरम्भ किया गया स्वदेशी प्रचार तथा विदेशी बहिष्कार आन्दोलन तिलक के प्रयासों से न केवल एक आर्थिक आन्दोलन रहा, अपितु एक सबल राजनीतिक शस्त्र बन गया। उनके नेतृत्व में पूना में विदेशी वस्त्रों की होली जलाई गयी ।

तिलक स्वदेशी व्यापक अर्थ लेते थे और शिक्षा, विचारों तथा जीवन–पद्धति के क्षेत्र में भी स्वदेश अपनाने पर बल देते थे । स्वदेशी की तरह ही बहिष्कार का भी मूल उद्देश्य यही था कि जनता विदेशी वस्तुओं के प्रयोग के प्रति अपने लोभ का परित्याग करे। इससे ब्रिटिश सरकार के आर्थिक हित प्रभावित होंगे और उस दबाव पड़ेगा और वह देश की जनता की माँगों को मानने के लिए विवश होगी। इससे भारतीय सरकार यह भी समझ जायेगी कि विदशी सरकार की आर्थिक नीति देश की आर्थिक प्रगति में किस प्रकार बाधक बन रही है और इससे स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाया मिलेगा। तिलक ने केसरी में लिखा है– हमारा राष्ट्र एक वृक्ष की तरह है, जिसका मूल स्वराज्य है और स्वदेशी और बहिष्कार उसकी शाखायें हैं। उनकी मान्यता थी कि यदि राष्ट्र रूपी वृक्ष फल–फूल सके तो उसकी शाखाओं को शक्तिशाली बनाना होगा । तिलका का बहिष्कार आन्दोलन भी आगे चलकर गांधीजी का असहयोग आन्दोलन बनाध गोखले ने तिलक के बहिष्कार आन्दोलन के महत्व को यह कहकर कम करने का प्रयत्न किया था कि बहिष्कार का भावात्मक बल तो स्वदेशी

में ही निहित है, बहिष्कार में कुछ कुत्सित और प्रतिशोधात्मक भावना दिखायी देती है तथा देश की तत्कानीन औद्योगिक स्थिति में विदेश वस्तुओं का पूर्ण बहिष्कार सम्भव नही है ।

बाल गंगाधर तिलक के समाजिक विचार

तिलक के समाजिक विचारों को निम्नांकित रूपों में देखा जा सकता है–

(1) समाज सुधार के पूर्व राजनीतिक स्वतन्त्रता को प्राथमिकता – वेलेन्टाइन शिरोल जैसे आलोचकों का कथन हे कि तिलक सामाजिक परम्परावाद के समर्थक थे, परन्तु वास्तविकता यह है कि वे हर प्रकार के परिवर्तन के समर्थन न होकर, पाश्चात्य आधार पर सामाजिक परिवर्तन लाने के विरोधी थे । तिलक के समय कई समाज सुधार आन्दोलन चल रहे थे । ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज जैसे समाज सुधार आन्दोलन पश्चिमी विचारों और मूल्यों से प्रभावित थे। आर्य समाज की समाज सुधार की दिशा में कार्यरता था, परन्तु वह वेदों को सर्वोच्च मानकर चलता था। आर्य समाज के प्रयास से समाज सुधार सम्बन्धी कई कानून भी सरकार ने बनाये, परन्तु तिलक का समाज सुधर सम्बन्धी दृष्टिकोण इससे भिन्न था। उस समय एक प्रमुख समस्या यह थी कि राजनीमिक आन्दोलन और समाज सुधार के मध्य क्या सम्बन्ध रहे, किसको अधिक महत्व प्रदान किया जाये? कोलकाता में आयोजित अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वितीय अधिवेशन दादाभाई नौराजी ने घोषणा की थी कि कांग्रेस को चाहिए कि वह अपने उन्ही प्रश्नों तक सीमित रखें, जिनमें सम्पूर्ण देश प्रत्यक्ष रूप से सहयोग कर सके तथा समाज सुधार की समस्याओं को अन्य संगठनों के लिए छोड़ दे । तिलक का भी स्पष्ट विचार था उस समय की प्रमुख समस्या राजनीतिक मुक्ति की है। सामाजिक प्रश्नों पर धीरे–धीरे विचार किया जा सकता है तथा सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को एक साथ मिलाना ठीक नहीं है।

तिलक ने श्केसरीश में अनेक लेख (2) राजनीति तथा समाज सुधारों में भिन्नता लिखकर अपने समाज सुधार सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। सिद्धानत रूप में वे सामाजिक सुधारों के विरूद्ध नहीं थे, परन्तु उनका विचार था कि समाज एक सावयव के समान है और जिस प्रकार किसी सावयव में उनके विकास के साथ–साथ स्वतः परिवर्तन आते हैं, उसी प्रकार समाज की प्रगति के साथ–साथ उसमें भी वांछित परिवर्तन आते रहते हैं। जो सुधार ऊपर से थोपे जाते हैं, वे स्थायी नहीं होते। उनका आधार दण्ड का भय होता है और उनसे समाज व्यवस्था के छिन्न–भिन्न होने का भय रहता है। समाज सुधार के प्रश्नों को लेकर वर्गवाद की भावना पनपाना उचित नहीं, इससे राष्ट्रीय एकता एवं दृढ़ता ही प्रभावित होगी। उनकी मान्यता थी कि यदि समाज में प्रगतिशील शिक्षा के प्रचार–प्रसार और जन–जागृति से समाज में अनेक परिवर्तन आते जायेंगे।

तिलक का प्रमुख उद्देश्य राष्ट्रीय जीवन में नवीन स्फूर्ति और चेतना लाना था और उनका दृद्ध विचार था कि यदि समाज सुधार सम्बन्धी परस्पर विरोधी विचारों तथा कार्यों में उलझा रहेगा तो उस प्रमुख उद्देश्य की प्राप्ति के मार्ग में बाधा उत्पन्न होगी, सामाजिक जीवन में फूट ही पड़ेगी और विघटनकारी तत्वों को बढ़ावा मिलेगा ।

(3) सामाजिक परिवर्तन शनैः–शनै–वी. पी. वर्मा का कथन है कि, तिलकं चाहते थें कि सामाजिक जीवन में परिवर्तन धीरे–धीरे और शक्तिमय तरीकों से हो। वे यह मानने का तैयार नहीं थे कि पश्चिम के सामाजिक जीवन और सस्थाओं का अन्धानुकरण करके देश का उद्धार हो सकता है। वे प्रगति चाहते थे, परन्तु साथ ही साथ जिसे हीगल ने श्लोक भावनाश कहा है, उसके महत्व को भी भली–भांति समझते थे और इसीलिए वे हिन्दू समाज के इतिहास और विकास की पूर्ण अवहेलना करके जल्द में बनाये गये सामाजिक कानूनों के अन्धकार में कूदने के विरुद्ध थे।

तिलक उन समाज सुधारकों से सहमत नहीं थे, जो समाज सुधार को राजनीतिक प्रगति की पूर्व शर्त मानते थे और जिनका आग्रह था कि राजनीतिक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि पहले हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था में सुधार लाया जाये और सरकार से

राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के लिए समाज सुधार करना आवश्यक है। तिलक ने आयरलैण्ड, श्रीलंका तथा ब्रह्मा का उदाहरण देकर अपनी मान्यता को पुष्ट किया। उन्होंने कहा कि आयरलैण्ड में समाज सुधार की वे सभी योजनायें लगभग पूरी हो गयी थीं, जिनका भारतीय समाज सुधारक समर्थन कर रहे हैं, परन्तु फिर भी राजनीतिक दृष्टि से आयरलैण्ड पिछड़ा ही रहा। 1898–99 में तिलक ने श्रीलंका और ब्रह्मा की यात्रा की और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि भारत से अधिक सामाजिक स्वतन्त्रता होने पर भी राजनीतिक दृष्टि से ये देश पिछड़े हुए ही थे।

इस प्रकार उनका दृढ़ विश्वास था कि अधिक से अधिक राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति देश की सर्वोच्चता है, सामाजिक समस्याओं को उसके बाद सुलझाया जा सकेगा।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि तिलक समाज सुधार के विरूद्ध थे और परम्परा का पोषण करते थे। अपने जीवन के बाद के वर्षों में तो उन्होंने यह भी कहा कि मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति राजनीतिक समस्याओं को हल करने में लगा रहा हूं और अन्य लोगों को चाहिए कि वे समाज के दलित तथा शोषित लोगों के सामाजिक उद्धार तथा प्रगिति के कार्य को अपने हाथों में ले लें । वी. जी. वर्मा का कथन यर्थात ही है कि, शतिलक की मान्यता थी कि राष्ट्र की प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होने के समय उसकी सांस्कृतिक अविच्छिन्नता को बनाये रखना आवश्यक है। वे हिन्दू संस्कृति के प्रमुख नैतिक और अध्यात्मिक मूल्यों का परिरक्षण चाहते थे, किन्तु उनका यह भी विश्वास था कि राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त किये बिना देश की सांस्कृतिक स्वायत्ता को बनाये रखना सम्भव नहीं। राजनीतिक अधिकार प्राप्त करके ही राष्ट्र और समाज के बहुमुखी विकास का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है । परन्तु साथ–साथ वे यह भी चाहते थे कि उपदेश और उदाहरण द्वारा राष्ट्र की चेतना को सामाजिक परिवर्तन स्वीकार करने के योग्य बनाया जाये ।

(4) ब्रिटिश नौकरशाही के हस्तक्षेप के विरोध – तिलक सामाजिक और धार्मिक विषयों में नौकरशाही के हस्तक्षेप के विरोधी थे। उनका कहना था कि समाजिक कानून बनाये जायेंगे तो कानूनी विवाद भी उत्पन्न होंगे और उनके निर्णय करने की आवश्यकता भी होगी। इससे अंग्रेज शासकों और न्यायाधीशों को शक्ति बढ़ेगी और नौकरशाहों की शक्ति के क्षेत्र का विस्तार होगा। भारतीय मूल्यों से भिन्न मूल्यों को मानने वाले विदेशी शासकों को भारत के सामाजिक विषयों पर कानून बनाने तथा उनसे सम्बन्धित विवादों का निर्णय करने का अधिकार देना उचित नहीं, क्योंकि ऐसे विषय बड़े संवेदनशील होते हैं, जिनसे लोगों की भावनायें जुड़ी रहती हैं। तिलक इसे अपमानजनक मानते थे कि भारतीय विदेशी नौकरशाही के समक्ष जाकर अपने समाज के लिए कानून बनाने की याचना करे। यह याचक वृत्ति देश की नैतिक तथा बौद्धिक नींव को निर्बल ही बनायेगी। अतः स्पष्ट है कि तिलक ने विदेशी सरकार द्वारा भारतीय सामाजिक कानून बनाने का जो विरोध किया, उसके पीछे उनकी उत्कट राष्ट्र भक्ति की भावना ही थी। वे समाज सुधार के पूर्ण विरोध ी नहीं थें, परन्तु जिस प्रकार से सामाजिक सुधारों का समर्थन किया जा रहा था, वे उसके विरोध ी अवश्य थे। उन्हें शास्त्रों में विश्वास अवश्य था, परन्तु वे यह भी स्वीकार करते थे कि देश और काल की आवश्यकता के अनुसार उनमें परिवर्तन और संशोधन भी किया जा सकता है।

तिलक आगरकर ने उग्र सामाजिक दर्शन से सहमत नहीं थे। परिणामस्वरूप उनके बीच मतदभेद बढ़ता ही गया। उन्होंने 1891 ई. के सम्मति आयु विधेयक का विरोध किया, यद्यपि यह विध यक अन्त में कानून बन ही गया ।

तिलक को केवल परम्परावाद का पोषक मानना उचित नहीं है। उन्होंने कई सामाजिक सुध ा रों का समर्थन भी किया।

(5) पश्चिम के सामाजिक जीवन के अन्धानुकरण के विरोधी – तिलक सामाजिक जीवन के अन्धानुकरण तथा ईसाईयत के प्रसार के प्रबल विरोधी थे । तिलक लड़कियों की शिक्षा

को समर्थन करते थे, किन्तु उन्हें पाश्चात्य सभ्यता के रंग में रंगने के विरोधी थे। तिलक चाहते थे कि भारतीय समाज की प्रगति भारतीय आदर्शों के अनुरूप हो, पाश्चात्य आदशों के अनुरूप नहीं। टी. एल. शे ने लिखा है कि, श्वे वस्तुतः समाज सुधारों के नहीं, अपितु समाज सुधारों के प्रयत्न में ब्रिटिश सरकार के हस्तक्षेप और समाज सुधारों के नाम पर भारतीय मूल्यों की अपेक्षा पश्चिमी जीवन मूल्यों को भारतीय समाज में सुधारों के नाम पर भारतीय मूल्यों की अपेक्षा पश्चिमी जीवन मूल्यों को भारतीय समाज में स्थापित करने के विरोधी थे।

(6) अस्पृश्यता के विरोधी – तिलक अस्पृश्यता के घोर विरोधी थे। वे कहते थे, श्यदि ईश्वर भी अस्पृश्यता को सहन करने लगे तो मैं ऐसे ईश्वर को कतई मान्यता नहीं दूंगा।श वे सभी भारतवासियों को भारत की सन्तान मानते थे। उनके द्वारा प्रारम्भ किये गये गणपति उत्सव तथा शिवाजी उत्सव में लोगों में जातीय आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाता था ।

(7) विधवा–विवाह का समर्थन – तिलक बाल–विवाह के विरोधी तथा विधवा–विवाह के समर्थक थे । उनका विचार था कि लोग विधवा–विवाह का समर्थन केवल सैद्धान्तिक रूप में ही न करें, वरन् वास्तविक रूप से विवाह करके आदर्श प्रस्तुत करें तथा वैवाहिक भोजों में भी भाग लें। इसीलिए जब 35 वर्षीय प्रो. जे. के. कर्वे ने एक 24 वर्षीय विधवा से पुनर्विवाह किया तो तिलक ने उन्हें इसके लिए बधाई दी।

(8) बाल–विवाह के विरोधी – तिलक बाल–विवाह के घार विरोधी थें। वे इसे समाज के लिए घातक मानते थे। उन्होंने स्वयं अपनी पुत्रियों का विवाह 16 वर्ष की आयु पूर्ण होने पर किया था। (9) समाज सुधारक के सम्बन्ध में तिलक का प्रस्ताव – तिलक के द्वारा समाज सुधार के सम्बन्ध में अग्रलिखित प्रस्ताव या सुझाव प्रस्तुत किये गये–

i लड़कियों के विवाह की न्यूनतम आयु 16 वर्ष तथा लड़कों की 20 वर्ष होनी चाहिए ।
ii 40 वर्ष से अधिक की आयु के पुरुष केवल विधवाओं से ही विवाह करें।
iii विधवाओं को विरूप न किया जाये ।
iv दहेज प्रथा बन्द की जाये !.
v अस्पृश्यता का अन्त किया जाये
vi विवाह उत्सव पर शराब का प्रचलन बन्द किया जायें
vii जनता में शिक्षा का अधिक से अधिक प्रचार व प्रसार किया जाये।
viii धार्मिक शिक्षा प्रदान की जायें।

प्रत्येक समाज सुधारक को अपनी मासिक आय का 1/10 भाग सार्वजनिक हित के कार्यों में खर्च करना चाहिए।

बाल गंगाधर तिलक के आर्थिक विचार

तिलक के आर्थिक विचार महत्वपूर्ण हैं। उन्हें देश की पतनशील आर्थिक स्थिति पर अत्यधि ा एक चिन्ता थी। उनका कथन था कि ट्रेनों, डाकघरों, सड़कों आदि के विकास के नाम पर भारतीय धन विदेशों में जा रहा है। विदेशों से लिए गये ऋण तथा उसके व्याज के भुगतान के लिए भी विदेशी कोरत से कच्चा माल भेजा जाता है। देश के परम्परागत उद्योगों का ह्रास हो रहा है और विदेशों से सामान आयाता किया जाता है। देश के परम्परागत उद्योगों को ह्रास हो रहा है और विदेशों से सामान आयात यिका जाता है। इस स्थिति का मुकाबला करने के लिए उन्होंने स्वदेशी के प्रचार–प्रसार पर और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार पर बल दिया। उनकी मान्यता थी कि स्वदेशी आन्दोलन अंग्रेजी दासता से मुक्ति का प्रमुख मार्ग है ।

तिलक ने केसरी में अनेक लेख लिखकर देश की श्रमजीवी जनता के आर्थिक पिछड़ेपन का चित्र प्रस्तुत करते हुए उसके कारणों पर विस्तार से प्रकाश डाला। वे भारतीय उद्योगों की स्थापना और आन्तरिक व्यापार के विस्तार पर अत्यधिक बल देते थे और वे आजीवन

भारतीय उद्योगपतियों को संरक्षण देनों की नीति पर दृढ़ रहे ।

तिलक ने सुझाव दिया कि कृषि की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि किसानों पर ऋण के बोझ को कम किया जाये और देश मे स्थायी बन्दोबस्त किया जाये, जिससे किसार सरकार हितैषी जमींदारों के शोषण से मुक्ति पा सकें। तिलक को भारतीय श्रमिकों की दयनीय दशा के प्रति भी अत्यधिक चिन्ता थी । उन्होंने मुम्बई के श्रमिकों को शोषण के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने और आवश्कतानुसार हड़ताल करने को भी प्रोत्साहित किया। 1908 ई. में जब तिलक को गिरफ्तार करके देश से निर्वासित किया गया तो उसके विरोध में श्रमिकों तथा व्यापारियों ने प्रदर्शन किया।

तिलक अंग्रेज पूँजीपतियों का विरोध करते थे, परन्तु उनकी मान्यता थी कि स्वदेशी के विस्तार के लिए भारतीय पूंजीपतियों को संरक्षण देना आवश्यक है ।

बाल गंगाधर तिलक के शिक्षा सम्बन्धी विचार

बाल गंगाधर तिलक देश की प्रगति और विकास के लिए शिक्षा प्रचार को अधिक महत्व देते थे। वे शिक्षा को जन—जागृति का प्रमुख माध्यम मानते थे। उन्होंने कहा, श्पढ़ना—लिखना सीख लेना ही शिक्षा नहीं है। शिक्षा वही है, जो हमें जीविकोपार्जन के योग्य बनाये, देश का सच्चा नागरिक बनाये और हमें पूर्वजों का ज्ञान और अनुभव दे !!

धर्म (1) धार्मिक शिक्षा पर बल — तिलक धार्मिक शिक्षा पर अत्यधिक बल देते थे, परन्तु और धार्मिक शिक्षा के विषय में उनके विचार संकुचित नहीं थे । उनका विचार था कि यदि हिन्दुओं को सच्चे हिन्दू धर्म की और मुसलमानों का सच्चे इस्लाम धर्म की शिक्षा दी जायें तो दोनों में एक दूसरे के प्रति सम्मान और सहष्णुता की भावना का विस्तार होगा। उनके अनुसार सच्ची धार्मिक शिक्षा आपसी कलह और द्वेषों को दूर करने का एक शक्तिशाली माध यम है और चरित्र—निर्माण के लिए धर्म निरपेक्ष शिक्षा पर्याप्त नहीं है।

प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक एवं विचारधाराएँ

(2) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो—उनका विचार था शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही होना चाहिए। देश की एकता और राष्ट्रीय भावना की वृद्धि के लिए यह आवश्क है कि देश की एक राष्ट्रभाषा हो और अनकी मान्यता थी कि हिन्दी ही राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिस्थापित की जानी चाहिए। उन्होंने सर्वप्रथम इस बात का भी सुझाव दिया कि देवनागरी लिपि में लिखी जाने वाली हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा बनाया जाये।

(3) एक राष्ट्रभाषा का समर्थन — राष्ट्रभाषा के महत्व को स्वीकार करते हुए भी तिलक अंग्रेजों के महत्व को नकारत नहीं थे। वे राष्ट्रभाषा को प्रधानता तथा अंग्रेजी को गौण स्थान देना चाहते थे ।

(4) औद्योगिक तथा प्राविधिक शिक्षा — उनका विचार था कि सरकार द्वारा स्थापित तथा संचालित स्कूलों और कॉलेजों में जो शिक्षा प्रदान की जाती है, उसमें छात्रों के व्यावहारिक ज्ञान में वृद्धि नहीं होती। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि पाठ्यक्रम में औद्योगिक तथा तकनीकी शिक्षा को भी स्थान दिया जाना चाहिए।

राष्ट्रीय शिक्षा के विस्तार के उद्देश्य से उन्होंने स्वयं शिक्षा क्षेत्र में काम आरम्भ किया । उन्होंने कहा कि हमें अपने विद्यालय स्वयं स्थापित करने चाहिए, जहां प्राचीन आदशों पर आधारित शिक्षा प्रदान की जा सके। आरम्भ से ही तिलक का ह्रदय देशभक्ति से परपूर्ण थ बाल्यकाल से ही वे देशभक्तों के कार्यों तथा सरकार की दमनचक की नीति के बारे में सुनने तथा पढ़ते थे। अतएव उसी समय उन्होंने यह संकल्प कर लिया था कि वे सरकारी नौकरी न करके देश सेवा के कार्य में प्रवृत्त होंगे। अपने कॉलेज के दिनों में ही उन्हें गोपाल गणेश आगरकार और विष्णु भाास्त्री चिपलूणकर का सानिध्य और सहयोग प्राप्त हो गया था, जो बाद तक बना रहा। आरम्भ में ही तिलक को शिक्षा और शिक्षक वृत्ति में अत्यधिक रुचि थी। 1880 ई. में उन्होंने चिपलूणकर के सहयोग से श्पूना न्यू इंग्लिश स्कूल की स्थापना की और तिलक ने इस स्कूल में एक वर्ष तक अवैतनिक रूप में कार्य किया। 1884 ई. में

डकंन एजूकेशन सोसाइटी बनी और 1885 ई. में फर्गुसन कॉलेज खोला गया। तिलक ने पाँच वर्ष तक इस कॉलेज में बड़ी निष्ठापूर्वक अध्यापक का कार्य किया। कुछ मतभेद के कारण 1890 ई. में वे इस कॉलेज तथा सोसाइटी से अलग हो गये और स्वतन्त्र रूप से श्केसरीश तथा श्मराठाश समाचार–पत्रों का सम्पादन आरम्भ कर दिया। इन समाचार–पत्रों की स्थापना तो 1881 ई. में ही हो गई थी । तिलक ने 1882 ई. में इन समाचार–पत्रों में कोल्हापुर रियासत के दीवान के विरूद्ध तीन पत्र लिखे थे। परणामस्वरूप उन्हें चार मास की सजा भी भुगतनी पड़ी थी। श्केसरीश तथा श्मराठाश के माध्यम से तिलक महाराष्ट्र की जनता के निकट आने लगे तथा उसमें देशभक्ति की भावना भरने लगे ।

सन् 1893 तथा 1895 ई. में उन्होंने कमशः गणपति उत्सव और शिवाजी उत्सव आरम्भ किए, जिनका उद्देश्य समाज में अपने प्राचीन गौरव के प्रति वर्ग की भावना का तथा मराठा स्वराज्य के जनक शिवाजी के महान कार्यों के प्रति जागरूकता उत्पन्न कर समाज में नवीन भाक्ति का संचार करना था। उस समय देशवासियों से राजनीतिज्ञ अधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्ष करने का खुलकर आहवाहन करना सम्भव नहीं था, इसलिए तिलक इन उत्सवों के माध्यम से जनता में राष्ट्र–प्रेम तथा देशभक्ति की भावना भरना चाहते थे । यद्यपि अखिल भारतीय कांग्रेस की स्थापना 1885 ई. में ही हो गई थी, परन्तु उस समय तक कांग्रेस भिक्षावृत्ति से आगे नहीं बढ़ पायी थी । तिलक अपने लेखो से कांग्रेस को भी नया जीवन प्रदान कर रहे थे। 1896 ई. में देश के पश्चिमी भाग में भयानक अकाल पड़ा। इस समय लिलक ने जनता ने जनता में अपनी दयनीय आर्थिक अवस्था के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने के प्रयास किए। 1897 ई. में पूना में फैलो प्लेग के समय तिलक ने वहाँ के लोगों की अपूर्व सेवा की, जबकि अनेक नेता पूना छोड़कर भाग गए। इस काम में वे भाासन की निगाह में खटकने लगे, क्योंकि उन्होंने सरकारी नीति और कार्यों की खुलकर आलोचना की इसी समय दामोदर चाफकर ने प्लेग कमिश्नर रैण्ड की हत्या कर दीं इस हत्या उसे उनका सम्बन्ध नहीं था, परन्तु श्केसरीश में प्रकाशित उनके लेखों को सरकार के विरुद्ध उसन्तोष फैलाने वाला मानकर उन्हें 18 मास का कारोवास का दण्ड दिया गया। इससे सारे देश में कोहराम मच गया।

जेल से छूटने पर तिलक दृढ़ता से राष्ट्र–सेवा के कार्य में जुट गये। 1905 ई. के बंगाल विभाजन के विरुद्ध देश में जो आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, तिलक ने उसे अंग्रजी भाासन विरोध ी राष्ट्रीय आन्दोलन में बदल दिया और उन्होंने देश के सम्मुख स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा प्रचार सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किये तथा कोई भी प्रचार और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के सरकार विरोधी कार्य में लग गये। उस समय उन्होंने केसरी में अनेक लेख लिखकर कान्तिकारियों की गतिविधियों का समर्थन भी किया। परिणामस्वरूप 1908 ई. में उन्हें देश से निर्वासित करके छः वर्ष के लिए म्यांमार की माण्डले जेल में भेद दिया गया। 1905 ई. तथा 1908 ई. के मध्य तिलक का प्रभाव इतना व्यापक हो गया ब्रिटिश सरकार उनसे भयभीत हो गयी।

तिलक छः वर्ष तक माण्डले की जेल में रहे। इसी बीच उनकी धर्मपत्नी का निधन हो गया। कारावास में ही तिलक ने अपना प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ श्गीता रहस्यश लिखकर गीता की अपूर्व व्याख्या की। यह ग्रन्थ 1914 ई. में उनके जेल से मुक्त होने के बाद 1915 ई. में प्रकाशित हुआ। अब तक एक महान राष्ट्रीय योद्धा बन चुके थे।

1906 में उन्होंने श्होमरूल लीगश की स्थापना की और उस दल के राष्ट्रीय स्तर के नेता बनाये गये। उन्होंने इस नये दल के रूप में ऐसे संगठन के निर्माण का प्रयास किया, जो कांग्रेस के प्रतिवेदन, याचना और अपील की नीति को निष्क्रिय मानता था। होमरूल आन्दोलन के दिनों में तिलक ने जनता को संगठित करने तथा उसमें कर्मण्यता की भावना फूँकने का महत्वपूर्ण कार्य किया। तिलक ने होमरूल आन्दोलन का सन्देश ऐनी बेसेन्ट के साथ देश के कोने–कोने में पहुँचाने के लिए अथक परिश्रम किया । 31 मई, 1916 को

अहमदनगर में भाषण देते हुए उन्होंने होमरूल या स्वराज्य आन्दोलन को स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि, ''होमरूल का अर्थ सम्राट के भाासन का उन्मूलन करना और किसी देशी रियासत का भासन स्थापित करना नहीं है। हमें मन्दिर के देवताओं को नहीं हटाना है, केवल पुजारियों को बदलना है। सम्राट अपनी गोरी और काली प्रजा के बीच भेदभाव नहीं करते, इसलिए नौकरशाही पुजारियों को बदले से उनका अहित नहीं होगा। स्वराज्य का अर्थ यह नहीं है कि अंग्रेज सरकार के स्थान पर जर्मन सरकार को स्थापित कर दिया जाये। स्वराज्य से अभिप्राय केवल यह है कि भारत के आन्तरिक मामलों का संचालन और प्रबन्ध भारतवासियों के हाथों में हो । यह ब्रिटेन के राजा को सम्राट बनाये रखने में विश्वास करते हैं । इस प्रकार तिलक ने स्वराज्य की समयानुकूल व्याख्या की। होमरूल या स्वराज्य–प्राति उनका तात्कालिक लक्ष्य था, परन्तु अन्तिम लक्षण का उन्होंने परित्याग नहीं किया। 1916 ई. की लखनऊ कांग्रेस में उन्होंने ही यह घोषणा की थी कि, ष्स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूँगा।ष अन्त तक उनकी यह मान्यता रही कि स्वराज्य के अभाव में भारत समृद्ध नहीं हो सकता द्य स्वराज्य हमारे अस्तित्व के लिए आवश्यक है।

तिलक ने प्रथम महायुद्ध के पश्चात् 1919 ई. में पेरिस में आयोजित भाान्ति सम्मेलन को एक ज्ञापन दिया, जो भावी भारत के महत्व की उनकी कल्पन को प्रस्तुत करता है। इस ज्ञापन में उन्होंने कहा था कि एशिया और सम्पूर्ण विश्व की भान्ति की दृष्टि से यह नितान्त आवश्यक है कि भारत को आन्तरिक रूप में स्वशासन प्राप्त हो और उसे पूरब में स्वतन्त्रता का गढ़ बनाया जाये। किसी भी सभ्य राष्ट्र के ऊपर उकी सहमति के बिना किसी अन्य राष्ट्र का भासन नहीं होना चाहिए। भारत अपने जन्मसिद्ध अधिकार के रूप में अपने लिए आत्म निर्णय के अधिकार की माँग करता है और अपने विशाल क्षेत्र, अतुल साधनों और असाधारण जनसंख्या के बल पर एशिया की प्रमुख भाक्ति बनने की न्यायोचित आकांक्षा कर सकता है। राष्ट्रसंघ में भारत को प्रतिनिधित्व का वही अधिकार दिया जाये, जो अन्य ब्रिटिश सन्धि राज्यों को प्राप्त है।

1918 ई. में ही तिलक इंग्लैण्ड भी गये थे, जहाँ उन्होंने वैलेन्टाइन शिरोल पर अपनी पुस्तक श्भारतीय असन्तोषश (प्दकपंद न्दतमेज) में उनकी अनुचित आलोचना करने के लिए मुकदमा चलाया था। विलायत प्रवास में उन्होंने ब्रिटिशं मजदूर दल के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये। उनके अथक प्रयासों से ही अमृतसर कांग्रेस में मॉण्टफोर्ड सुधर योजना के सम्बन्ध में प्रस्ताव पास किया गया। इस योजना को कार्यन्वित करने के उद्देश्य से उन्होंने अप्रैल 1920 में कांग्रेस लोकतान्त्रिक दल की स्थापना की। इस दल के घोषणा–पत्र में तिलक ने कांग्रेस तथा लोकतन्त्र दोनों के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए कहा कि भारत की समस्याओं का समाधान लोकतन्त्रीय व्यवस्था के अन्तर्गत ही समझा गया है। घोषण–पत्र में सामाजिक और आर्थिक न्याय के सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए पूँजीपतियों और श्रमिकों के बीच न्यायोचित सम्बन्ध स्थापित करने की आवश्यकता पर बल दिया गया।

भारतीय राजनीतिक को तिलक का योगदान अथवा महत्व

देश के राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रणी नेताओं में बाल गंगाधर तिलक का महत्वपूर्ण स्थान है। वे एक राजनीतिज्ञ ही नहीं, अपितु महान् देशभक्त, वेदविज्ञ, अद्वितीय गणितज्ञ और गीता के प्रमुख टीकाकार थे। महाराष्ट्र में अनेक स्थानों पर उनकी देवता के समान पूजा की जाती थी । हिन्दू संस्कृति के मूल तत्वों पर उनकी आस्था अविचल थी। उनके जीवन का एकमात्र लक्ष्य था। भारत को उत्कर्ष के शिखर पर पहुँचाना। उन्होंने अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए अपार कष्ट सहे । उनका व्यक्तिगत जीवन निष्कलंक तथा चरित्र उदात्त था । वी. पी. वर्मा का कथन हैं कि, श्मर्यादा पुरुषोत्तम राम और भीष्म के उदात्त, पवित्र, विशुद्ध जीवन से ही तिलक के जीवन की तुलना की जा सकती है। अंग्रेजी सम्राज्यवाद, पूँजीवाद,

सैनिकवाद की संगठित शक्ति के विरोध में भारतीय स्वराज्य का नारा बुलन्द करता है और चालीस वर्ष तक अखण्ड रूप मे उस स्वराज्य के लिए लड़ते रहना कर्मयोगी तिलक का ही कार्य था। यह भारत का अहोभाग्य था कि स्वातन्त्रय संग्राम के प्रारम्भिक दिनों में ऐसे महान् नेता का नेतृत्व उसे प्राप्त हुआ ।

तिलक के सार्वजनिक जीवन का आरम्भ एक शिक्षाशास्त्री और शिक्षक के रूप में हुआ और उन्होंने पूना में न्यू इंग्लिश स्कूल, डंकन एजूकेशन सोसाइटी तथा पूना के फर्ग्युसन कॉलेज का स्थापना में प्रमुख योगदान दिया। वे भारतीय इतिहास और अर्थशास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। वे ऋग्वेद, वेदान्त, महाभारत, गीता तथा जर्मनी के प्रमुख विचारक काण्ट तथा हीगल तथा इंगलैण्ड के राजनीतिक विचारक ग्रीन के दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान थे ।

आरम्भ में तिलक का राजनीतिक कार्यक्षेत्र महाराष्ट्र था तथा उन्होंने श्केसरीश और श्मराठाश नामक समाचार–पत्रों के माध्यम से, राजनीतिक स्वतन्त्रता, अधिकार, सामाजिक तथा आर्थिक न्याय का सन्धि तथा शिवाजी और गणपति उत्सवों के माध्यम से राष्ट्रभक्ति का सन्देश जन–जन तक पहुँचाया।

सामाजिक एवं राजनीतिक विचारक के रूप में तिलक का अद्वितीय स्थान है। वी. पी. वर्मा का कथन है कि, ष्माण्डले जेल में उन्होंने गीता पर जो भाष्य (गीता रहस्य) लिखा, वह गीता की श्व्याख्या मात्र नहीं है, बल्कि उसमें हमें प्राच्य और पाश्चात्य नीतिशास्त्र और तत्वशास्त्रीय सिद्धान्तों का निर्भीकतापूर्व समन्वय भी देखने को मिलता है।ष तिलक के अनुसार, गीता का उनदेश है कि व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक और निःस्वार्थ भाव से अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। अपने कर्मयोग के इस सन्देश में तिलक ने यजुर्वेद तथा गद्य उपनिषदों में प्रतिपादित कर्म के सिद्धान्त का सामाजिक आदर्शवाद, लोकतान्त्रिक नैतिकता तथा गतिशील मानववाद की आधुनिक भावना के साथ समन्वय करने का प्रयत्न किया है। तिलक की दृष्टि में कर्मयोगी जीवन, नैतिकता तथा धर्म का सांगोपांग तथा समुचित दर्शन है।

तिलक ने किसी राजनीतिक बाद या सम्प्रदाय का आरम्भ नहीं किया, वे व्यावहारिक राजनीतिज्ञ थे, परन्तु उन्होंने भारतीय सन्दर्भ में अनेक राजनीतिक, सामाजि, सांस्कृतिक, आर्थक. भौक्षिक समस्याओं पर गम्भीर विचार व्यक्त किये। उनकी मानव के प्राकृतिक अधिकारों एवं स्वतन्त्रता की धारणा उनके आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रभावित है। उनके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति में स्वतन्त्र आध यात्मिक भाक्ति निहित है और स्वतन्त्रता प्रत्येक व्यक्ति का प्राकृतिक तथा निहित गुण है। स्वतन्त्रता एक दैवी गुण है, जिसके अभाव में मानव का नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन ही सम्भव नहीं है। तिलक ने स्वराज्य को भी नैतिक और आध्यात्मिक आयाम प्रदान किये। उनके अनुसार, स्वराजय मानव का अधिकार मात्र ही नहीं, वरन् उसका धर्म है। यह मनुष्य की प्रकृति में निहित है। स्वराज्य उसकी नैतिक आवश्यकता है। स्वराज्य एक ऐसी राजनीतिक व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत रहकर ही व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग कर सकता है। कोई राष्ट्र तब तक अपनी आध यात्मिक, औद्योगिक, भौक्षिक, सांस्कृतिक, सामाजिक उन्नति नहीं कर सकता, जब तक उसे स्वराज्य प्राप्त न हो। इसीलिए तिलक ने उद्घोष किय था, स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधि ाकार है और मैं इस लेकर रहूँगा।

उनकी स्वराज्य की अवधारणा में पूर्ण स्वतन्त्रता का भाव निहित था, परन्तु तत्कालीन थे। परिस्थितियों में वे ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहकर होमरूल या स्वराज्य प्राप्त करने को प्रस्तुत उन्होंने इसी उद्देश्य से ऐनी बेसेन्ट के सहयोग से होमरूल लीग की स्थापना की और राष्ट्र के निवासियों को आहवान किया कि वे स्वराज्य की प्राप्ति के लिए अपना सर्वस्व बलिदान करने को तैयार रहें।

तिलक राष्ट्रवादी थे, परन्तु उनके राष्ट्रवाद को राष्ट्रीय पुनरुत्थानवाद के विचार से प्रभावित कहा गया। इसका आशय यह है कि ये प्राचीन भारतीय आदर्शों को अनदेखा कर भारतीय

राष्ट्रवाद श्के भवन का निर्माण करना चाहते थे। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि सच्चे राष्ट्रवाद का निर्माण पुरानी नींव पर ही सम्भव है। वे अपनी संस्थाओं एवं संस्कृति का पाश्चात्य ढाँचे पर पुनर्निर्माण करने के पक्ष र नहीं थे। राष्ट्रवादी भावनाओं को अपनी प्राचीन मान्यताओं के आधार पर सशक्त बनाने की दृष्टि से ही उन्होंने शिवाजी तथा गणपति उत्सवों का आरम्भ किया ।

डॉ. वी. पी. वर्मा का कथन है कि, षतिलक के जीवन का एक ही उद्देश्य था कि भारत का सर्वतोभावेन उत्कर्ष । इस महान कार्य की सिद्धि के लिए अपने समस्त जीवन को उन्होंने एक अखण्ड यज्ञ बना डाला । निरन्तर साधना, अटूट अध्यवसाय, दीर्घकालीन देश निमित्तक कर्मयोग तिलक के जीवन का यही सार है ।

तिलक सामाजिक और राजनीतिक दर्शन के रूप में प्रमुख स्थान रखते हैं। बी. पी. वर्मा ने उन्हें श्भारतीय राष्ट्रवाद के भीष्मश की संज्ञा दी हैं। उनकी कर्म की अवधारणा बड़ी व्यापक और उदार थी। हिन्दू धर्म में उनकी अपार निष्ठा थी। वे हिन्दू धर्म को उतना ही प्राचीन मानते थे, जितनी प्राचीन मानव जाति हैं। उनकी इच्छा थी कि हिन्दू धर्म के अन्तर्गत विभिन्न मत और सम्प्रदाय एक भाक्तिशाली राष्ट्र के रूप में संगठित हों।

वे तिलक समाज सुधारक के लिए सरकार द्वारा कानन बनाने के विरुद्ध नहीं थे, परन्तु तत्कालीन परिस्थिति में राजनीतिक समस्याओं को प्रमुखता देते थे तथा राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं को अलग—अलग रखना चाहते थे और समाज सुधार को राजनीतिक स्वतन्त्रता की पूर्व भार्त नहीं मानते थे । इस प्रकार तिलकं विदेशी दासता से मुक्ति को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करते थे । उनका यह विश्वास भी था कि राजनीतिक स्वाधीनता के अभाव में सामाजिक और सांस्कृतिक स्वायत्तता को बनाये रखना भी सम्भव नहीं होगा। तिलक के सामाजिक विचारों में पुरातनवाद तथा नवीनता का मिश्रण है। वे अस्पृश्यता के विरुद्ध थे, परन्तु अन्तर्जातीय विवाह के विरुद्ध नहीं थे। वे स्त्री शिक्षा के विरुद्ध नहीं थे, पाश्चात्य पद्धति की शिक्षा के विरुद्ध थे ।

परन्तु तिलक के राजनीतिक विचार उनकी आध्यात्मिक मान्यताओं से प्रभावित हैं। वे स्वतन्त्रता को एक ईश्वरीय गुण कानकर व्यक्ति की स्वतन्त्रता को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते थे। उनका कथन था कि स्वतन्त्रता के अभाव में नैतिक तथा आध्यात्मिक जीवन सम्भव नहीं है। वे स्वराज्य को व्यक्ति का अधिकार मात्र न मानकर उसे व्यक्ति का धर्म मानते थे । वे व्यक्ति के लिए राजनीतिक और आध श्यात्मिक दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता चाहते थे ।

तिलक के राष्ट्रवाद को इस अर्थ में कुछ अंशों में पुनरुत्थानवादी कहा जा सकता है कि उनकी मान्यता थी कि सच्चे राष्ट्रवाद का आधार प्राचीन भारतीय संस्कृति ही हो सकती है। वे श भारतीय संस्थाओं को विदेशी ढाँचे में ढालने के विरुद्ध थे। परन्तु मान्यता के आध ाार पर ही हम उन्हें हिन्दू राष्ट्रवादी नहीं कर सकते। उन्होंने कभी भी मुसलमानों का विरोध नहीं किया। उनका राष्ट्रवाद इस अर्थ में धर्म निरपेक्ष था और वह आर्थिक तर्कों पर भी आधारित था । उनकी मान्यता थी कि जब तक राजनीतिक भाक्ति विदेशी सरकार के हाथ में है, तब तक देशी उद्योगों की प्रगति सम्भव नहीं ।

आरम्भ में तिलक को सक्रिय राजनीतिक आन्दोलन चलाने का आवश्यक अवसर न मिला। यह अवसर उन्हें बंग—भंग के बाद मिला और उनके प्रयासों से यह प्रादेशिक स्तर का आन्दोलन भीघ्र ही अखिल भारतीय आन्दोलन बन गया। उन्होंने बंगाल विभाजन, विरोधी आन्दोलन को स्वराज्य आन्दोलन में बदल दिया और स्वदेशी प्रचार, विदेशी बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा तथा निष्क्रिय प्रतिरोध में पूरी तरह जुट गये ।

भारतीय राजनीति में तिलक गरमदलीय या अग्रवादी नेता थे। उन्होंने बंग—भंग आन्दोलन के समय एक नये राष्ट्रीय दल का नेतृत्व सँभाला और बाद में काँग्रस लोकतान्त्रिक दल

के नाम से एक नये दल का भी निर्माण किया ।

इस प्रकार कहा जा सकता हैं कि तिलक आधुनिक भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर एक दैदीप्यामन नक्षत्र की भाँति उभरकर सामने आये थे और भारतीय इतिहास में उनका अद्वितीय स्थान है ।

अभ्यास–प्रश्न

1. बाल गंगाधर तिलक का संक्षिप्त जीवन परिचय दें।

2रू तिलक के राजनीतिक दर्शन की समीक्षा कीजिये ।

3. राष्ट्रवाद के संबंध में तिलक की अवधारणा स्पष्ट करें तथा उनके स्वराज्य दर्शन की विवेचना करें ।

4. समाज सुधार के संबंध में तिलक के क्या विचार थे?

5. तिलक की भौक्षिक एवं राजनीतिक गतिविधियों की विवेचना करें।

6. भारतीय राजनीति को तिलक के योगदान की समीक्षा करें।

bdkbl& 13 egkRek xk/kh
(MAHATMA GANDHI)

आईस्टीन ने कहा है कि आने वाली पीढ़ियाँ यह विश्वास नहीं करेंगी कि गाँधी जैसा एक हाड़ माँस का मानव पृथ्वी पर रहता था । महात्मा गाँधी की तुलना इतिहास बदलने वाले व्यक्तियों में की जाती है, उन्हें बुद्ध और ईसा जैसे व्यक्तित्व के समान वर्ग में रखा जाता है। महान व्यक्तित्व के धनी हाने के कारण तथा समय के सन्दर्भ में हमसे नजदीक होने के कारण विचारक के रूप में उनकी पहचान को बहुत वर्षों तक अधिक महत्व नहीं दिया गया। 21वीं भाताब्दी के आरम्भ में आज उनको विकास की एक वैकल्पिक व्यवस्था के जनक के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। आज के सभी समाजिक वैज्ञानिकों को जब भी – पूँजीवादी, भौतिकतावादी, इन्द्रियजन्य विकास की अवध धारणा के विकल्प की आवश्यकता होती है तब महात्मा गाँधी को याद किया जाता है । विश्व में धर्म की स्थापना करने वालों के अलावा किसी भी अन्य व्यक्ति पर इतना अधिक नहीं लिखा गया है और न ही किसी भी व्यक्ति की विपरीत व्यक्तित्व वाले महान लोगों से ही इतनी अधिक तुलना की गई है। महात्मा गाँधी की तुलना (बुद्ध, सन्त फ्रांसिस, लिंकन, सनयायसेन, रूसों, थोरो, मार्क्स और टाल्सटॉय) जैसे व्यक्तियों से की गई है।

उनका व्यक्तित्व भी बहुआयामी था । दक्षिण अफ्रीका में मानव अधिकारों के लिए संघर्ष करने वालाय भारत के जन आन्दोलन का सफलतापूर्वक नेतृत्व करने वाला, सामाजिक बुराइयों जैसे अस्पृश्यता के विरुद्ध युद्ध करने वाला, प्राकृतिक चिकित्सा व स्वस्थ भेजन का प्रयोग करने वाला, समाज सुधारक, महिलाओं को समान दर्जा दिलाने वाला, विभिन्न धर्मो का तुलनात्मक अध्ययन करने वाला, बुद्धिमान प्रचारक, कुशल पेम्फलेंटर, हजारों व्यक्तियों को नैतिक निर्देशन देने वाला, आश्रम और सामुदायिक जीवन की स्थापना करने वाला और एक संत के रूप में पहचाना जने वाला व्यक्तित्व महात्मा गाँधी का था । उम्प्र भर राजनीतिक गतिविधियों में लिप्त रहने के बावजूद भी जीवन में कभी भी राजनीतिज्ञों द्वारा उनके निर्णय को नियन्त्रित नहीं किया गया। उनके द्वारा लिखे गये लेखान की विस्तृतता इतनी अधिक है कि उसे व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करना असम्भव है। उनके द्वारा अपने जीवन में डेढ़ करोड़ भाब्द लिखे गये जिनका 100 ग्रन्थों में संकलन किया गया है। उन्होंने जीवन के हर पहलू पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। 1933 में उन्होंने लिखा कि मैंने जो कुछ लिखा है उसमें सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का समावेश करना आवश्यक है। उन्होंने अपने चिन्तन में विकासात्मक पहलुओं पर जोर दिया। 1939 में उन्होंने लिखा मि, लिखते समय यह कभी नहीं सोचता हूँ कि इस विषय पर पहले क्या लिखा? मेरा उद्देश्य अपने पहले लिखे गये वक्तव्यों के प्रति संगतता बनाये रखना नहीं है, अपितु सत्य के प्रति प्रतिबद्धता बनाये रखना है। उन्होंने अपने चिन्तन में कई अव रणाओं को जन्म दिया है और पुरानी अवधारणाओं को नये ढंग से प्रस्तुत कर स्वराज, स्वदेशीरू सत्याग्रह, सर्वोदय इत्यादि अवधारणाओं को संशोधित किया और लोकप्रिय बनाया। इतना लिखने के पीछे उनकी विस्तृत पठन की प्रवृत्ति थी। 1923 में यर्वदा जेल में 54 वर्ष की आयु में उन्होंने एक साल में 150 पुस्तकों का अध्ययन किया, जिनमें महाभारत, भारतीय दर्शन के सभी छः सम्प्रदायों, मनुस्मृति, उपनिषद्, गीता की सभी टीकाऐं, विलियम जेम्स, एच.जी. वेल्स, रूडयार्ड किपलिंग जैसे लेखकों की रचनायें पढ़ी थी। 1944 में उन्होंने कार्लमार्क्स के श्दास केपिटलश का अध्ययन किया और यह टिप्पणी की कि मैं यह नहीं जानता कि मार्क्सवाद सही है या नहीं, लेकिन जब तक गरीब का शोषण होता रहेगा उसके लिए कुछ न कुछ तो करना ही होगा। आज विश्व में भारत की पहचान का एक बहुत बड़ा कारण महात्मा गाँधी हैं। महात्मा गाँध द्वारा किये गये कार्यों और उनके द्वारा बनाये गये सिद्धान्तों का अनुसरण सारे विश्व में होता है और भारत के नागरिक होने के कारण हमें उनके कार्यों

और विचारों के सही परिप्रेक्ष्य को समझना चहिए और उस पर गर्व करना चाहिये।

महात्मा गाँधी का जन्म 2 अक्टूबर 1869 को गुजरात प्रांत के पोरबन्दर में हुआ था। इनके पिता करमचन्द्र गाँधी ने 4 भाादियों की थीं और 3 पत्नियों की मृत्यु के पश्चात् चौथी पत्नी पुतली बाई से उन्हें 3 पुत्र और 1 पुत्री हुए। करमचंद गाँधी की पहली पत्नी के भी 2 पुत्रियाँ थीं। उनके 3 पुत्रों में सबसे बड़े लक्ष्मीदास श्कालाश, दूसरे कृष्णदास श्कृष्णिया और तीसरे मोहनदास मोहनियाश थे। तीसरे और सबसे छोटे पुत्र मोहनदास ही महात्मा बने । गाँधीजी जाति से वैश्व थे तथा जूनागढ़ राज्य के कुटियाना जगह से सम्बन्धित थे। गाँधीजी के पड़दादा हरजीवन गाँधी ने 1777 में पोरबन्दर में एक मकान खरीदा और व्यापारी के रूप में वे वहाँ स्थापित हुए। हरजीवन गाँधी के पुत्र उत्तमचंद– (महात्मा गाँधी के दादा) पोरबन्दर के भाासक राणा सिंह जी के दीवान नियुक्त हुए। 1847 में उत्तमचंद इस राज्य के 28 वर्ष तक दीवान बने रहे। करमचंद गाँधी की शिक्षा बहुत कम हुई थी, लेकिन उन्हें राज्य के कार्यों और कार्य निष्पादन का पर्याप्त अनुभव था । उनकी ख्याति एक ईमानदार, प्रतिबद्ध, समक्ष एवं आज्ञाकारी प्रशासक के रूप में थी । महात्मा गाँधी की माता पुतली बाई एक धार्मिक एवं मजबूत महिला थी। वे अनेक व्रतों और उपवासों से मजबूत बनी थी तथा वे आंतरिक रूप से सशक्त महिला थी। महात्मा गाँधी ने माना कि उनके जीवन के व्यक्तित्व में जो कुछ भाद्धता है वह उनकी माता की देन है। महात्मा गाँधी ने 6 वर्ग की उम्र में पढ़ाई आरम्भ की और राजकोट के तालिका स्कूल में शिक्षा प्राप्त की । शिक्षा के आरम्भिक दिनों में वे एक भीरू बच्चे थे और बच्चों से दोस्ती करने की अपेक्षा स्वयं तक सीमित रहते थे। वे प्रकृति से झूठ व फरेब से परे थे। 1887 में महात्मा गाँधी ने मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण की तब तक परिवार के मित्र माउजी दवे ने उन्हें यह सुझाव दिया कि मोहनदास को कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड जाना चाहिए ताकि वे बैरिस्टर बन सकें और वापसी में अपने पिता का स्थान ले सकें।

4 सितम्बर, 1888 को वे पानी के जहान से इंग्लैण्ड के लिए रवाना हो गये। 3 वर्ष तक उन्होंने इंग्लैण्ड में रहकार कानून की शिक्षा प्राप्त की और पुनः भारत लौट आये। उन्होंने भारत में वकालत करने की कोशिश की लेकिन वे अधिक सफल नहीं हुए। उनमें सार्वजनिक भाषण देने की कला का अभाव था और वे न्यायालय के जज के समक्ष अपने तर्कों को सही प्रकार से प्रस्तुत नहीं कर पा रहे थे। ऐसे समय उन्हें दक्षिण अफ्रीका जाने का न्योता मिला। दक्षिण अफ्रीका में एक मुस्लिम भारतीय व्यापारी अब्दुला ने उन्हें अपना मुकदमा लड़ने के लिए आमंत्रित किया। मई 1893 में महात्मा गाँधी डरबन में पहुँचे। वहाँ एक रेल यात्रा के दौरान उन्हें रंगभेद का सामना करना पड़ा और इस रंगभेद की नीति को उन्होंने बाद में कई स्थानों पर एक भयवाह रूप में देखा। धीरे–धीरे महात्मा गाँध ती ने दक्षिण अफ्रीका सरकार की रंगभेद नीतियों के विरूद्ध बढ़ती जनचेतना को संगठित रूप प्रदान किया। दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गाँधी 1915 तक रहे और इस बीच उन्होंने न केवल अपनी राजनीति को विकसित किया अपितु राजनीतिक संगठन बनाया, राजनीतिक विरोध के स्वरूप का निर्धारण किया तथा वे राजनीतिक विरोध को जनता और विश्व के कोने–कोने तक फैलाने में सफल रहे। राजनीति में सफल होने के बावजूद उन्होंने स्वयं के साथ प्रयोग करना नहीं छोड़ा। इसे उन्होंने ष्सत्य के साथ मेरे प्रयोगश नाम दिया। यह 1925 में उनके द्वारा लिखी गई आत्मकथा का भीर्षक भी था। दक्षिण अफ्रीका के प्रवास के दौरान उन्होंने हड़तालें की, अहिंसात्मक संघर्ष किया, कई अखवार निकाले, आश्रमों की स्थापना की और एक पेम्फलेटर के रूप में ख्याति प्राप्त की। इसी दौरान उन्होंने अपनी दार्शनिक सोच को पहली बार स्वयं की पुस्तक षहिन्द स्वराज्यष में प्रस्तुत किया। महात्मा गाँध श्री ने 1909 में इस पुस्तक की रचना की थी। यह पुस्तक 20 छोटे–छोटे अध्यायों में विभक्त है । 11 अध्यायों में उस समय के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में टिप्पणियों है, बाकी में दार्शनिक प्रश्नों पर टिप्पणियाँ हैं। यह पुस्तक इंग्लैण्ड से दक्षिण अफ्रीका जाते समय

जहाज पर (13 नवम्बर, 1909 से 22 नवम्बर, 1909 तक) दस दिनों के भीतर गुजराती भाषा में लिखी गयी। आज इस पुस्तक को आधुनिकता के संदर्भ में प्रमुख समीक्षात्मक पुस्तक के रूप में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। 1915 में भारत लौटने पश्चात् महात्मा गाँधी ने 1947 तक भारतीय राजनीति में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। 1920 से 1947 का समय गाँधी युग के रूप में जाना जाता है। भारत आने के पश्चात् गाँधीजी ने गोपाल कृष्ण गोखले की सलाह पर एक वर्ष तक भारत का दौरा किया, जिससे कि वह भारत के आम आदमियों की सभी समस्याओं को जान सके और भारतीय समाज के बारे में समझ सकें। भारत में आने से पूर्व उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में सत्ता के विरोध का एक नया और सफल हथियार "सत्याग्रहष खोज लिया था। भारत की आजादी की लड़ाई में इसका सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया। भारत महात्मा गाँधी ने कई आन्दोलनों को सफलापूर्वक नेतृत्व प्रदान किया। इसमें सबसे पहला व विशाल आन्दोलन 1917 चम्पारण में हुआ। उसके पश्चात् 1919 का खिलाफत आन्दोलन, 1920, का असहयोग आन्दोलन, 1930 का नमक सत्याग्रह आन्दोलन एवं सविनय अवज्ञा आन्दोलन, 1942 का भारत छोड़ो आन्दोलन आदि प्रमुख हैं। महात्मा गाँधी द्वारा भारत में किये गये इन आन्दोलनों के विस्तार में न जाते हुए हम यह कह सकते हैं कि कुछ प्रवृत्तियाँ इन आन्दोलनों को विशिष्टता प्रदान करती हैं ।

(1) महात्मा गाँधी ने राष्ट्रीय आन्दोलन की राजनीतिक चेतना को सकारात्मक रूप से जानने व संगठित करने का अभूतपूर्व कार्य किया ।

(2) इन आन्दोलनों के माध्यम से राजनीति से आम आदमी को जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने अंग्रजी के बजाय हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग, खादी का प्रचलन, महिलाओं को आन्दोलन से जोड़ना, भारतीय पूँजीपतियों का सहयोग और अन्तर्राष्ट्रीय जगत को निरन्तर अखबारों के माध्यम से अपने कार्यों से प्रभावित किया ।?

(3) राष्ट्रीय आन्दोलन के सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक दल कांग्रेस को जनतांत्रिक संगठन बनाया और कांग्रेस की सदस्यता के लिए बनाये गये नियमों का निरूपण किया जो आज भी दल का सदस्य बनाने के लिए आवश्यक नियम माने जाते हैं।

(4) इन आन्दोलनों में नेतृत्व देने की एक नई भौली विकसित की जिसमें नेतृत्व और सामान्य जनता के भेद को समाप्त किया। वे मेक्स वेबर के करिश्माई नेतृत्व का जीता जागता उदाहारण हैं।

1947 में भारत के स्वतंत्र होने के समय देश के बँटवारे के कारण साम्प्रदायिक दंगे हो रहे थे । 15 अगस्त 1947 को भारत आजादी के जश्न में डूबा हुआ था । महात्मा गाँधी आजादी का जश्न न मनाकर बंगाल में नौआखली में सम्प्रदायिक दंगे रोकने में लगे हुए थे। 30 जनवरी, 1948 को उनकी हत्या कर दी गई। उनका जीवन एक संत का जीवन था और उनका यह कहना सही था कि उनका जीवन ही उनका संदेश है। महात्मा गाँधी के कई व्क्तव्य दुनिया भर में बार–बार उद्धृत किये जाते हैं। किसी भी नीतिगत निर्णय करने के बारे में भ्रम पैदा हो रहा हो तो उसका एकमात्र तरीका (मापदण्ड) यह है कि निर्णयकर्ता निर्णय लेने से पूर्व अपनी आँखें बंद कर के सोचे कि क्या इर निर्णय से किसी गरीब की आँख का आँसू पुछ जाएगा? अगर ऐसा है तो वह निर्णय सही हैं इसी प्रकार आज पर्यावरण की रक्षा के बारे में चिन्तत लोगों के बारे में गाँधीजी का मंत्र था कि पृथ्वी के पास सभी मनुष्यों की आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता है परन्तु किसी एक व्यक्ति के लालच को पूर्ण करने की उसमें सामर्थ्य नहीं है। इसलिए विकास की यात्रा का आधार मनुष्य की आवश्यकता होनी चाहिए, लालच नहीं ।

गाँधी चिन्तन पर प्रभाव

महात्मा गाँधी ने अपना बचपन भारत में बिताया तथा वे कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिए इंग्लैण्ड गये थे। उनका कार्यक्षेत्र 20 वर्षों तक दक्षिण अफ्रीका रहा। 1915 में भारत लौटने के पश्चात अपनी मृत्यु तक वे भारत में रहे और भारत की आजादी के लिए काम करते रहे।

अपने जीवन में उन्होंने कई नये अनुभव प्राप्त किये, उनमें अनुभवों से सीखने की अद्‌भुत क्षमता थीं उन्होंने किसी भी अनुभव को न सीखने योग्य नहीं माना। उन्होंने न केवल अपने जीवन के अनुभवों से जो कुछ सीखा उसे अपने विचारों में ढ़ाल दिया, अपितु उसे जीवन में भी उतारने की कोशिश की। कर्म और चिन्तन के इस सटीक सम्मिश्रण से उनका चिन्तन अनुभवजन्य और आदर्शवादी सिद्ध हुआ । अपने बचपन में उन्होंने भी किसी सामान्य हिन्दू परिवार के बच्चे की तरह ाम, कृष्ण, महाभारत एवं पुराणों की कथाएँ सुनी। भारतीय संस्कृतियों के मूल्यों से ओतप्रोत इन कथाओं ने उन्हें प्रेरणा दी। बचपन का प्रभाव था कि वे उम्र भर राम को अपना आदर्श मानते रहे थे। उन्होंने श्सम नाम को एक अद्‌भुत आंतरिक भाक्ति प्रदान करने वाला प्रकाश पुंज माना ।

उनका परिवार एक वैष्णव परिवार था । इसलिए भक्ति और संतों का उन पर काफी प्रभाव पड़ा। जिसमें नरसिंह मेहता का सुप्रिय भजन ष्वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पी पराई जानी रेष उनका सर्वाधिक प्रिय था। महात्मा गाँधी अपनी युवावस्था में जैन धर्म से भी काफी प्रभावित हुए और इंग्लैण्ड जाने पर उन्होंने ईसाई धर्म को भी समझाने का प्रयास किया। दक्षिण अफ्रीका में उनके यहूदी और अंग्रज मित्र भी बने तथा वहाँ मुस्लिम मित्रों ने भी उनका साथ निभाया। इस प्रकार वे अनेक धर्मो व संस्कृतियों के माध्यम से विभिन्न व्यक्तियें के सम्पर्क में आये उनसे कुछ न कुछ बात ग्रहण की। उनके चिन्तन पर पड़ने वाले प्रभावों को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं

1. पूर्वी प्रभाव– पूर्वी धार्मिक प्रभाव महात्मा गाँधी के जीवन पर हिन्दू धर्म जिसमें विशेष रूप से वैष्णव धर्म का प्रभाव पड़ा। उन्होंने सारी उम्र स्वयं को एक हिन्दू मानने पर बल दिया। उनका कहना था कि एक अच्छा हिन्दू ही एक अच्छा मुस्लिम व अच्छा ईसाई हो सकता है और अच्छा धार्मिक व्यक्ति बन सकता है ।

हिन्दू धर्म में भक्त परम्परा को गाँधीजी ने उससे अधिक महत्व दिया और उसका प्रभाव उन पर यह पड़ा कि उन्होंने उनका व्यवहार संयत बनाए रखा और स्वयं के अहंकार पर भी नियन्त्रण रखा । हिन्दू धर्म के अलावा जैन उनके जीवन में बहुत महत्वपूर्ण थां अहिंसा का सबसे अधिक महत्व जैन धर्म में ही है। महात्मा गाँधी ने धर्म के अलावा जीवन के सभी पहलुओं में अहिंसा को महत्व दिया है । महात्मा गाँधी के योगदान का विशेष महत्व अहिंसा को राजनीति के क्षेत्र में प्रयोग करना था। गाँधी का धर्म नैतिकता से पूर्ण थां उनका अहिंसा से प्रति लगाव जीवन के सभी क्षेत्रों में परिलक्षित होता था । गाँधी जी इस्लाम के समानता के सिद्धान्त से भी प्रभावित थे। वे एक मुस्लिम व्यापारी का मुकदमा लड़ने के लिए दक्षिण अफ्रीका गये थे ।

2. पूर्वी गैर धार्मिक प्रभाव – महात्मा गाँधी अपने समय के कई व्यक्तियों के कार्यों एवं चिन्तन से प्रभावित थे। जिसमें प्रमुखतः गोपालकृष्ण गोखले का नाम आता है, जिन्हे उन्होंने अपना राजनीतिक गुरु मानां महात्मा गाँधी ने गोपालकृष्ण गोखले की तरह अंग्रेजी कानून का अध्ययन किया और उसमें विशिष्टता प्राप्त की। गोपालकृष्ण गोखले की तरह उन्होंने माना कि समस्याओं का समाध न जहाँ तक हो सके संवैधानिक तरीकों से किया जाना चाहिए और यदि भाासन का विरोध करना हो तो संवैधानिक तरीकों से ही विरोध करना चाहिए जैसे ज्ञापन आदि प्रस्तुत करना, सार्वजनिक सुझाव तथा अखवारों के माध्यम से विचारों को व्यक्त करना इत्यादि भामिल हैं। इन सभी तरीकों के माध्यम से सरकार से, अपनी बात मनवाने का प्रयास किया जाना चाहिए तथा आन्दोलन करने से पूर्व सभी प्रकार के संवैधानिक प्रयास करने चाहिये। महात्मा गाँधी अवज्ञा और आन्दोलन करने के बावजूद मानते थे कि विरोधी पक्ष से बातचीत करने के दरवाजे हमेशा खुले रखने चाहिए। महात्मा गाँधी गोपालकृष्ण गोखले के विचारों से प्रभावित थे किन्तु वे गोपालकृष्ण गोखले से कुछ कदम आगे थे। उन पर उग्रवादी प्रभाव भी पड़ा। वे अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए कानून भंग करने को भी तैयार थे। तिलक द्वारा लोकप्रिय बनाये गये स्वदेशी तथा स्वराज

के नारों को आत्मसात कर उन्होंने अपने आन्दोलन को समर्थक बनाया। उन्होंने माना कि तिलक ने राजनीति को एक जन आन्दोलन के रूप में सर्व व्यापकता प्रदान की, इसी कारण तिलक की मृत्यु के पश्चात गाँधीजी भारत में जन आन्दोलन के प्रतीक बन गए।

पश्चिमी प्रभाव

1. पश्चिमी धार्मिक प्रभाव — 1888 में इंग्लैण्ड जाने पर महात्मा गाँधी अंग्रजी सभ्यता के नजदीय आये और प्रारम्भ में उन्होंने अंग्रजी सम्यता के अनुरूप अपने आपको ढालने का प्रयास किया। लेकिन भीघ्र ही उनका अंग्रेजी सभ्यता से मोह भंग हो गया। ईसा के इस सन्देश से कि अगर तुम्हारे दाँये गाल पर कोई थप्पड़ मारे तो बाँया गाल भी उसके आगे कर दो, से गाँधीजी काफी प्रभावित थे । ईसाई धर्म के सामाजिक सुधार के सन्देश से वे काफी प्रभावित थे। कुछ लेखकों ने उन्हें एक सुधारवादी ईसाई बताया है।

2. पश्चिमी गैर धार्मिक प्रभाव महात्मा गाँधी ने अपनी आत्मकथा में जिन प्रमुख पुस्ताकों का उल्लेख किया है, वे तीन पश्चिमी विचारकों द्वारा लिखित हैं

पहली पुस्तक रूसी विचारक रू टाल्सटाय की षदि किंगडम ऑफ इज विदइन यूष है, इस पुस्तक में उन्होंने प्रेम का सन्देश दिया है।

दूसरी पुस्तक रस्किन की ष्अन टू दिस लास्टष है, जिसका उन्होंने गुजाराती में सर्वोदय नाम से अनुवाद किया। इस पुस्तक से गाँधीजी ने 3 शिक्षाऐं प्राप्त की

प्रथम, सभी के हित में खुद का हित ।

द्वितीय, एक वकील का कार्य और एक नाई का कार्य समान है क्योंकि प्रत्येक को अपना जीवन यापन करने का समान अधिकार है।—

तृतीय, एक श्रमिक का जीवन ही सबसे अच्छा जीवन है।

तीसरी पुस्तक थी हेनरी डेविड थोरो की — ष्ऐसेज ऑन सिविल डिस ओबिडियेन्सष इस वे पुस्तक में उन्होंने राज्य का विरोध करने के आन्दोलन का स्वरूप पहचाना तथा कुछ वर्षों तक सविनय अवज्ञा के नाम से अपना आन्दोलन चलाते रहे।

इन महत्वपूर्ण पुस्तकों के अलावा महात्मा गाँधी ने 20वीं भाताब्दी के प्रारम्भ में प्रचलित श्लगभग सभी पश्चिमी विचार धाराओं का अध्ययन किया और उन पर अपनी स्वतंत्र टीका—टिप्पणी की। उन्होंने समाजवाद, साम्यवाद, लोकतंत्र, उदारवाद इत्यादि सभी पर अपनी टिप्पणीयाँ लिखी हैं। बेन्थम के उपयोगितावाद के वे कटु आलोचक थे। गाँधीजी के अध्ययन का दायरा भी बहुत विस्तृत था। इसलिये उन्होंने अपने जीवन काल में बहुत लिख है । निरन्तर अध्ययनरत रहने के कारण ही उन्होंने लगभग सभी विषयों पर अपने विचार भी अभिव्यक्ति की ।

इकाई— 14 महात्मा गांधी के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार

दार्शनिक विचार

सबसे पहले गोपीनाथ धवन ने माहत्मा गाँधी के जीवनकाल के अन्तर्गत सन् 1944 में उनके राजनीतिक दर्शन पर पहला भोध प्रस्तुत किया, जो बाद में पोलिटिकल फिलोसोफी ऑफ महात्मा गाँधी के नाम से प्रकाशित हुआ । 50 के दशक में जोन वी. बोदूरां ने महात्मा गाँध ी के सत्याग्रह की तकनीक को द्वन्द्वात्मिकता के सिद्धान्त से समझने का प्रयास किया और उसकी तुलना मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मिकता से की है। 60 के दशक में जब महात्मा गाँधी द्वारा रचित लेखन का भारत सरकार द्वारा संकलन किया गया, तब 1969 में उनके द्वारा लिखित साहित्य को सम्पूर्ण गाँधी वांड्मय के रूप में प्रकाशित किया गया जिसमें 100 ग्रन्थ थे। तब पहली बार भोधकर्ताओं को गाँधी के विचारों का संकलन मिला। 1960 के दशक में ही विश्व में आये नवीन परिवर्तनों, विशेष रूप से पूँजीवादी प्रभुत्व देशों और आधुनिकता की तानाशाही प्रवृत्ति के विरूद्ध आन्दोलन आरम्भ हुआ तथा नये आजाद हुए ने भी अपनी आवाज को बुलन्द करना आरंभ किया। ऐसे समय में गाँधीजी के विचारों पर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ और उनके विचारों को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने की कोशिश की

गयी इनमें राघवन अय्यर, बुद्धदेव भट्टाचार्य, बी. उन गांगुली, रामाश्रेय राय इत्यादि प्रमुख हैं, जिन्होंने 70 के दशक में गाँधी को एक विचारक के रूप में प्रस्तुत किया और उन्हें किसी भी अन्य विचारक के समकक्ष प्रबुद्ध, व्यवस्थित– वैकल्पिक विचार देने वाला दार्शनिक बताया। 80–90 के दशक में गाँधी के विचारों की तुलना समकालीन पश्चिमी विचारधाराओं से की गई। रिचर्डऐटेनबेरो ने गाँधी फिल्म से 80 के दशक में गाँधी का महत्व बताया है। जिन लेखकों ने गाँधी को इस आधुनिक समाज में प्रासंगिक तथा इनके विचारों को समसामयिक महत्व का बताया, उनमें प्रमुख हैं– भीखू पारेख, रोनाल्ड सर्वक, थॉमस पेन्थम, वी. आर. मेहता, नरेश दाधीच, मार्गरेट चटर्जी, डगलस एलन इत्यादि ।

आज गाँधीजी को एक दार्शनिक के रूप में माना जाता है तथा विद्वतजन उनके विचारों के आधार पर उत्तर आधुनिक ६ आधुनिक वैकल्पिक विवाद निवारण, वैकल्पिक आर्थिक सोच, पर्यावरण, नारीवाद इत्यादि के सन्दर्भ में परीक्षण कर रहे हैं।

गाँधीजी को धीरेन्द्र मोहन दत्त वैष्णव दार्शनिक मानते हैं। हालांकि गाँधीजी को वैयक्तिक न मानकर उसको विचार और विधि का स्वरूप मानते हैं। गाँधीजी मानते हैं कि ईश्वर को परिभाषित करना असंभव है, लेकिन हम उसके अस्तित्व को महसूस कर सकते हैं। गाँध ी ईश्वर को सत्य के रूप में भी परिभाषित करते हैं। 1925 में उन्होंने कहा कि ईश्वर और सत्य दोनों एक दूसरे की परिवर्तनीय इकाईयाँ हैं। 1931 में स्विटजरलैण्ड में गाँधीजी ने कहा कि शईश्वर सत्य है कि अपेक्षा सत्य ईश्वर हैश कहना अधिक उपयुक्त होगा, क्योंकि अनीश्वरवादी के लिए इसे अपनाना अधिक सुविध राजनक होगा। गाँधीजी ईश्वर की सत्ता का विवेक से संचालन नहीं करना चाहते थे । यह ब्रह्मांड नियमों से चल रहा है और उन नियमों को बनाने और लागू करने का कार्य ईश्वरीय सत्ता के अलावा कोई नहीं कर सकता । रोम्याँ रोलाँ उन्हें एक रहस्यवादी मानते हैं क्योंकि गाँधीजी किसी भी निर्णय को लेने से पूर्व अपने अन्दर की आवाज का हवाला देते थे और अनदर की आवाज उन्हें सही रास्ते पर ले जाती थी। महात्मा गाँधी ने अपने जीवन में तप के द्वारा अपने व्यक्तित्व को इतना भाद्ध बना लिया था कि उनकी आवाज में ईश्वर की आवाज का आभास होता था । दार्शनिक सिद्धान्त में महात्मा गाँधी सत्य और अहिंसा को सर्वाधिक महत्व देते थे।

महात्मा गाँधी का चिंतन सत्य और अहिंसा पर आधारित है। उनके अनुसार वास्तविकता में केवल सत्य का अस्तित्व है। उनके सत्य की अवधारणा सैद्धान्तिक स्तर पर प्लेटो के नजदीक मानी जा सकती है, लेकिन यथार्थ में अस्तित्ववाद के नजदीक है। यूनानी विचारकों ने सत्य को सबसे महत्वपूर्ण अवधारणा माना है जिसकी परछाई इस दुनिया में यथार्थ के रूप इन्हीं निर्मित सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में है। व्यक्ति को उसके जीवन में सत्य तक पहुँचने का प्रयास करना चाहिए । महात्मा गाँधी इस निरपेक्ष सत्य को स्वीकार करते हैं, क्योंकि अस्तित्व निरपेक्ष है । लेकिन उस निरपेक्ष सत्य को व्यक्ति के सत्य में मिलने का आधार व्यक्ति की चेतना का सर्वोच्च स्तर को प्राप्त करना है। जब तक ऐसा न हो व्यक्ति के सत्य को सापेक्षवादी सत्य माना जायेगा और हर व्यक्ति का सत्य ही असका अन्तिम सत्य होगा। यह धारण अस्तित्ववादी धारण से मिलती जुलती है। निरपेक्ष सत्य को आत्मसात करने के लिए महात्मा गाँधी ने अपने स्व को निरन्तर प्रयोगों के द्वारा तथा तप के माध्यम से उच्च चेतना युक्त बनाया।

इसीलिए गाँधी ने व्रत, उपवास, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि को अपनाने पर बल दिया है जिससे व्यक्ति की आवाज बन सके। इस प्रकार वे निरपेक्ष सत्य के पराभौतिक विचार और सापेक्ष सत्य के यथार्थवादी विचार का सम्मिश्रण प्रस्तुत करते हैं वे सत्य को केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही महत्व नहीं देते हैं बल्कि राजनीतिक क्षेत्र में भी इसे बनायें रखना चाहते हैं। उनके अनुसार राजनीति और समाज में किये जाते वाले कार्यों में सत्य परिभाषित होना चाहिये। सत्य के अभाव में मनुष्य उद्देश्यहीन हो जाता है और अपने कार्यों से समाज का हित नहीं कर पाता है ।

अहिंसा

महात्मा गाँधी की पहचान उनकी अहिंसा के प्रति प्रतिबद्धता के कारण है। उन्होंने मानव इतिहास में पहली बार राजनीतिक क्षेत्र में अहिंसा का उपयोग सफलतापूर्वक किया है। उन्होंने संघर्ष निवारण के लिए अहिंसा का प्रयोग किया, जिसे विश्व में संघर्ष निवारण के लिए स्वीकार्य और सफल तकनीक माना जाता है। साधारणतया अहिंसा का अर्थ चोट न पहुँचाना और हत्या न करना माना जाता है। विस्तृत स्वरूप देने पर इसका अर्थ, किसी जीव को मन, वचन और कर्म से दुःख नहीं पहुँचाना है द्य अहिंसा हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म और जैन धर्म में किसी न किसी रूप में आवश्यक तत्व है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए पांतजलि जैसे योग भास्त्रियों ने इसे आवश्यक माना है। जैन धर्म में इसको अधिक महत्व दिया गया है और हिंसा को कई श्रेणियों में जैसे आरम्भ भज और अनारंभ यानि जान बूझकर या अनजाने में की जाने वाली हिंस के रूप में देखा जाता है। जैन धर्म में व्यवहार में भी इसे लागू करने पर बल दिया जाता है। बौद्ध धर्म में प्रत्येक साधू के लिए अहिंसा का पालन करना आवश्यक है । महात्मा गाँधी ने टॉल्स्टॉय की पुस्तक से अहिंसा के सार्वजनिक महत्व को जाना और बाद में भारतीय परम्परा में अहिंसा के कई उदाहरणों से इसका महत्व समझा, जैसे पौराणिक कथा में भक्त प्रहलाद के उदाहरण में उन्होंने गीता की व्याख्या करते हुए इसे अहिंसक ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया। महात्मा गाँधी ने 1916 में अहिंसा में नकारात्मक और सकारात्मक भेद प्रस्तुत किया, उनके अनुसार अहिंसा का अर्थ है किसी भी जीव को भारीरिक या मानसिक रूप में पीड़ा न पहुँचाना। इसके सकारात्मक रूप में है प्रेम और दान । सकारातमक रूप में अहिंसा की पालना करने पर व्यक्ति को अपने भानु से प्रेम करना आवश्यक है तथा ऐसी अहिंसा सत्य और अभय को सम्मिलित करती है। इस प्रकार महात्मा गाँधी की अहिंसा का अर्थ नकारात्मक पक्ष तक सीमित नहीं था। वे अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को अधिक महत्व देते हैं जिसमें अपने विरोधी को प्रेम करना सम्मिलित है और इसी कारण वे यह मानते थे कि पाप से घृणा करो पापी से नहीं। उनका दृढ़ विश्वास था कि अहिंसा न केवल सार्वभौमिक रूप से लागू की जा सकती है अपितु यह अंतिम रूप से सही सिद्ध होती है। इसका उपयोग करने वाला अंतिक विजय प्राप्त करता है। उनकी यह मान्यता थी कि मनुष्य मूलतः देवीय स्वरूप होता है, पर उसमें पशुता के अंश मौजूद है और इसलिए हिंसा करना बहुधा मनुष्य का स्वभाव बन जाता है लेकिन वे यह भी मानते थे कि निरन्तर प्रयास से मनुष्य अपने जीवन में बहुत कुछ हद तक अहिंसक बना रह सकता है। सत्य और असत्य, हिंसा और अहिंसा की लड़ाई मनुष्य तथा समाज में निरन्तर चलती रहती है। महात्मा गाँधी के अनुसार अहिंसा तीन तरह की हो सकती है

1. कायरों की अहिंसा, जो दुर्बलता के कारण हिंसा का सहारा नहीं ले सकता।
2. राजनीतिक तरीके के रूप में अहिंसा का प्रयोग।
3. अहिंसा के प्रति आत्म प्रतिबद्धता, जो आत्मानुशासन व आत्मानुभूति से आती है । .

गाँधी कायर की अहिंसा को अहिंसा नहीं मानते राजनीतिक या सामाजिक क्षेत्र में सफलता के लिए की जाने वाली अहिंसा सर्वश्रेष्ठ नहीं है, जब तक मनुष्य आंतरिक रूप से अहिंसा के प्रति प्रतिबद्ध न हों, तब तक सर्वश्रेष्ठ अहिंसा दृष्टिगत नहीं हो सकती है। गाँधीजी ने व्यावहारिक अहिंसा को चार क्षेत्रों में इंगित किया है।

1. सत्ता के विरूद्ध अहिंसा का प्रयोग ।
2. आंतरिक उपद्रवों के मध्य अहिंसा का प्रयोग ।
3. बाह्य आक्रमण में अहिंसा का प्रयोग द्य
4. घरेलू क्षेत्र में अहिंसा का प्रयोग ।

सत्याग्रह

राजनीतिक दर्शन में महात्मा गाँधी की प्रमुख देन थी सत्याग्रह द्य सत्याग्रह का भाब्दिक अर्थ है सत्य के प्रति आग्रह, सत्य के प्रति यह आग्रह व्यक्ति को शक्तिशाली बनाता है। इस

आग्रह को बनाये रखने के लिए एक मात्र साधन है— अहिंसा । दक्षिण अफ्रीका में सरकार का प्रतिरोध करते समय महात्मा गाँधी ने अपने आन्दोलन को निष्क्रिय प्रतिरोध का नाम दिया था। धीरे—धीरे महात्मा गाँधी को यह अहसास हुआ कि उनके द्वारा चलाया गया आन्दोलन निष्किस भाब्दा से पूर्णतया नहीं समझा जा सकता क्योंकि उनके आन्दोलन में कुछ विशेषताएँ ऐसी थी जो उसे निष्क्रिय प्रतिरोध से अलग करती थीं। महात्मा गाँधी का सविनय अवज्ञा आन्दोलन उनके सच्चे भाव और उनके ठोस सिद्धान्त पर आधारित था जिसमें तिरस्कार नहीं था। निष्क्रिय प्रतिरोध कमजोरों का हथियर माना जाता था द्य महात्मा गाँधी के जीवन में हिंसा की कोई गुंजाइश नहीं थी। अपने आन्दोलन को अवध रणात्मक पहचान देने के लिए गाँधीजी ने अपने पत्र श्इंडियन ओपिनियनश में पाठकों से इस बारे में सुझाव मांगे। मगनलाल गाँधी ने ष्सदाग्रह भाब्द सुझाया। गाँधीजी ने इसको व्यापक बनाते हुए अपने आन्दोलन का नाम ष्सत्याग्रहष दिया। यह दो भाब्दों से मिलकर बना है – सत्य. आग्रह यानि सत्य के प्रति आग्रह और यह आग्रह अहिंसा के बिना संभव नहीं है। आज सारी दुनिया में अहिंसक प्रतिरोध को सत्याग्रह के नाम से जाना जाता है। गाँधीजी ने दक्षिण अफ्रीका में किये गये आन्दोलनों के इतिहास को ष्सत्याग्रह का इतिहासष नामक पुस्तक में वर्णित किया है। गाँधीजी सत्याग्रह को एक कमिक विकास के रूप में देखते थे। उनके अनुसार व्यक्ति स्वयं को तप के द्वारा उत्कृष्ट बनाने के लिए निरन्तर कोशिश करता है तथा चेतना के उच्च स्तर को प्राप्त करता है । यह निष्क्रिय प्रतिरोध को निर्बलों का हथियार मानते थे और सत्याग्रह को बलवानों का अस्त्र मानते थे, इसमें अहिंसा आवश्यक तत्व थी । सत्याग्रह का उद्देश्य संत्य को प्राप्त करना है और उसे किसी भी कीमत पर त्यागा नहीं जा सकता । सत्यग्रह का प्रयोग करने वाला और कानून का विरोध ा करने वाला हर व्यक्ति परेशानी झेलने को तैयार रहता है। वास्तव में सत्याग्रही कानून की पालना करने वाला होता है और वे उसी कानून के विरोध की बात करते हैं जो नैतिकता का विरोधी होता है। गाँधी जी के लिए नैतिकता सर्वोच्च थीं सत्याग्रह के व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट करते हुए गाँधी जी मानते थे कि सत्याग्रह करने वाले को अपनी मूल माँगों से आगे नहीं बढ़ना चहिए। उनका विचार था कि सत्याग्रह से प्राप्त सफलता को बनाये रखने के लिए निरन्तर सत्याग्रही बने रहना आवश्यक है।

हेनरी डेविड थोरे के विचारों से प्रभावित होते हुए गाँधीजी मानते थे कि व्यक्ति, सबसे पहले है और उसके नैतिक मूल्यों को बनाये रखने के लिए हमेशा संघर्षरत रहना चाहिए। अपने अधिकारों की रक्षा के लिए सविनय अवज्ञा आन्दोलन का प्रयोग करना चाहिए और इसके परिणाम को भुगतने के लिए तैयार रहना चाहिए। गाँधीजी के अनुसार व्यक्तिगत हितों के लिए सत्याग्रह नहीं करना चाहिए, सत्याग्रह का प्रयोग हमेशा जन हिताय, जन—सुखाय होना चाहिए। सत्याग्रह का प्रयोग करते समय भी महात्मा गाँधी विरोधी पक्ष से निरन्तर बात—चीत करने पर बल देते थे और सभी प्रयासों में विफल होने पर ही सत्याग्रह प्रयुक्त करने की सलाह देते थे । सत्याग्रह आरम्भ करने से पूर्व सत्याग्रही को लोकमत अपने पक्ष में करना चाहिए। यह भी ध्यान रखना चाहि कि जिन बुराईयों के विरूद्ध यह संघर्ष करता है वे बुराईयाँ स्वयं में विद्यमान न हों। वह आत्मशुद्धि और सत्याग्रह से अपनी लड़ाई जीत सकता है। उसे हमेशा अपने विरोधी से बात—चीत करने के लिए रास्ता खुला रखना चाहिए। गाँधीजी सत्याग्रही बनने की बहुत सी भातें बताते हैं । सत्याग्रह के साथ—साथ रचनात्मक कार्य भी करते रहना चाहिए। सेवा तथा प्रेम की भावना के फलस्वरूप ही सत्याग्रह सफल हो सकता है। सत्याग्रह विनम्रता का प्रतीक है और हिंसा का विकल्प है। आमरण अनशन सत्याग्रही का अंतिक हथियार है। जिसका प्रयोग विशेष परिस्थिति में ही किया जाना चाहिए। गाँधीजी ने सत्याग्रह में विभिन्न अस्त्रों का प्रयोग किया था जिस में असहयोग आन्दोलन सबसे महत्वपूर्ण था। इसमें हड़ताल, सामाजिक बहिष्कार, आर्थि बहिष्कार, धरना, सविनय अवज्ञा, हिजरत, उपवास इत्यादि सम्मिलित हैं। वे सत्याग्रह के

सकारात्मक पक्ष को महत्व देते थे जिसमें केवल विरोध करना ही नहीं अपितु सकारात्मक कार्यक्रम को बनाये रखना भी आवश्यक हैं। उन्होंने 15 सूत्री सकारातमक कार्यक्रम बनाया था, जिसमें खादी का प्रचार–प्रसार, ग्रामोद्योगों का विकास, ग्राम स्वराज्य की स्थापना, बुनियादी शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, नारी उद्धार तथा आर्थिक समानता इत्यादि भामिल हैं।
भारत में आने के पश्चात् गाँधीजी ने कई सत्याग्रह किये। जिसमें अखिल भारतीय स्तर पर किये गये । सत्याग्रहों में रोलेटएक्ट के खिलाफ 1919 में किया गया आन्दोलन, खिलाफत आन्दोलन, असहयोग आन्दोलन 1920 में किया गया आन्दोलन, खिलाफत आन्दोलन, असहयोग. आन्दोलन 1920, 1930 में सविनय अवज्ञा आन्दोलन, 1940 में व्यक्तिगत सत्याग्रह, 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन प्रमुख हैं। स्थानीय लोगों के लिए 1917 में चम्पारन, 1918 में अहमदाबाद में श्रमिकों के समर्थन में किया गया आन्दोलन तथा 1924 में श्रवणकोर का सत्याग्रह आदि उल्लेखनीय हैं।

आर्थिक क्षेत्र

गाँधीजी के आर्थिक विचार भी सत्य और अहिंसा से ओत–प्रोत थे । वे यह मानते थे कि आधुनिकता बड़े–बड़े अद्योगों तथा मशीनीकरण पर आधारित है और ये हिंसा को बढ़ावा देती है। एक आदर्श समाज की रचना के लिए स्वावलम्बी गाँवों की आवश्यकता है। व्यक्ति अपनी आपश्यकताओं को सीमित रखे और नैतिक जीवन व्यतीत करें। उन्होंने ग्राम स्वराज्य की कल्पना में कुटीर उद्योगों को अधिक महत्व दिया है तथा कायिक श्रम पर बल दिया है। गाँधीजी मानते थे कि प्रत्येक स्वस्थ्य व्यक्ति को दो दिन में कम से कम दो घंटे भारीरिक श्रम करना चाहिए, तभी वह भोजन पाने का अधि कारी है। वे मानसिक और भारीरिक श्रम की समानता के दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं। वे उस पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था के विरूद्ध थे जो भौतिकवादी इच्छाओं की पूर्ति के लिए उद्यागों की स्थापना करती है। गाँधीजी साम्यवादी विचारधारा के भी विरोधी थे क्योंकि उनके अनुसार वह हिंसा पर आधारित विचारधारा है और व्यवहार में तत्कालीन सोवियत संघ की व्यवस्था के आधार पर यह मानते थे कि यह व्यवस्था केन्द्रीयकृत व्यवस्था को बढ़ावा देती है, जिसमें भाक्ति का केन्द्रीयकरण होता है। गाँधीजी भाक्ति के केन्द्रीयकरण को भोषण का आधार मानते हैं। उनके अनुसार भाक्ति का विकेन्द्रकारण होना चाहिए और वे इसी भाव को ध्यान में रखकर आर्थिक विकेन्द्रीकरण की वकालत करते थे। उन्होंने पूँजीवाद व साम्यवाद से परे श्न्यास के सिद्धान्तश को अधिक महत्व दिया है जिसके अनुसार आर्थिक साधनों पर नियन्त्रण जिनी हाथों में होगा। लेकिन वे उसे न्याय मानकर न्यासी के रूप में कार्य करेंगे तथा पूँजी का अपयोग सर्वजन हिताय करेंगे।
राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने उपयोगितावाद के स्थान पर सर्वोदय की वकालत की। जहाँ उपयोगितावाद व्यक्ति के अधिकतम सुख की कल्पना करता है वहीं सर्वोदय सभी के उदय की कल्पना करता है। उपयोगितावाद में सुख की परिभाषा भारीरिक सुख या इन्द्रियजन्य सुख है। जबकि महात्मा गाँधी के सर्वोदय के अन्तर्गत सबसे उदय में इन्द्रियजन्य सुख के बजाय आत्मिक सुख को सम्मिलित किया है। गाँधीजी अपने आदर्श राज्य को राम राज्य की संज्ञा देते थे जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अहिंसा पर आधारित जीवन का उपयोग करता है और अपने कर्तव्यों को पूरा करता है। गाँध पीजी का मानना था कि आदर्श समाज एक राज्यविहीन समाज है। जिसमें भाक्ति पूर्ण रूप से विकेन्द्रित है और वह स्वावलम्बी गाँवों को भाामिल कर बना है जिसमें व्यक्ति का महत्व है। लेकिन व्यक्ति का अस्तित्व समाज के बिना संभव नहीं है। उन्होंने व्यक्ति और समाज के मध्य के सम्बन्धों को सामुद्रिक वृत्त (ओशियेनिक सर्किल) के आधार पर समझाया है। जिस प्रकार समुद्र में पत्थ फेंकने पर हजारों की संख्या में लहारों (वृत्तों) का निर्माण होता है, जिनके आकार अलग–अलग प्रकार के हैं किन्तु इनका केन्द्र एक ही होता है। उसी प्रकार समाज में कई प्रकार के समूह हैं, जो वर्तुल के रूप में एक दूसरे से जुड़े हैं लेकिन उनका केन्द्र व्यक्ति होता है। समूह व्यक्ति

के बिना परिभाषित नहीं होता है । वे प्रजातंत्र की व्यवस्था में विश्वास रखते थे और उदारवादी सिद्धान्त को महत्वपूर्ण मानते थे लेकिन उनकी सोच भारतीय परम्परा के मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित थी। वह अपनी संस्कृति और परम्परा की उदारवादी व्याख्या के पक्षध ार थे। महात्मा गाँधी आधुनिक समय में भारतीयता के प्रतीक थे। उनकी गणना आज विश्व के सर्वाधिक महानतम विचारकों में की जाती है। ये केवल भारत के प्रतिनिधि ही न होकर विश्व की मानवता के प्रतीक थे और लोकमंगल के साधक – उपासक थे।

राजनीतिक विचार

गाँधीजी स्वयं को एक राजनीतिक विचारक नहीं मानते थे। हालांकि उनके दार्शनिक विचारों की पहली व्यवथित प्रस्तुति शहिन्द स्वराज्यश में है। वे निरन्तर सत्य के रास्ते पर चलते रहे और उस रास्ते पर उन्हें जो सफलताएँ मिलीं उसी आधार पर अपने विचारों को संगठित करते रहे। वे सभी राजनीतिक गतिविधियों को नैतिक दृष्टि से देखते थे। उनके अनुसार कोई भी गतिविधि जो नैतिक दृष्टि से नहीं हो, उचित नहीं है। चूँकि वे किसी विशेष राजनीतिक दर्शन से सम्बन्धित नहीं थे, इसलिए उनके विचारों में कई बार पारस्परिक विरोध ा नजर आता है। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि वे एक राजनीतिक अराजकतावादी थे जो भावित के केन्द्रकारण के विरोधी थे और राज्य को सकिय केन्द्रीयकरण का सबसे उदाहरण मानते थे। वे राज्य के बढ़ते स्वरूप और कार्य को भय से देखते थे। उनके अनुसार एक आदर्श समाज की कल्पना में राज्य का कोई स्थान नहीं था। वे आदर्श समाज को रामराज्य की संज्ञा देते थे । वे यह मानते थे कि राज्य हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है और राज्य की बढ़ती भाक्ति से सर्वाधिक नुकसान व्यक्ति की अस्मिता को होता है। व्यक्ति के पास आत्मा है राज्य आत्मा विहीन है। गाँधीजी ने कहा था कि ऐसे कानूनों की पालना नहीं करनी चाहिए जो हमारी नैतिक मान्यताओं के विरूद्ध हों। उनके अनुसार राजनीतिक भाक्ति अपने आप में एक साध्य नहीं है। राजनीतिक भाक्ति का कार्य समाज के सदस्यों को जीवन की सुविधाएँ प्रदान करना है उनकी मान्यता थी कि व्यक्ति सम्प्रभु होता है और उसके सम्प्रभुत्व का आधार उसकी नैतिक सत्ता है। गाँधी राज्य और समाज में अन्तर करते थे। उनके अनुसार अगर व्यक्ति समाप्त होता है तो कुछ बाकी नहीं रहेगा, इसलिए व्यक्ति के आधिपत्य को राजनीतिक दर्शन में स्वीकार किया जाना चाहिए। 1916 में बनारस हिन्दू विविद्यालय में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि वे अराजकतावादी हैं।

गाँधी केवल आदर्शवादी विचारक ही नहीं थे उनका उद्देश्य आदर्श प्राप्त करना था। उन्होंने द्वितीय स्तर के राज्य की बात भी की है। जिससे राज्य एक उदारवादी लोकतांत्रिक राज्य होगा तथा लोकशक्ति का विकेन्द्रीकरण होगा। ऐसे राज्य में अधिकतम भाक्तियाँ गाँव के स्तर पर पंचायत के पर रहेगी। वह गाँव आदर्श गाँव होगा जो आर्थक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से स्वायत्त निकाय के रूप में कार्य करेगा। गाँधी के स्वराज्य की कल्पना एक ऐसे देश की कल्पना थी जिसमें सत्ता उस देश के नागरिकों के पास हो, देश राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हो तथा जिसमें अपने समाज को बदलने की भाक्ति और अधि ाकार समाज के व्यक्तियों के पास हो। ऐसे राज्य में सरकार व्यक्तियों के प्रति उत्तरदायी हो । गाँधी के स्वराज की अवधारणा आर्थिक और राजनीतिक दोनों स्तरों पर स्वतंत्रता को बनाये रखने का समर्थन करती है। गाँधी व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा का भी समर्थन करते हैं। गाँधीवादी अधिकार मूलतः वे अधिकार है, उनके उपयोग से व्यक्ति अपने मूल्यों को बनाये रख सकें और एक नैतिक समाज की स्थापना कर सके । गाँधी स्वतंत्रता के साथ–साथ समानता और न्याय के सिद्धान्त में विश्वास करते थे। इसमें वे न केवल स्त्री–पुरुष की समानता अपितु जातिगत समानता, मानसिक और भारीरिक यमसपतस के भी पक्षधर थे। गाँधी हालांकि प्रजातंत्र में विश्वास करते थे लेकिन उन्होंने शहिन्द स्वराज्यश में अंग्रजी संसदीय प्रणाली की आलोचना की और माना है कि अगर भारत इंग्लैण्ड की प्रणाली अपनाता है तो यह उसके लिए अच्छा नहीं होगा। गाँधीजी के अनुसार ब्रिटिश

संसद के द्वारा कोई भी अच्छा कार्य नहीं किया गया है और वह मंत्रियों के प्रभावों से संचालित होती है । अतः वह जनता का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाती हैं। पश्चिमी प्रजातंत्र का आधर हिंसा है। पश्चिमी प्रजातंत्र जो व्यवहार में बिना हिंसा के जीवित नहीं है वह वास्तव में प्रजातंत्र नहीं है। उसमें और फासीवाद में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। बुद्धदेव भट्टाचार्य के अनुसार की पश्चिमी प्रजातंत्र की आलोचना तीन प्रमुख कारकों पर आधारित है–

1. पूँजीपतियों द्वारा निर्धन व्यक्तियों का भोषण ।
2. पूँजीवाद का विस्तार जो जन सामान्य के भोषण की राह बताता है।
3. गोरी चमड़ी वालों की रंगभेद नीति ।

यद्यपि गाँधीजी ने बोअर युद्ध (1899) में अंग्रेजो की तरफ से हिस्सा लिया था, लेकिन वे युद्ध के खिलाफ थे। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् गाँधी पूर्णतया युद्ध विरोधी बन गये। गाँधीजी ने प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध की निन्दा की और कहा कि हिंसा से किसी समस्या का समाधान नहीं होता है। कोई भी राजनीतिक विचारधारा हो और उसके अनुसार आदर्श समाज का निर्माण मूलतः हिंसा के द्वारा होगा तो वह सही विचारधारा नहीं हो सकती है। गाँधीजी भान्ति के पक्षधर थे, पर उनकी भाक्ति की अवधारणा में कोई स्थिर भान्ति नहीं थी । वे भान्ति को सकारात्मक और परिवर्तनशील प्रक्रिया के रूप में देखते थे। जिसमें समस्या का समाधान अहिंसा के माध्यम से किया जाता है। गाँधीजी का दृढ़ विश्वास था कि विश्व की समस्याओं का समाधान केवल अहिंसा के माध् यम से संभव है। गाँधी को मूलतः सत्ता के विरोध का दार्शनिक माना जाता है। सत्ता का विरोध करने पर गाँधी का नाम सम्मान से लिया जाता है। दुर्भाग्यवशः गाँधी के राजनीतिक विचारों पर आध ा रित आदर्श समाज के निर्माण की पुरजोर कोशिश नहीं की गई, इसलिए गाँधीवादी आदर्श समाज के अस्तित्व में न आने के कारण उनके राजनीतिक दर्शन में व्यावहारिक पक्ष का परीक्षण नहीं किया जा सका ।

महात्मा गाँधी का राजनीतिक चिन्तन में योगदान

1. महात्मा गाँधी 20 वीं शताब्दी के सबसे महत्वपूर्ण राजनीतिक विचारकों में से एक थे, जिन्होंने राजनीतिक चिन्तन में सर्वकालिक योगदान दिया है, जिसे निम्न प्रकार देख सकते हैं ——

गाँधी ने राजनीति का विरोध करने के एक नये साधन ष्सत्याग्रहश की खोज की और उसका सफलतापूर्वक प्रयोग करके भारत को आजादी दिलायी। राज्य सत्ता के विरोधी में तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की नीतियों के विरूद्ध होने वाले आन्दोलनों में सत्याग्रह का व्यापक स्तर पर प्रयोग किया जाता है ।

2. गाँधी ने अहिंसा और संघर्ष निवारण की तकनीक का समाज के विभिन्न समूहों और स्थितियों में निरन्तर प्रयोग किया जा रहा है। उसे ष्वैकल्पिक विवाद निपटाराष में सफलतापूर्वक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। हाल ही में आई भारतीय फिल्म श्लगे रहो मुन्ना भाईष में षाँधीगिरीष का इस्तेमाल हुआ है, इसमें गाँधी के सिद्धान्त को व्यक्ति के जीवन में छोटी–छोटी समस्याओं के समाध न हेतु गाँधी के सिद्धान्त को उपयोग में लाने का विवरण प्रस्तुत किया गया । गाँधीगिरी आज लोकप्रिय भाब्द बनता जा रहा है जो विरोध प्रकट करने के एक सभ्य तरीके को प्रकट करता है ।

3. गाँधी ने आधुनिक समाज के नकारात्मक पक्ष को जाग्रत किया और उसे बचाने के उपाय सुझाये जिनके कारण उन्हें वैकल्पिक सफलता के विचार देने वाले विचारकों में भामिल किया जाता है।

उनके न्यासिता सिद्धान्त में अहिंसा के माध्यम से वर्ग संघर्ष को समाप्त किये जाने का तरीका सुझाया गया है। जिसमें हिंसा का उपयोग नहीं करते हुए भी समाज में सामाजिक न्याय की स्थापना की जा सकती है।

5. उनके पर्यावरण सम्बन्धी विचारों ने विकास की पश्चिमी अवधारणा को सशक्त चुनौती दी है और विकास का आधार मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करना बताया है, न कि उसके लालच को पूरा करना ।
6. गाँधी ने नैतिकता को मनुष्य की सभी गतिविधियों का आधार माना है और वे बीसवीं भाताब्दी उन नैतिक विचारकों में से एक है जो राजनीति को भी नैतिक दृष्टि से विश्लेषित करना चाहते हैं ।
7. उन्होंने अहिंसा को राजनीतिक दृष्टि में स्थापित किया और सत्य को प्लेटो के पश्चात् राजनीतिक दर्शन में पुनस्थापित किया।

अभ्यास–प्रश्न

1. महात्मा गाँधी का व्यक्तित्व एवं जीवन परिचय प्रस्तुत करें।
2. गाँधी के चिंतन पर किन–किन भाक्तियों एवं स्रोतों का प्रभाव परिलक्षित होते थे? स्पष्ट करें।
3. गाँधी के दार्शनिक विचारों की समीक्षा करें।
4. सत्याग्रह से आप क्या समझते हैं? गाँधी ने इसका कैसे प्रयोग किया?
5. गाँधी के आर्थिक एवं राजनीतिक विचारों की विविचना करें।

bdkb& 15 Mk- Hkhejko vEcsMdj
(Dr. Bhimrao Ambedkar)

डॉ. भीमराव अम्बेडकर का जन्म 14 अप्रैल, 1891 ई. को इन्दौर के पास महू छावनी में हुआ था। उनका नाम भीम संकपाल रखा गया। इनकी माताबाई तथा पिता रामजी सकपाल थे, जो कबीर के अनुयायी थे। ये महार जाति के थे। उस समय महार जाति महाराष्ट्र में अछूत समझी जाती थी। भीमराव ने सतारा में हाईस्कूल तक अध्ययन किया। उन्होंने हाईस्कूल परीक्षा सन् 1907 में पास की, जो उस समय की परिस्थितियों में महार जाति हेतु सम्मानजनक बात थी। इसके बाद उन्होंने मुम्बई के एल्फिन्सटन कॉलेज में प्रवेश लिया। बड़ौदा के राजा गायकवाड़ ने उन्हें छात्रवृत्ति प्रदान की। इस छात्रवृत्ति पर ही उन्हें 1913 ई. में अमेरिका के कोलम्बिया विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त हुआ । वे भारत के प्रथम अछूत तथा महार थे, जो शिक्षा प्राप्त करने के लिए विदेश गये थे।

भीमराव ने सन् 1915 में अर्थशास्त्र विषय में एम. ए. की परीक्षा प्राप्त की तथा सन् 1916 में पी. एच. डी. का भोध प्रबन्ध प्रस्तुत किया। इसके बाद वे लन्दन आ गये। लन्दन में उन्होंने कानून. का अध्ययन करने के लिए शदि अंग्रेज इन तथा अर्थशास्त्र का अध्ययन करने के लिए विश्व की सुप्रसिद्ध शिक्षण संस्था श्लन्दन स्कूल ऑफ इकॉनोमिक्स एण्ड पॉलिटिकल साइंसश में प्रवेश लिया। भीमराव लगनशील विद्यार्थी थे । वे पुस्तकालय में बैठकर पढ़ने में इतने तल्लीन हो जाते थे कि उन्हें दोपहर का खाना खाना भी याद नहीं रहता था। बड़ौदा रियासत के साथ हुए अनुबन्ध के आधार पर उन्हें अपनी पढ़ाई बीच में छोड़कर दो वर्ष के लिए बड़ौदा राज्य के मिलिट्री सचिव पद पर कार्य करना पड़ा। वे सन् 1920 में पुनः अध्ययन के लिए लन्दन गये तथा सन् 1921 में श्मास्टर ऑफ साइंसश की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने लन्दन विश्वविद्यालय से अपने भाोध प्रबन्ध श्जैम च्तवइसमउ वि जीम त्नचममश पर पी. एच डी. की उपाधि तथा श्बार एट लॉश की उपाधि भी प्राप्त की । इंग्लैण्ड से लौटने पर उन्होंने सन् 1923 में आजीविका के लिए वकालत प्रारम्भ कर दी । इसके साथ ही उन्होंने अछूतों के उद्धार के लिए भी संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। अम्बेडकर ने सन् 1923 से ही मुम्बई से एक पाक्षिक समाचार–पत्र श्बहिष्कृत भारतश का प्रकाशन कर दिया। अम्बेडकर ने दलित वर्गों को संगठित करने तथा सवर्णो द्वारा किए जा रहे अत्याचारों का विरोध करने के लिए 29 जुलाई, 1924 को श्बहिष्कृत हितकारिणी सभा की स्थापना की। उन्होंने महाराष्ट्र के विभिन्न भागों का दौरा कर दलित वर्गों में यह सन्देश प्रसारित किया कि उनका उत्थान शिक्षा, संगठन और उनके द्वारा सक्रिय एवं प्रभावी संगठन से ही सम्भव हो सकता है । अम्बेडकर ने अप्रैल, 1925 मैं बम्बई प्रेसीडेन्सी में नेपानी नामक स्थापन पर प्रान्तीय दलित वर्ग सम्मेलन की अध्यक्षता भी की ।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने दलित वर्ग के लोगों को संगठित संघर्ष की प्रेरणा दी। सत्याग्रह से इस संगठित संघर्ष का प्रारम्भ हुआ । अम्बेडकर ने दलितों में चेतना उत्पन्न करने तथा उसको उनके हक दिलाने के लिए पूना– पारवती सत्याग्रह, कल्याण मन्दिर प्रवेश सत्याग्रह आदि विभिन्न आन्दोलन चलाये तथा उनका नेतृत्स किया।

उन्होंने सन् 1930 में श्अखिल भारतीय दलित वर्ग संघ का अध्यक्ष पद धारण किया। –अगस्त, 1930 को अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने जातिगत व्यवस्था द्वारा उनकी नष्ट की गई भाक्ति की कड़ी निन्दा की। इसके साथ ही उन्होंने भारत के लिए स्वाशासन की आवश्यकता पर बल दिया।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने सन् 1930 तथा 1931 में लन्दन में आयोजित प्रथम तथा द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में दलितों का प्रतिनिधित्व किया। सम्मेलन में अम्बेडकर ने दलितों को विधान परिषदों में हिन्दू समाज के पृथम् प्रतिनिधित्व प्रदान करने पर बल दिया। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने 19 अगस्त, 1936 ई. में इण्डिपेन्डेन्ट लेबर पार्टी की स्थापना की। इस संस्थ

ने दलित, मजदूर व किसानों की समस्याओं को लेकर कार्य प्रारम्भ किया। इस पार्टी ने सन् 1937 में मुम्बई में चुनाव लड़ा तथा 2 सामान्य व 13 सुरक्षित सीटें जीतीं। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने मुम्बई विधानसभा के सदस्य के रूप में खोटी बिल, किरायेदारी कानून तथा स्ट्रा बिल की तीव्र आलोचना की। उन्होंने मजदूरों के सत्याग्रह के अधिकार की जोरदार वकालत की। 7 अगस्त, 1942 को वे गवर्नर जनरल की परिषद् के सदस्य मनोनीत किये गये। उन्होंने इण्डिपेन्डेन्ट लेबर पार्टी का नाम बदलकर श्अखिल भारतीय अनूसूचित जाति संघ कर दिया।

सार्वजनिक जीवन में महात्मा गाँधी तथा काँग्रेस के साथ उनके तीव्र मतभेद बन रहे । अम्बेडकर कहते थे कि, श्कॉग्रेस ने अछूतोद्धार के कार्य में ईमानदारी का परिचय नहीं दिया है ।ष नेहरू तथा पटेल डॉ. भीमराव अम्बेडकर के प्रशंसक थे। अतः उन्होंने सहयोग देकर उन्हें संविधान सभा का सदस्य निर्वाचित कराया। उन्हें संविधान सभा में संविधान प्रारूप समिति का अध्यक्ष बनाया गया । उन्होंने पूरी योग्यता तथा लगन से साथ इस दायित्व को निभाया। संविधान में दलितों के लिए सामाजिक समानता की स्थिति के सम्बन्ध में की गई महत्वपूर्ण व्यवस्थाएँ उनके ही प्रयासों का फल हैं। चूँकि संविधान निर्माण में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी, इसलिए उन्हें आधुनिक युग का मनुश कहते हैं ।

डॉ. अम्बेडकर 3 अगस्त, 1949 को भारत सरकार के कानून मन्त्री बने । शहिन्दू कोड बिलश उनके ही प्रयास का फल था । इस बिल का उद्देश्य हिन्दुओं के सामाजिक जीवन में सुध ाार था, तलाक की व्यवस्था तथा स्त्रियों के लिए सम्पत्ति में हिस्सा इस कानून की कुछ प्रमुख बातें थीं। डॉ. अम्बेडकर और नेहरू के बीच कुछ प्रश्नों पर मतभेद होने के कारण 27 सितम्बर, 1951 को अम्बेडकर ने मन्त्रिमण्डल से अपना त्यागपत्र दे दिया ।

डॉ. अम्बेडकर का विचार था कि हिन्दू धर्म में दलितों को सम्मानजनक स्थिति प्राप्त नहीं है। उन्होंने सन् 1955 में भारतीय बुद्ध महासभा की स्थापना की तथा 14 अक्टूबर, 1956 को नागपुर में हुई एक ऐतिहासिक सभा में 5 लाख व्यक्तियों के साथ बौद्ध धर्म ग्रहण किया। वे प्रबल देशभक्त तथा स्पष्टवादी थे। 6 दिसम्बर, 1956 की प्रातः उनका देहान्त हो गया।

डॉ. भीमराव अम्बेडकर के राजनीतिक विचार

डॉ. भीमराव अम्बेडकर महान् देशभक्त तथा राष्ट्रीय एकीकरण के प्रबल समर्थक थे। यद्यपि उन्होंने अपने वार्वजनिक जीवन में काँग्रेस तथा महात्मा गाँधी का विरोध किया था, लेकिन इस आध र पर उनके देशप्रेम तथा राजनीतिक स्वतन्त्रता के प्रति उनकी निष्ठा पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। उनके राजनीतिक विचारों को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है

(1) राजनीतिक स्वतन्त्रता को समर्थन डॉ. भीमराव अम्बेडकर प्रारम्भ से ही राजनीतिक स्वतन्त्रता के समर्थक थे। डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने सन् 1916 में एम. ए. अर्थशास्त्र की परीक्षा के लिए प्रस्तुत भोध प्रबन्ध में निम्नलिखित दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया –

(1) प्रत्येक देश में सामाजिक भोषण व अन्याय व्याप्त है ।

(2) इसका अर्थ यह नहीं है कि उस देश को राजनीतिक भाक्ति प्राप्त न हो ।

डॉ. अम्बेडकर ने फरवरी, 1942 में मुम्बई विधानसभा में बोलते हुए कहा था, ष्मेरा झगड़ा कुछ मामलों पर स्वर्ण हिन्दुओं से है। मैं भापथ लेता हूँ कि मैं अपने देश की रक्षा के लिए अपना जीवन निछावर कर दूँगा । सन् 1942 के श्भारत छोड़ो आन्दोलन का अम्बेडकर द्वारा विरोध किया गया था। डॉ. अम्बेडकर ने गाँधीजी ने नेतृत्व में चलाये जा रहे भारत छोड़ो आन्दोलन को अनुत्तरदायित्वपूर्ण तथा पागलपन भरा कार्य बताया था । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता का विरोध किया था। उनका विरोध देश की स्वतन्त्रता का विरोध नहीं था, वरन् देश की स्वतन्त्रता के लिए अपनाई गई रणनीति तथा व्यूह–रचना के मतभेद थे। उदारवादी नेता तेज बहादुर सप्रू तथा हिन्दू महासभा के नेता

सावरकर ने भी भारत छोड़ो आन्दोलन का विरोध किया था।

(2) दलितों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व की माँग – डॉ. अम्बेडकर का विचार था कि मुसलमानों तथा ईसाइयों की तरह दलितों को भी पृथक् प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाना चाहिए। इसके अन्तर्गत दलितों के प्रतिनिधि केवल दलितों द्वारा ही चुने जायेंगे। उन्होंने लन्दन में आयोजित प्रथम व द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भी दलितों के लिए पृथक प्रतिनिधि ात्व प्रदान करने की आवश्यकता पर बल दिया। महात्मा गाँधी अम्बेडकर के इस विचार के विरोधी थे । वे कहते थे कि दलित वर्ग हिन्दू समाज का ही एक अविभाज्य अंग है और ऐसा किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं किया जा सकता, जिससे हिन्दू समाज का विघटन होता है। डॉ. अम्बेडकर दलितों को पृथक् प्रतिनिधि त्व प्रदान करके उन्हें एक बड़ी राजनीतिक भाक्ति का रूप देना चाहते थे । उन्होंने सन् 1932 में पूना समझौते पर हस्ताक्षर दवाब में ही किये थे ।

(3) महात्मा गाँधी तथा काँग्रेस के प्रति दृष्टिकोण अम्बेडकर का महात्मा गाँधी तथा काँगेस के प्रति विरोधी दृष्टिकोण था। गाँधीजी तथा अम्बेडकर के बीच काफी सीमा का कटुता की स्थिति विद्यमान रही। इसका प्रमुख कारण यह था कि यद्यपि काँग्रेस ने गाँधीजी ने नेतृत्व में दलितोद्धार का कार्य किया, किन्तु उसका सर्वप्रमुख लक्ष्य देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना था। डॉ. अम्बेडकर की दृष्टि में देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता की अपेक्षा दलितों की नागरिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता तथा समानता का कार्य अधिक महत्वपूर्ण था। इसीलिए उन्होंने काँग्रेस को भीषक व दलितों को भोषितों की जमात बताते हुए इसका विरोध किया।

(4) राष्ट्रीय एकीकरण पर बल डॉ. भीमराव अम्बेडकर प्रबल देशभक्त होने के साथ–साथ भारत राष्ट्र की एकता बनाये रखने के भी प्रबल समर्थक थे । भारत देश के विभाजन के सम्बन्ध में उनका विचार था कि यदि भारत की राजनीतिक समस्या का अन्य कोई विकल्प नहीं है तो हमें पाकिस्तान स्वीकार करना ही होगा। बाद में नेहरू और पटेल ने भी इसी विचार को अपनाया था।

यद्यपि प्रारम्भ में अम्बेडकर भारत के विभाजन के विरोधी थे। उनका मत था कि, ष्कोई विभाजन नहीं, वरन मुस्लिम लीग का अन्त तथा हिन्दू या मुसलमानों की एक सम्मिलित पार्टी की स्थापना शहिन्दू राज्य के भूत को दफनाने का एमकात्र प्रभावदायक मार्ग है।ष किन्तु बाद में अम्बेडकर ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि, ष्जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, महत्वपूर्ण प्रश्न केवल यह है कि क्या मुसलमान पाकिस्तान लेने के लिए दृढ़ निश्चयी हैं या पाकिस्तान उनके लिए केवल एक नारा और बदलती हुई मनोस्थिति है? क्या पाकिस्तान उनकी स्थायी आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करता है ? इस प्रश्न पर मतभेद हो सकते हैं? जब एक बार यह निश्चित हो जाये कि मुस्लिम वर्ग पाकिस्तान चाहता है, तब इसमें सन्देश नहीं कि बुद्धिमतापूर्ण मार्ग उसे सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर लेना है ।

डॉ. अम्बेडकर कहते थे कि, पाकिस्तान हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों को दासता तथा अतिक्रमण से मुक्त कर देगा। डॉ. अम्बेडकर का एक प्रस्ताव यह भी था कि भारत के सभी मुसलमान पाकिस्तान तथा पाकिस्तान से सभी हिन्दू भारत स्थानान्तरिक कर दिये जायें, ताकि कोई झगड़ा और खून–खराबा न हो। इस प्रकार विभाजन के सम्बन्ध में उनके विचार यथार्थवादी थे ।

डॉ. अम्बेडकर का अन्य राजनेताओं के समान यह विचार था कि एक बार भारत का विभाजन हो जाने के बाद देश की एकता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकेगा। सन् 1946 में उन्होंने कहा था कि, ष्मुझे यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि जिस लीग ने देश के विभाजन के लिए आन्दोलन किया है, कुछ दिन पश्चात् जब जागृति आएगी, यह सोचना प्रारम्भ कर देगी कि हर प्राणी के लिए संगठित भारत ही अच्छा था ।

किन्तु अम्बेडकर का यह विचार यथार्थवादी नहीं था ।

(5) देशी रियासतों के सम्बन्ध में विचार – डॉ. अम्बेडकर रियासतों के भारत में विलय के समर्थक थे। सन् 1947 में देशी रियासतों को भारतीय संघ में विलय का परामर्श देते हुए कहा था. षरियासतों को अपनी प्रभुसत्ता भारतीय संघ में मिला देनी चाहिए। वे आगे कहते थे कि ष्उनका स्वतन्त्र रहकर संयुक्त राष्ट्र संघ से मान्यता तथा सुरक्षा प्राप्त कर लेने का विचार कल्पना लोक में रहने के समान है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर महान देशभक्त तथा राष्ट्रीय एकीकरण के प्रबल समर्थक थे। इस सम्बन्ध में डॉ. वी. पी. वर्मा ने लिखा है कि, इसमें सन्देह नहीं कि वे देशभक्त थे और राष्ट्रीय एकीकरण के विरोधी नहीं थे। कोई भी उनके इस विचार का विरोध नहीं कर सकता कि अछूतों के लिए हिन्दुत्व द्वारा उन पर लादी गई घोर अपमानजनक स्थितियों का विरोध और उनके मुक्ति ब्रिटिश भासन से देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने की तुलना में भी अधिक आवश्यक कार्य था ।

डॉ. अम्बेदकर के दलितोद्धार सम्बन्धी विचार

डॉ. भीमराव अम्बेडकर महार जाति के थे, जो कि अछूत समझी जाती थी। उन्होंने अपने जीवन के प्रथम 35 वर्षो में घोर अपमान, अमानवीय व्यवहार तथा भारी यन्त्राएँ सहन की थीं। उन्होंने एक बार पत्रकार से कहा था कि, ष्मेरे दूःख–दर्द और मेहनत को तुम नहीं जानते, जब सुनोगे, से पड़ोगे । इसीलिए उन्होंने दलितोद्धार का संकल्प लिया तथा अछूतों के उत्थान कार्य में लग गये। उनके दलितोद्धार के विषय में विचार को निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है–

(1) हिन्दू समाज के परम्परागत विधान पर कठोर प्रहार – डॉ. अम्बेडकर के पूर्व के अधिकांश दलितोद्धारक – विवेकानन्द, आर्य समाज, गाँधीजी आदि वर्ण–व्यवस्था को बनाये रखने के समर्थक थे। वे केवल ऊँची जातियों के जातीय अहंकार तथा विभिन्न जातियों के बीच ऊँच–नीच की भावना का विरोध करते हैं, किन्तु इस विरोध में कोई आकोश नहीं है। डॉ. अम्बेडकर का विचार हैं कि चार वर्ण पर आधारित सामाजिक ढाँचे की हिन्दू योजना ने ही जाति–व्यवस्था और अस्पृश्यता को जन्म दिया है, जो कि असमानता का एक अमानवीय तथा चरम रूप है। इसके लिए कान्तिकारी सामाजिक हल की आवश्यकता है जो कि जाति–व्यवस्था को सम्पूर्ण रूप से अस्वीकार करना है।

डॉ. अम्बेडकर का विचार था कि प्रारम्भ में जाति–प्रथा का प्रभाव है। समाज के स्थायी जनों ने कमजोर लोगों से उनकी इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती काम कराना प्रारम्भ कर दिया। उन्हें शिक्षा, व्यापार, धन इकट्ठा करने, हथियार रखने से वंचित रखा, जिससे वे अपनी दासता का विरोध न कर सकें। अम्बेडकर कहते थे कि, ष्जातिवाद से कार्यक्षमता नहीं बढ़ती, क्योंकि मनुष्य को इच्छानुसार काम नहीं मिलता ।ष ये जाति प्रथा को हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी बुराई मानते थे । अनका विचार था कि जाति प्रथा को समाप्त करने के लिए अन्तर्जातीय विवाह आवश्यक है।ष वे कहते थे कि. ष्अत्तर्जातीय विवाह न कि सहभोज । खून का मिलना ही अपनेपन की भावना ला सकता है।ष

डॉ. अम्बेडकर का विचार था कि हिन्दुओं की परम्परागत व्यवस्था मनुस्मृति के आधार पर चलती है। अतः उनकी दृष्टि में मनुस्मृति की अन्या की जड़ थी। उनका मत था कि मनुस्मृति अन्याय व दमन पर आधारित सामाजिक व्यवस्था का प्रतीक थी। वे कहते थे कि मनुस्मृति ने अछूतों का सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक तथा धार्मिक भोषण कर उन्हें गुलामी की स्थिति प्रदान की है। मनुस्मृति के प्रति आकोश के कारण उन्होंने अनके बार मनुस्मृति को जलाने का कार्य किया ।

जति प्रथा को समाप्त करने के लिए अम्बेडकर ने सुझाव दिया कि मन्दिरों में पुजारी पद को प्रजातान्त्रिक बनाना चाहिए। इस पद पर किसी जाति का एकाधिकार नहीं होना चाहिए।

(2) अछूतों को सार्वजनिक स्थलों के प्रयोग का अधिकार – डॉ. अम्बेडकर का विचार था

कि मन्दिर, कुएँ, तालाब आदि सभी सभी मनुष्यों के लिए सुलभ हाने चाहिए। अछूतों को भी इनके प्रयोग का अधिकार करने का आग्रह किया। उनका विचार था कि यदि इसके लिए आवश्यक हो तो सत्याग्रह भी करना चाहिए। उन्होंने सन् 1927 में प्रथम सत्याग्रह श्महद तालाब सत्याग्रह के रूप में किया गया तथा इसमें सफलता प्राप्त की। सन् 1930 में उन्होंने श्कासाराम मन्दिर प्रवेश के लिए दूसरा सत्याग्रह किया। इस प्रकार डॉ. अम्बेडकर अपने 100 साथियों के साथ रामगढ़ गये तथा वहाँ गंगासागर तालाब का पानी पिया । लन्दन में गोलमेज सभा में भी डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने दलितों का मामला उठाया। डॉ. अम्बेडकर ने समता सैनिक दल की स्थापना की। उन्होंने राष्ट्रवाद के महारों के लिए बन्धुआ मजदूरी और दसता की व्यवस्था करने वाले श्महार वतन कानून का भी विरोध किया। (3) अदालतों के जीवन और प्रवृत्तियों में सुधार – डॉ. अम्बेडकर का मत था कि अछूत वर्ग के लोगों को अपनी बुरी आदतों तथा हीनता की भावना का परित्याग कर देना चाहिए तथा आत्म–सम्मानपूर्ण जीवन की ओर प्रवृत्त होना चाहिए। उन्होंने बताया कि अछूतों को माँगना, झूठ बोलना छोड़ देना चाहिए तथा उन्हें मुर्दा जानवर खाना भी छोड़ देना चाहिए। अछूतों में स्वतन्त्रता, समानता तथा स्वाभिमान से जीवन व्यतीत करने की इच्छा होनी आवश्यक है। इसके लिए अम्बेडकर ने यह सुझाव दिया––

1 अछूत संगठित हों !

2 वे शिक्षित हों ।

3 वे अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करें।

वे कहते थे कि, यदि महार अपने बच्चों को स्वयं मुकाबले में अच्छी दिशा में देखने की इच्छा नहीं रखते, तो एक मनुष्य व जानवर में कोई अन्तर नहीं होता । अम्बेडकर ने अछूतों की स्थिति में सुधार के लिए उन्हें सरकारी नौकरियाँ प्राप्त करने, जंगल तथा खेती की भूमि प्राप्त करने की शिक्षा दी।

(4) दलितोद्धार में दलित स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका – डॉ. अम्बेडकर इस तथ्य से परिचित थे कि दलितों की स्थिति में सुधार हेतु दलित स्त्रियाँ ही अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं। अम्बेडकर ने 20 मार्च, 1927 को महद में आई हुई स्त्रियों को सम्बोधित कर कहा कि, कभी मत सोचो कि तुम अछूत हो। साथ–सुथरे रहो। जिस तरह के कपड़े स्वर्ण स्त्रियाँ पहनती हैं, तुम भी पहनो । यह देखो कि ये साफ हैं। वे आगे कहते हैं कि, ष्यदि तुमम्हारे पति और लड़के शराब पीते हैं, तो उन्हें खाना मत दो। अपने बच्चों के स्कूल भेजो। शिक्षा जितनी जरूरी पुरुषों के लिए है. उतनी ही स्त्रियों के लिए भी आवश्यक है। यदि तुम पढ़ना–लिखना जान जाओ, तो बहुत उन्नति होगी, जैसी तुम होओगी, वैसे ही तुम्हारे बच्चे बनेंगे। अच्छे कार्यों की ओर अपना जीवन मोड़ दो। तुम्हारे बच्चे इस संसार में चमकते हुए हों।

(5) दलितोद्धार के कानूनी उपाय – डॉ. अम्बेडकर का मत था कि मनुस्मृति के आधार पर भारत के अछूतों पर लगी हुई कानूनी पाबन्दियों को कानून द्वारा ही दूर किया जा सकता है। अम्बेडकर के द्वारा सन् 1930 में स्टारटे के एक सदस्य के रूप में दलित वर्गों के सदस्यों के विकास के लिए निम्नलिखित सिफारिशें की थीं–

दलित छात्रों के वजीफों की संख्या बढ़ाई जाये । .

विदेश में इंजीनियरिंग पढ़ने के लिए वजीफा दिया जाये ।

उनके लिए छात्रावासों की व्यवस्था की जाये ।

दलितों को कारखानों, रेलवे की कार्यशालाओं तथा अन्य ट्रेनिंग के लिए वजीफे दिये जाये

उपर्युक्त सभी कार्यों की देखभाल के लिए एक विशिष्ट अधिकारी की नियुक्ति हो ।

डॉ. अम्बेडकर के प्रयासों के फलस्वरूप ही भारतीय संविधान के अनुच्छेद 15 व 16 में सामाजिक समानता की व्यवस्था की गई है तथा अनुच्छेद 17 में अस्पृश्यता को कानून की दृष्टि में अपराध घोषित किया गया। इसके अतिरिक्त संविधान में अनुसूचित जाति तथा

जनजातियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था की गई है।

(6) दलितों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व का समर्थन डॉ. अम्बेडकर मुसलमानों, ईसाइयों तथा पंजाब के सिक्खों की तरह दलितों के लिए भी पृथक् प्रतिनिधित्व चाहते थे। उनका विचार था कि दलितों के प्रतिनिधि केवल दलितों द्वारा ही चुना जाना चाहिए। इसीलिए प्रथम व द्वितीय गोलमोल सम्मेलन में उन्होंने दलितों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व को आवश्यक बताया। उनका महात्मा गाँधी के साथ विरोध प्रमुख रूप से इसी बात पर था। गाँधीजी दलितों को हिन्दू समाज का अविभाज्य अंग मानते थे तथा ऐसी किसी भी स्थिति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे, जिससे हिन्दू समाज का विघटन होता हो। डॉ. अम्बेडकर दलितों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व के आधार पर उन्हें एक बड़ी राजनीतिक भक्ति के रूप में देखना चाहते थे ।

(7) धर्मान्तरण – डॉ. अम्बेडकर ने जब यह पूर्णरूपेण समझ लिया कि दलित जब तक हिन्दू हैं। तब तक उनके लिए सम्मानजनक जीवन व्यतीत करना असम्भव है। तब उन्होंने दलितों के धर्म परिवर्तन करने पर बल दिया। इस धर्म परविर्तन कर उद्देश्य दलितों को अपनी एक अलग पहचान ओर एक सम्मानजनक स्थिति प्रदान करना था। उन्होंने देशप्रेम के वशीभूत हो इस्लाम या ईसाई धर्म जो कि विदेशी थे, धारण नहीं किये, वरन् भारतीय बौद्ध धारण किया। सन् 1956 में 5 लाख व्यक्तियों के साथ उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया !

इस प्रकार स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर दलितों के मसीहा थे। उन्होंने दलित समाज के अमानवीय जीवन की स्थिति को समाप्त करने के लिए संघर्ष किया। डॉ. वी. पी. वर्मा ने अम्बेडकर के व्यक्तित्व और कार्यों की तुलना अमेरिका के महान नीग्रो नीता रॉब्सन से की है, जिसने अमेरिका के भवेत बहुमत के विरुद्ध समस्त नीग्रो जाति के आकोश को व्यक्त किया। डॉ. अम्बेडकर को दलित वर्ग के उद्धार के लिए किये जाने वाले कार्यों के आधार पर भारत का लिंकन तथा मार्टिन लूथर कहा जाता है। उन्हें बोधिसत्व की उपाधि से भी विभूषित किया गया है।

डॉ. अम्बेडकर के धर्म सम्बन्धी विचार

डॉ. भीमराव अम्बेडकर का लक्ष्य दलितोद्वार था । वे जानते थे कि भारतीय व्यक्तियों के जीवन पर धर्म का बहुत प्रभाव है। इसीलिए उन्होंने दलितोद्धार के लिए धर्म का एक साधन के रूप में प्रयोग किया।

(1) हिन्दू धर्म के तीव्र आलोचक उनका विचार था कि धर्म व्यक्ति के लिए है, व्यक्ति धर्म के लिए नहीं। उनका मत था कि यदि कोई धर्म मनुष्य–मनुष्य के बीच भेदभाव को अपनाता है या अपने ही अनुयायियों के एक वर्ग को दूसरे वर्ग के अधीन रहने के लिए प्रेरित या बाध्य करता है तो वह धर्म नहीं, वरन् मानवता का अपमान हैं

डॉ. अम्बेडकर का मानना था कि जब तक अछूत हिन्दुओं के साथ बने रहेंगे। तब तक उनमें उत्तम जीवन के लिए आशा, प्रेरणा और उत्साह नहीं हो सकता ।

(2) धर्म परविर्तन – डॉ. अम्बेडकर के मन में हिन्दू धर्म के प्रति तीव्र आकोश था। इस आकोश भावना के कारण ही डॉ. अम्बेडकर धर्म परविर्तन के लिए बाध्य हुए। उन्होंने देखा था कि जिन व्यक्तियों ने ईसाई, सिक्ख या इस्ताम धर्म ग्रहण किया था, उन्हें नए धर्म में भी समानता की स्थिति प्राप्त नहीं थी। अतः डॉ. भीमराव अम्बेडकर अपने ही देश के एक धर्म बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित हुए, क्योंकि यह धर्म समानता का सन्देश देता था। 14 अक्टूबर, 1956 को पाँच लाख लोगों के साथ उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया।

डॉ. वर्मा के अनुसार, ष्उन्होंने बौद्ध धर्म के मार्क्सवाद का एक नैतिक और सहिष्णु विकल्प खोजा और उनके अनुयायियों ने उन्हें गर्व के साथ बीसवीं सदी का बोधिसत्व कहा।ष

(3) बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षित होने के कारण निम्नलिखित विशेषताओं के कारण अपनी ओर आकर्षित हुए थे। डॉ. अम्बेडकर की नैतिकता बौद्ध धर्म की नैतिकता पर आधारित है

और नैतिकता ही उसका भगवान है। डॉ. अम्बेडकर के भाब्दों में, समाज में नैतिकता की भावना सुदृढ़ रूप में विद्यमान होनी चाहिए। यदि ऐसी स्थिति नहीं है तो समाज छिन्न–भिन्न हो जायेगा ।

बौद्ध धर्म में समानता है, जबकि हिन्दू धर्म के सामाजिक दर्शन में असामनता है। बौद्ध धर्म तर्क पर आधारित है। धर्म के नैतिक कानूनों में समानता और भाईचारे की स्थिति है।

(4) धर्म निरपेक्षवादी दृष्टिकोण – यद्यपि अम्बेडकर हिन्दू धर्म के विरोधी थे और उन्होंने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया था, लेकिन इन सबके बावजूद उनका दृष्टिकोण मूलतः धर्म निरपेक्षवादी ही था। उन्होंने धर्म परिवर्तन का कार्य किन्हीं धार्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए नहीं किया था, वरन् दलितों के लिए एक अलग पहचान प्राप्त करने तथा उन्हें समानता की स्थिति प्रदान करने के लिए किया था। डॉ. अम्बेडकर धर्म को लक्ष्य नहीं, वरन् एक साध ान मात्र मानते थे। डॉ. अम्बेडकर का विचार था कि दलित वर्गों का लक्ष्य आर्थिक, भौक्षणिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में उन्नति करना होना चाहिए तथा दलित वर्गों को आध यात्मिकता की अपेक्षा भौतिक पदार्थ प्राप्त करने के लिए प्रयासरत रहना चाहिए।

इकाई– 16 डॉ. भीमराव अंम्बेडकर के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार

डॉ. अम्बेडकर एक उदारवादी विचारक के रूप में

डॉ. अम्बेडकर एक उदारवादी विचारक थे। उनकी आस्था उदारवादी विचारधारा में थी । उदारवादी विचारधारा व्यक्ति के जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति में विश्वास करती है। डॉ. अम्बेडकर भी व्यक्ति की सम्पत्ति तथा संसदीय व्यवस्था को व्यक्ति के निर्माण के लिए अनिवार्य बताते हैं ! डॉ. अम्बेडकर पर बर्फ के विचारों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। उनका विचार है कि उदारवाद पर आधारित पाश्चात्य व्यवस्था, स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व व व्यक्ति रूप में सम्मान में विश्वास करती है ।

डॉ. अम्बेडकर मानवतावादी विचारक हैं, किन्तु भारतीय समाज के संघर्ष में वे जाति को केन्द्र मानते हैं। अम्बेडकर दलित वर्ग की रक्षा के लिए संघर्षरत थे, किन्तु उसे पूर्णता प्रदान करने के लिए वे उसे वर्ग संघर्ष के साथ नहीं जोड़ते हैं। उनका मत है कि इस संघर्ष का लक्ष्य दलित जाति के लिए सत्ता में भागीदारी प्राप्त करना मात्र है। वे अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति में ब्रिटिश राज के साथ जुड़ गये। उनके द्वारा पूँजीवाद तथा सामन्तवाद के आर्थिक आधार पर भी कोई आक्रमण नहीं किया गया। इस प्रकार वे न तो साम्यवादी थे और न ही समाजवादी । वे तो एक उदारवादी विचारक थे।

डॉ. अम्बेडकर का महात्मा गाँधी तथा काँग्रस के प्रति दृष्टिकोण

डॉ. अम्बेडकर दलितोद्धार के लिए समर्पित थे । महात्मा गाँधी उनके सर्वाजनिक जीवन में प्रवेश करने के पूर्व से ही दलितों के उद्धार के लिए प्रयासरत थे। इस नाते दोनों को मिलाकर कार्य करना चाहिए था, परन्तु इन दोनों के मध्य काफी सीमा तक कटुता की स्थिति विद्यमान थी। इसका कारण यह था कि अम्बेडकर को गाँधीजी द कॉग्रेस के प्रयत्नों पर विश्वास नहीं था ।

महात्मा गाँधी के प्रति डॉ. अम्बेडकर का दृष्टिकोण – अम्बेडकर और गाँधीजी दोनों ही दलितोद्धार के समर्थक थे। फिर भी इस सम्बन्ध में इन दोनों के बीच निम्नलिखित मतभेद विद्यमान थे। गाँधीजी यद्यपि हिन्दू समाज के ऊँच–नीच की भावना को समाप्त कर दलितों की स्थिति में सुधार करना चाहते थे, किन्तु वे वर्ण–व्यवस्था के समर्थक थे। उनका विचार था कि वर्ण–व्यवस्था एक वैज्ञानिक व्यवस्था है और वंशानुक्रम नियम एक भाश्वत नियम है। यदि मनुष्य अपना पैतृक कार्य छोड़कर देंगे तो इससे भारी अव्यवस्था फैल जायेगी। अतः वर्ण–व्यवस्था का आधार जन्म ही होना चाहिए, कर्म नहीं। लेकिन अम्बेडकर वर्ण–व्यवस्था के विरोधी थे । वे इसे दलित की आमनवीय स्थिति का मूल कारण मानते हैं। उनका मानना है कि जब तक वर्ण–व्यवस्था समाप्त नहीं होगी, तब तक दलितों की स्थिति में सुधार नहीं हो सकता।

(2) गाँधीजी दलितों के पृथक प्रतिनिधित्व के विरोधी थे, क्योंकि वे हिन्दू समाज के आंगिक

ढाँचे को भंग नहीं करना चाहते थे। उन्होंने सन् 1932 मैकडॉनल्ड पंचाट का विरोध किया, जिसमें अस्पृश्यों को सवर्ण हिन्दुओं से पृथक् प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया था। उन्होंने इसके विरोध में आमरण अनशन किया तथा मैकडॉनल्ड पंचाट को संशोधित कर पूना समझौता सम्पन्न कराया।

डॉ. अम्बेडकर प्ररम्भ से ही दलितों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व के समर्थक थे। उन्होंने परिस्थितियों के दवाबवश ही पूना समझौते पर हस्ताक्षर किये थे। लन्दन में आयोजित द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भी गाँधीजी तथा अम्बेडकर के बीच इसी मुद्दे पर मतभेद रहा। डॉ. अम्बेडकर दलितों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग का समर्थन करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने काह था कि, ष्यदि मुसलमान व सिखों के पृथक् प्रतिनिधित्व से राष्ट्र विभाजित नहीं होता, तो दलितों के पृथक् प्रतिनिधि त्व से राष्ट्र किस प्रकार विभाजित हो पायेगा।ष

भातीय राष्ट्रीय काँग्रेस के प्रति दृष्टिकोण – डॉ. अम्बेडकर भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस के भी विरोधी थे । यद्यपि काँग्रेस गाँधीजी के नेतृत्व में दलितोद्धार का कार्य कर रही थी, किन्तु काँग्रेस का सर्वप्रमुख लक्ष्य तो देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना था । किन्तु अम्बेडकर की दृष्टि में राजनीतिक स्वतन्त्रता की अपेक्षा दलितों की नागरिक सामाजिक तथा आर्थिक स्वतन्त्रता का कार्य अधिक महत्त्वपूर्ण था । अम्बेडकर का विचार था कि कॉग्रेस से दलितों के हित के किसी सारभूत कार्य की आशा नहीं की जा सकती ।

डॉ. अम्बेडकर के शब्दों में, ष्काँग्रेस मध्यमवर्गीय हिन्दुओं का एक संगठन है, जिसकी आर्थिक सहायता पूँजीपति हिन्दू करता है। इनका कार्य भारत को स्वतन्त्र कराना नहीं, वरन् अंग्रेजों से भासन की बागडोर अपने हाथों में लेना है ।

अम्बेडकर का मत था कि, काँग्रेस भोषक व भोषितों की जमात है। यह जमात राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए ठीक हो सकती है, लेकिन समाज का नवीनीकरण करने के लिए तनिक भी ठीक नहीं है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि डॉ. भीमराव अम्बेडकर महात्मा गाँधी तथा भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस दोनों के विरोधी थे ।

कार्ल मार्क्स तथा मार्क्सवाद के प्रति दृष्टिकोण

यद्यपि डॉ. भीमराव अम्बेडकर मार्क्सवाद से प्रभावित थे, किन्तु उनकी विचारधारा कार्ल मार्क्स की विचारधारा से भिन्न है। वे कार्ल मार्क्स के मार्क्सवादी चिन्तन को निम्नांकित आधारों पर अस्वीकार करते हैं

(1) डॉ. अम्बेडकर का मत है कि मार्क्सवाद से मानवीय मूल्यों का नाश होता है। इसलिए इसे अपनाया नहीं जा सकता ।

(2) मार्क्स का मत है कि हिंसा बल का प्रयोग के अधार पर ही समाज के भोषित वर्ग की स्थिति में सुधार लाया जा सकता है, किन्तु अम्बेडकर का मत है कि, ष्शक्ति के माध्यम से किया गया कोई भी कार्य स्थायी नहीं होता।ष वे कानूनी तथा सामाजिक उपायों से, व्यवस्था से परवर्तन लाना चाहते हैं, बल प्रयोग या हिंसा से नहीं । अम्बेडकर के भाब्दों में, ष्हिंसा और वर्ग संघर्ष से जन्मी व्यवस्था अधिनायकवाद को जन्म देगी, न कि राज्यविहीन समता मूलक समाज को ।ष इस प्रकार, अम्बेडकर मार्क्स के बल प्रयोग की पद्धति के आलोचक हैं।

(3) मार्क्स लोकतन्त्र तथा संसदीय व्यवस्था का विरोधी है तथा इन्हें उनहास की वस्तु मानता है। डॉ. अम्बेडकर उदारवादी विचारक हैं। इस नाते उनकी आस्था लोकतन्त्र तथा संसदीय व्यवस्था में हैं । वे दलित वर्ग के लिए राजनीतिक सत्ता में भागीदारी के प्रबल समर्थक थे।

(4) मार्क्स धर्म को जनता के लिए अफीम मानता है। उसका विचार है कि भोषक वर्ग ध र्म के नाम पर भाषित का भोषण करता है। लेकिन अम्बेडकर का मत है कि मात्र भौतिक तथा आर्थिक आधार पर समाज का पुनर्निर्माण नहीं हो सकता । राज्यविहीन समाज की

स्थापना भौतिकवादी कान्ति से नहीं, वरन् आध्यात्मिक भाक्ति से सम्भव है। वे बुद्धवाद को मार्क्स का नैतिक तथा सहिष्णु विकल्प मानते हैं।

डॉ. अम्बेदकर के भाब्दों में, ष्बुद्ध ने बगैर अधिनायकवाद के साम्यवाद की स्थापना की है और बुद्ध मार्क्स से महान सत्य और अहिंसक साधनो के कारण है ।ष

(5) मार्क्स के चिन्तन का मूल तत्व जाति है। मार्क्स आर्थिक समानता की स्थापना के लिए भोषक व भोषित के स्तर पर लड़ाई लड़ता है, किन्तु अम्बेडकर ने समानता की लड़ाई जातीय स्तर पर लड़ी है। मार्क्स का मूल लक्ष्य आर्थिक समानता तो अम्बेडकर का लक्ष्य सामाजिक समानता की स्थापना करना है।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि डॉ. अम्बेडकर मार्क्सवादी चिन्तन की आलोचना करते हुए उसे पूर्णरूपेण अस्वीकार कर देते हैं ।

डॉ. अम्बेडकर के कार्यों का मूल्यांकन

डॉ. भीमराव अम्बेडकर अगाध ज्ञान के भण्डार, घोर अध्यावसायी, न्यायशील तथा स्वष्टवादी तथा उदारवादी विचारक थे। उनके विचारों तथा कार्यों का मूल्यांकन निम्नांकित आधारों पर किया जा सकता है

(1) दलितो के मसीहा – दलितोंद्वार डॉ. अम्बेडकर के जीवन का सर्वप्रमुख संकल्प था । उन्होंने दलितों में जाग्रति उत्पन्न की, उन्हें संगठित कर सवर्णों के अत्याचारों का विरोध करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि राजनीतिक स्वतन्त्रता से अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न अछूत वर्ग के लिए इस अमानवीय व अपमानजनक स्थिति से छुटकारा प्राप्त करना है, जो कार्य अब्राहम लिंकन ने दासों की मुक्ति के लिए तथा पॉल रॉब्सन ने नीनो लोगों की मुक्ति के लिए किया था, वही कार्य डॉ. अम्बेडकर ने भारत में दलितों की मुक्ति के लिए किया । इसीलिए उन्हें श्दलितों का मसीहा कहा गया है।

(2) वर्ण तथा जांति व्यवस्था का विरोध – डॉ अम्बेडकर भारत में विद्यमान वर्ण–व्यवस्था तथा जाति व्यवस्था के घोर विरोधी थे। उनका विचार था कि जाति व्यवस्था पूर्णतः अव्यावहारिक, अन्यायपूर्ण और गरिमाहीन व्यवस्था है। सर्वाधिक अन्यायपूर्ण व्यवस्था होने के कारण आज इसका कोई औचित्य नहीं है। इस व्यवस्था से आर्थिक क्षेत्र में कार्यकुशलता को आघात पहुँचता है तो सामाजिक जीवन में जड़ता, रूढ़िवादिता एवं विद्वेष उत्पन्न होता है। इस प्रकार, अम्बेडकर की यह प्रमुख देन है कि उन्होंने हिन्दुओं का ध्यान उन सामाजिक समस्याओं की ओर किया, जो कलान्तर में हिन्दू समाज के साथ–साथ राष्ट्र की सम्पूर्ण व्यवस्था के लिए घातकं थीं।

(3) यथार्थवादी दृष्टिकोण – डॉ. अम्बेडकर ने दलितोंद्वार के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि दलितों को अपनी बुरी आदतें जैसे– माँगना, झूठ बोलना, माँस खाना आदि छोड़ देनी चाहिए तथा हीनता की भावना का त्याग कर आत्मसम्मानपूर्ण जीवन बिताना चाहिए। उनके सुझाव थे – दलित शिक्षित हों, संगठित हों तथा अत्याचार के विरुद्ध संघर्ष करें। दलितों की स्थिति में सुधार का एक उपाय भारत का औद्योगीकरण बताया था। यह उनकी दूरदर्शिता तथा यथार्थवादिता को स्पष्ट करता है।

(4) नरी उत्थान पर बल डॉ. अम्बेडकर भारतीय पारिवारिक व्यवस्था में स्त्रियों को पुरुषों के अधीन तथा उन पर निर्भर समझे जाने की प्रवृत्ति का विरोध करते हैं। उन्होंने मनुस्मृति तथा अन्य भास्त्रों की इस आधार पर कटु आलोचना की कि उन्होंने स्त्रियों की समाज में स्वतन्त्र भूमिका पर प्रतिबन्ध लगाये हैं ।

डॉ. अम्बेडकर का विचार था कि स्त्रियों को शिक्षा तथा सामाजिक जीवन के अन्य सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। उन्होंने स्त्रियों की स्थिति में सुधार के उद्देश्य से हिन्दू कोड बिल तैयार किया तथा उसे संसद में प्रस्तुत किया। इस प्रकार नारी उत्थान की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

(5) सामाजिक न्याय तथा सामाजिक लोकतन्त्र का प्रतिपादन – डॉ. अम्बेडकर ने

समाजिक लोकतन्त्र को राजनीतिक लोकतन्त्रा की पूर्व भार्त मानते हुए भारत में लोकतन्त्र की सार्थक व्याख्या एवं परिकल्पना प्रस्तुत की। भारतीय संविधान की प्रस्तावना तथा अन्य भागों में वर्णित सामाजिक, आर्थिक न्याय का संकल्प डॉ. अम्बेडकर के प्रयासों का ही फल है।

(6) भारतीय संविधान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका – डॉ. अम्बेडकर को नेहरू तथा पटेल आदि नेताओं के प्रयासों से संविधाने की प्रारूप समिति का अध्यक्ष बनाया। डॉ. अम्बेडकर के अपने इस दायित्व को निभाते हुए एक ऐसे संविधान का निर्माण किया, जो भाान्तिकाल व संकटकाल दोनों परिस्थितियों में देश की एकता बनाये रख सकता है।

अभ्यास प्रश्न

1. डॉ. भीमराव अम्बेडकर का संक्षिप्त जीवन परिचय दें।
2. डॉ. भीमराव अम्बेडकर के राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डालें।

दलितों के संबंध में अम्बेडकर की क्या सोच थी?

3. डॉ. अम्बेडकर एक उदारवादी विचारक थे । व्याख्या करें।
4. डॉ. अम्बेडकर तथा महात्मा गाँधी के बीच भिन्नताओं पर प्रकाश डालें।
5. डॉ. अम्बेडकर के कार्लमार्क्स के प्रति दृष्टिकोण की समीक्षा करें।

bdkb& 17 Mk- jkeeukgj ykfg;k
(DR. RAM MANOHAR LOHIA)

डॉ. राम मनोहर लोहिया का जन्म उत्तर प्रदेश के फैजाबाद जिले के एक ग्राम में हुआ था। उनके परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। उनका प्रारम्भिक जीवन बहुत कष्ट में बीता। जब वे लगभग 2 वर्ष के थे, तभी उनकी माता का देहान्त हो गया। इसके बाद वे मुम्बई चले गये । मुम्बई में रहते हुए उन्होनें मैट्रिक की परीक्षा उत्तीर्ण की। बनारस से इन्होनें इण्टरमीडिएट और श्कोलकाता के विद्यासागर कॉलेज से बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। उन्होनें सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण की। राम मनोहर प्रारम्भिक से ही कुशाग्र बुद्धि के थे। उनके अध्यापक उनसे बहुत ही अधि क प्रभावित थे। अंग्रेजी साहित्य में उनकी विशेष रुचि थी। बी.ए. उत्तीर्ण करने के बाद उन्हें उच्च शिक्षा के लिए छात्रवृत्ति मिल गये और वे इंग्लैण्ड चले गये। इंग्लैण्ड के अनुभवों ने उन्हें विचलित कर दिया तब वे वहाँ से बर्लिन चले गये । बर्लिन विश्वविद्यालय से उन्होंने 1932 ई. में राजनीतिक दर्शन में पी. एचडी. की उपाधि प्राप्त की । उनके भोध प्रबन्ध का नाम श्नमक और सत्याग्रहश था । यह भोध प्रबन्ध जर्मन भाषा में ही लिखा हुआ था ।

सन् 1933 के प्रारम्भ में लोहिया भारत लौटे। 17 मई, 1934 को पटना में आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में देशभर के समाजवादियों का एक सम्मेलन आयोजित हुआ। लोहिया ने इसमें भाग लिया और वे समाजवादी आन्दोलन के साथ जुड़े गये। सन् 1934 में मुम्बई में समाजवादी दल का स्थापना सम्मेलन हुआ, उसमें उन्हें श्कांग्रेस सोशलिस्ट पत्र के सम्पादन का भार सौंपा। इसमें इन्होनें अनेक लेख लिखे। अपने कुछ लेखों में उन्होनें गाँध ीजी द्वारा चलाये गये श्ग्राम सुधार कार्यक्रमश की कड़ी आलोचना की।

सन् 1936 में भारतीय राष्ट्रीय कॉग्रेस के कार्यालय में एक राष्ट्र विभाग प्रारम्भ किया गया। पं. जवाहरलाल नेहरू इसे अध्यक्ष चुने गये। नेहरू जी ने लोहिया जी से आग्रह किया कि वे इलाहाबाद आकर राष्ट्र विभाग के सचिव का पद संभालें । लोहिया जी ने दो वर्ष तक इस रूप में अपनी सेवाएँ दी।

सन् 1938 से वे महात्मा गाँधी की विचारधारा और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होने लगे । सन् 1938 से 1946 तक उन्होनें ब्रिटिश साम्राज्यवाद का डटकर विरोध किया। सन् 1942 के श्भारत छोड़ो आन्दोलन में उन्होनें सक्रिय भूमिका निभायी। लगभग 15 महीने तक भूमिगत रहकर वे इस आन्दोलन को चलाते रहे। बाद में पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लाहौर किले में बन्द कर दिया। जिन दिनों वे भूमिगत रहे थे, उन दिनों उन्होनें एक गुप्त रेडियो स्टेशन की स्थापना की। इसका नाम इन्होनें श्आजाद हिन्द रेडिया स्टेशनश रखा था । वहाँ उन्होनें अनेक प्रसारण कर जन–जागरण का कार्य किया। जेल में लोहिया जी को अनेक यातानाएँ दी गई। जेल से उन्होनें उत्तर प्रदेश गर्वनर और भारत के गर्वनर को जो पत्र लिखे, वे स्वाधीनता संग्राम के महत्वपूर्ण प्रलेख है ।

देश की स्वतन्त्रता के बाद डॉ. राम मनोहर लोहिया जीवन पर्यन्त समाजवादी आन्दोलन से जुड़े रहे। डॉ. लोहिया का उद्देश्य न केवल भारत में वरन् समस्त एशिया में समाजवादी आन्दोलन को संगठित करना था। अतः उन्होनें मार्च, 1953 में म्यांमार की राजधानी रंगून में एशियाई समाजवादी सम्मेलन का आयोजन किया। 1952 ई. में समाजवादी दत्त और कृ षक मजदूर प्रजा पार्टी का विलय हो गया और नये दल का नाम प्रजा समाजवादी दल हुआ। सन् 1954 में लोहिया जी प्रजा समाजवादी
दल के महासचिव नियुक्त हुए। इस समय त्रावनकोर–कोचीन में प्रजा समाजवादी दल की सरकार थी, जिसके मुख्यमंत्री थे पट्टमथानु पिल्लई । जब त्रावनकोर कोचीन में भाषायी आध ार पर पृथक राज्य की मांग करने वाले आन्दोलनकारियों पर गोली चला दी गई तो लोहिया जी ने गालीकाण्ड का विरोध किया और माँग की कि पिल्लई मन्त्रिमण्डल को

त्यागपत्र दे देना चाहिए। दल के अन्य नेताओं से इस प्रसंग पर तीव्र मतभेद हो जाने पर वे दल से अलग हो गये तथा दिसम्बर, 1955 में . उन्होनें भारतीय समाजवादी दल की स्थापना की। वे इस नये दल के अध्यक्ष बने ।

प्रारम्भ में डॉ. लोहिया की रूचि चुनावी राजनीति में नही थी और न ही वे संसद का सदस्य बनना चाहते थे, परन्तु सन् 1960 के बाद उन्होनें संसद में प्रवेश पाने की आवश्यकता समझी। सन् 1962 ई. में डॉ. लोहिया ने पं. जवाहरलाल नेहरू के विरुद्ध चुनाव लड़ा, परन्तु ये इसमें असफल रहे । सन् 1963 में वे फर्रुखाबाद से उपचुनाव में लोक सभा के सदस्य चुने गये। संसद सदस्य के रूप में उनहोनें भासन की कड़ी आलोचना का मार्ग अपनाया। उनकी आलोचना तथ्यों और आँकड़ों पर आधारित होती थी । उन्होनें आँकड़ों के आधार पर स्पष्ट किया कि रत इतना गरीब देश है कि इस देश के व्यक्ति की औसत आय 19 पैसे है ।

लोहिया जी ने जीवनभर दलित वर्ग के उत्थान के लिए संघर्ष किया। वे स्वतन्त्र भारत में भी अनेक बार जेल गये। वे हिन्दी के अनन्य भक्त थे । वे निर्भीक एवं स्पष्टवादी थे। वे जीवनभर भाासन की नीतियों का विरोध करते रहे। 12 दिसम्बर, 1967 को उनकी मृत्यु हो गई ।

डॉ. राम मनोहर लोहिया पर सम्भवतः विद्यार्थी जीवन से ही कार्ल मार्क्स का प्रभाव था । इसके बाद वे सन् 1938 में महात्मा गाँधी के सम्पर्क में आये और उन पर गाँधीजी के व्यक्तित्व और कार्यशैली का प्रभाव पड़ा। गाँधीजी ने लोहिया के समाजवादी चिन्तन को बहुत अधिक प्रभावित किया । यद्यपि डॉ. राममनोहर लोहिया मार्क्स और गाँधीजी दोनों के दर्शन से प्रभावित हुए थे, परन्तु वे दोनों के चिन्तन को एकांकी मानते थे। उन्होनें भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए मार्क्स तथा गाँधी दोनों के बीच समन्वय का रास्ता अपनाया ।

डॉ. लोहिया मार्क्स के श्इतिहास की आर्थिक व्याख्याश तथा श्वर्ग संघर्षश से बहुत अधिक प्रभावित थे। मार्क्स ने श्इतिहास की आर्थिक व्याख्या के तर्कपूर्ण विश्लेषण से मानव–जीवन में आर्थिक भाक्तियों के महत्व को प्रतिपादित किया है। उसने श्वर्ग संघर्षश के सिद्धान्त के माध्यम से प्रतिपादित किया है कि किस प्रकार सदैव से समाज में वर्ग संघर्ष रहा है और साधन सम्पन्न वर्ग ने साधन विहीन वर्ग का भोषण किया है। इसी सन्दर्भ में मार्क्स ने अतिरिक्त मूल्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करके सामाजिक जीवन की बुराइयों में पूँजीवाद के बढ़े हुए प्रभाव का विश्लेषण एवं उसे समाप्त करने की आवश्यकता एवं पद्धति को प्रस्तुत किया है। डॉ. लोहिया लिखते हैं, ष्मार्क्सवादी दर्शन व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिकार को समाप्त करने के लिए महत्वपूर्ण योग देता है तथा यह इससे भी अधिक उच्च आधार पर मानसिक स्तर पर भी सम्पत्ति को समाप्त करने का समर्थक है जिससे व्यक्ति और वातावरण दोनों में सुधार हो सके।ष

मार्क्स से अत्यधिक प्रभावित होते हुए भी लोहिया जी मार्क्स की बल प्रयोग की पद्धति और सर्वहारा वर्ग को अधिकनायकवाद के रूप में सर्वाधिकारवादी व्यवस्था की स्थानपना से सहमत नहीं थे। वे मार्क्स के चिन्तन को भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं मानते थे ।

भारतीय परिस्थितियों में वे जिस समाजवाद की कल्पना करते थे, उसके लिए वे गाँधी जी के असहयोग के भास्त्र का प्रयोग उचित मानते रहे । लोहिया जी स्वीकार करते थे कि गाँधी जी के विचार और कार्यपद्धति को भारतीय समाजवाद के ढाँचे में रखा जा सकता है। डॉ. राममनोहर लोहिया लिखते हैं –

ष्समाजवाद अब विश्व के रंगमंच पर है, समाजवाद का दर्शन आज भी खुला है। गाँधीवाद के अतिरिक्त अन्य कोई विश्वास अधिक उपयोगी नहीं रहेगा। यह विचार हमें आशा प्रदान करता है। यदि समाजवाद के वस्त्र में गाँधीजी के विचार और कार्य बाँधे जा सके तो

निश्चय ही एक नई सभ्यता का जन्म होगा तथा मानवता भान्ति और सुखद जीवन की कामना कर सकती है।ष

इस प्रकार मार्क्स और गाँधी के दर्शन ने डॉ० राममनोहर लोहिया को बहुत अधिक प्रभावित किया । यद्यपि लोहिया जी दोनों के दर्शन से प्रभावित थे, परन्तु वे दोनों के दर्शन को एकांगी समझते थे। यद्यपि वे मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित थे, परन्तु उन्होनें मार्क्स के पदार्थ चिन्तन से आगे बढ़कर प्रतिपादित किया कि श्चेतना अधिक महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त लोहिया और भारतीय समाजवादियों की सदैव से यही धारणा रही है कि ष्अनुचित साधन से हम कभी भी अच्छे लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते।ष इसके लिए हमें उचित साधनों का सहारा लेना चाहिए । यद्यपि लोहिया को मार्कस के श्वर्गसंघर्षश के सिद्धान्त में आस्था है, किन्तु जातियों के बीच होने वाले संघर्ष से भी उन्होंने अपने आपको दूर नहीं रखा।

इस प्रकार डॉ. लोहिया मार्क्स और गाँधी जी से प्रभावित थे, परन्तु वे न तो पूर्णतः मार्क्सवादी बनना चाहते थे और न ही पूर्णतः गाँधीवादी। उन्होनें सदैव यही कहा कि मार्क्स और गाँधी से सीखने के लिए बहुत कुछ है, किन्तु हमें मार्क्सवादी या गाँधीवादी बनने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दोनों ही अधूरी व्याख्या का प्रतिपादन करते हैं। लोहिया जी ने मार्क्स और गाँधीजी के बीच समन्वय और सन्तुलन की आवश्यकता पर बल दिया।

डॉ. राममनोहर लोहिया के राजनीतिक चिन्तन को मार्क्स एवं गाँधी जी से प्रेरणा मिली, परन्तु वे पूर्णतः मार्क्सवादी या गाँधीवादी न बन सके। उन्होंने दोनों के राजनीतिक चिन्तन में समन्वय स्थापित किया। वह देश की तत्कालीन दशा से चिन्तित थे और उसमें सुधार करना चाहते थे । दुःखी, दरिद्र और असहाय के प्रति दया भावना प्रारम्भ से ही उनके स्वभाव का एक अंग था और जीवन– पर्यन्त उन्होनें दलितोत्थान के लिए संघर्ष किया। उनका समाजवादी चिन्तन भारतीय राजनीतिक दर्शन की अमूल्य निधि है ।

डॉ० लोहिया के राजनीतिक चिन्तन की कुछ मुख्य दार्शनिक धारणाएँ इस प्रकार हैं–

(1) इतिहास की नवीन व्याख्या डॉ० लोहिया की इतिहास की व्याख्या कार्ल मार्क्स की श्इतिहास की आर्थिक व्याख्या से भिन्न है। डॉ० लोहिया ने बताया कि इतिहास अपने निश्चित चक्र के अनुसार घूमता रहता है। इतिहास सरल रेखा की भाँति आगे नहीं बढ़ता, वरन् चक्रवत् गति से चालित होता है। लोहिया का यह चक्र यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू के श्चक्रश सिद्धान्तश का स्मरण दिलाता है। समय चक्र की इस धारणा के अनुसार एक देश जो उन्नति के चरम शिखर पर है, वह पतन के गर्त में भी गिर सकता है। इसी प्रकार एक ऐसा समय भी आ सकता है, जब पतन के गर्त में गिरा हुआ देश पुनः उन्नति करने लगे। इस प्रकार जैसे व्यक्ति के जीवन में उतार–चढ़ाव आते रहते हैं । उसी प्रकार राष्ट्र के जीवन में उतार–चढ़ाव आते हैं।

(2) मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद में संशोधन लोहिया मार्क्स की द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की धारणा से प्रभावित हैं, लेकिन उन्होनें एक संशोधन के साथ ही इसे स्वीकार किया है। मार्क्स एवं उसके अनुयायी केवल पदार्थ के सत्त को स्वीकार करते हैं। वे पदार्थ को ही एक पात्र नियामक तत्त्व मानते है। लोहिया ने इस परम्परावादी मार्क्सवादियों की तुलना में चेतना पर अधिक जोर दिया है। वे एक ऐसे सिद्धान्त की रचना के पक्ष में है, जिसमें आत्मा तथा द्रव्य का परस्पर ऐसा सम्बन्ध हो कि दोनों का अस्तित्व कायम रह सके ।

(3) जातियों तथा वर्गों का संघर्ष – कार्ल मार्क्स ने वर्ग–संघर्ष की धारणा का प्रतिपादन किया है। लोहिया ने अपनी पुस्तक श्इतिहास चक्रश में बताया है कि इतिहास में जातियों तथा वर्गो का संघर्ष देखने को मिलता है। जातियों की विशेषता यह होती है कि उनका रूप सुनिश्चित होता है। इसके विपरीत वर्गों की आन्तरिक रचना शिथिल हुआ करती है। जातियाँ गतिहीनता, निष्क्रियता तथा रूढ़िगत अधिकारों की पुरातनवादी भक्तियों का

प्रतिनिधित्व करती हैं। वर्ग सामाजिक गतिहीनता की प्रचण्ड भाक्ति के प्रतिनिधि होते हैं। लोहिया के अनुसार अब तक का मानव इतिहास जातियों तथा वर्गों के बीच आन्तरिक गति का इतिहास है। जातियाँ शिथिल होकर वर्गों में परिणित हो जाती हैं और वर्ग संगठित होकर जातियों का रूप धारण कर लेते हैं।

(4) एशियाई राजनीति के सम्बन्ध में विचार डॉ० लोहिया के अनुसार एशियाई राजनीति के पतन का मुख्य कारण यह है कि इसमें कट्टर धार्मिक विश्वासों एवं कट्टर राजनीतिक सोच–विचारों का मिश्रण पाया जाता है। इसमें पंथाभिमान एवं साम्प्रदायिकता का जहर फैलता है। चूँकि एशियाई देशों में प्रजातांत्रिक राजनीति की निश्चित परम्पराओं का अभाव है। इसलिए आतंक तथा हत्याएँ राजनीतिक कार्यप्रणाली का रूप धारण कर लेती है। एशियाई राजनीति की अन्य कमी यह है कि यहाँ नौकरशाही के नये वर्ग का जन्म हो गया है, जो असंसदीय तरीके से सत्ता में रहने का प्रयत्न करते हैं। डॉ. लोहिया ने ऐसे व्यापक तथा मौलिक सामाजिक दर्शन की आवश्यकता पर बल दिया है, जिससे ऐशिया में फैली हुई बीमारियों का इलाज हो सके।

(5) राज्य सम्बन्धी विचार – लोहिया जी ने चार स्तम्भों वाले राज्य की कल्पना की । इन चार स्तम्भो वाले राज्य का पहला स्तम्भ ग्राम, दूसरा स्तम्भ मण्डल (जिला), तीसरा स्तम्भ प्रान्त और

चौथा स्तम्भ केन्द्र अथवा केन्द्रीय सरकार होगी । प्रत्येक स्तम्भ के कार्य तथा भाक्तियाँ निध ारित कर दी जायेंगी । ग्रामों, मण्डलों और नगरों में पंचायतें स्थापित की जायेंगी, जो कि कल्याणकारी नीतियों और कार्यों की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेंगी। वर्तमान समय में जिला स्तर पर जिलाधीश की जो व्यवस्था है, लोहिया इस जिलाधीश के पद को प्रशासनिक केन्द्रीयकरण का प्रतीक मानकर इस पद को समाप्त करने की आवश्यकता पर बल देते हैं। चार स्तम्भ वाले इस राज्य की व्यवस्था में प्रत्येक इकाई का अपने–अपने कार्यों के अनुसार महत्व बना रहेगा और इन चारों इकाइयों को कार्यमूलक संघवाद की व्यवस्था के अन्तर्गत एकीकृत कर दिया जायेगा। लोहिया जी ने बताया कि पाँचवाँ स्तम्भ विश्व सरकार होगी।

(6) विकेन्द्रीयकृत समाजवाद – डॉ० लोहिया समाजवाद के प्रबल समर्थक थे। समाजवाद के लिए राष्ट्रीयकरण महत्वपूर्ण है, लेकिन लोहिया के अनुसार यह रोग की रामबाण औषधि ा नहीं है । उन्होनें कहा कि विकसित पूँजीवादी राज्यों और साम्यवादी व्यवस्था वाले राज्यों की तरह बड़े–बड़े कारखाने लगाकर छोटी मशीनों के उपयोग को महत्व दिया जाना चाहिए। इस प्रसंग में वे घरेलू एवं कुटीर उद्योग–धन्धों को बहुत अधिक महत्वपूर्ण मानते थे । सहकारी श्रम और ग्राम स्वराज्य अंग है। वे चाहते थे कि किसानों से किसी भी प्रकार का कर न लिया जाये। वे सामन्तवादी और जमींदारी व्यवस्था के सख्त खिलाफ थे । वे कहते थे कि जमीन पर जोतने वाले और बोने वाले का अधिकार होना चाहिए। वे कारखानों में मजदूरों को उनके अधिकार दिलाना चाहते थे ।

(7) समानता और लोकतन्त्र – डॉ० लोहिया समानता के पक्षपाती थे। उनके अनुसारं समानता सामाजिक व्यवस्था के मूल तत्व होना चाहिए। डॉ. लोहिया सर्वाधिकारवाद के प्रबल विरोधी और लोकतन्त्र के प्रबल समर्थक हैं। वे समाजवाद और लोकतन्त्र को परस्पर पूरक मानते हैं। उनका कहना है कि नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना लोकतांत्रिक साधनों के आधार पर की जानी चाहिए और समाजवाद की स्थापना के बाद भी लोकतन्त्र को बनाये रखना होगा।

स्मानता और लोकतन्त्र को नवीन समाजवादी व्यवस्था का आधार मानकर उन्होनें इस प्रसंग में निम्नलिखित सुझाव दिये हैं

आय–व्यय के क्षेत्र में अधिकतम् समानता उपलब्ध कराना ।

वयस्क मताधिकार पर आधारित विश्व संसद की स्थापना करना ।

लोकतान्त्रिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना ।
चूँकि विश्व के सभी देशों में आर्थिक निर्भरता बहुत अधिक बढ़ गई है। इसलिए सम्पूर्ण विश्व में जीवन स्तर को उठाना ।
सरकार द्वारा बलपूर्वक अनुचित कार्य कराये जाने का विरोध। इस हेतु गाँधीजी द्वारा बताये गये व्यक्तिगत एवं सामूहिक सविनय अवज्ञा आन्दोलन की जनता को अज्ञा प्रदान करना । 8) अहिंसा – डॉ. लोहिया हिंसा और रक्तपात के विरुद्ध थे । वे कार्ल मार्क्स की इस बात से सहमत नहीं थे कि नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए हिंसा एवं बल प्रयोग को अनिवार्य रूप से अपनाना होगा। लोहिया जी को महात्मा गाँधी के सत्याग्रह और अहिंसा पर दृढ़ विश्वास था । उनका विचार था कि अनुचित साधन से हम कभी अच्छे लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर सकते। वे संसदीय ढंग से समाजवाद लाना चाहते थे और विश्व में पूँजीवाद को समाप्त करना चाहते थे । डॉ. लोहिया के विचारों का मूल्यांकन – डॉ. लोहिया ने केवल नेता थे, वरन् स्वयं में एक संस्था थे। वे महान स्वतन्त्रता सेनानी थे, जिन्होनें स्वतन्त्रता से पूर्व ब्रिटिश साम्राज्यवाद का कड़ा विरोध किया । स्वतन्त्रता के बाद उन्होंने गाँधीजी द्वारा दर्शाये गये मार्ग पर चलकर समाजवाद को लाने के लिए सतत् प्रयास किया। उन्होंनें मार्क्सवाद व गाँधीवाद का गहन अध्ययन किया और दोनों की त्रुटियों को दूर कर नवीन समाजवाद की कल्पना की। वे भारत में समाजवादी आन्दोलन की प्रमुख प्रेरणाओं में से एक थे। स्वतन्त्रता के बाद के वर्षों में उन्होनें समाजवादी दल की स्थापना की। वे भारतीय समाजवादियों के मार्गदर्शक थे । लोहिया के व्यक्तित्व में विचार, प्रतिभा और कर्मठता का सामंजस्य और है । वे एक राजनीतिक कर्मयोगी की श्रेणी में आते हैं। डॉ. लोहिया जीवन भर एक विद्रोही के रूप में कार्य करते रहे और उन्होंने सदैव भासिक दल (अंग्रेजी) का विरोध किया। उनकी मृत्यु ने समाजवादी आन्दोलनों में एक अभाव को जन्म दिया, जिसकी पूर्ति नहीं की जा सकी। उनका देहावसान पर प्रो. एन. जी रंगा ने उन्हें विद्रोहियों का सरताजश कहा और श्री अटल बिहारी बाजपेयी ने उन्हें मौलिक विचारक, क्रांतिकारी और सच्चे समाजवाद का प्रेरक स्तम्भ कहा।

इकाई– 18 डॉ. राममनोहर लोहिया के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार

प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक एवं विचारधाराएँ

विलक्षण प्रतिभा के धनी डॉ० राममनोहर लोहिया बीसवीं सदी के महान् समाजवादी थे । उनका जीवन दुःखी, पीड़ित और भोषित जनता को समर्पित था । जीवनभर वे उनकी स्थिति में सुध र करने को प्रयत्नशील रहे। उनका मन भारत की गरीबी से विक्षुब्ध था। वे केवल राजनीतिक विकेन्द्रीकरण ही नहीं, बल्कि आर्थिक विकेन्द्रीकरण भी चाहते थे। वे केवल राजनीतिक सुधार ही नहीं, बल्कि सामाजिक सुधारक भी चाहते थे। उनका मन समाज में व्याप्त असमानताओं से दुःखी था । उनके सामाजिक चिन्तन के मुख्य बिन्दु इस प्रकार है (1) जाति–प्रथा का प्रबल विरोध – डॉ. लोहिया के अनुसार जाति–प्रथा भारतीय जीवन का एक मूल तत्व है। भारत में जाति–प्रथा की जड़े बहुत गहरी है। यदि हम भारत के सार्वजनिक जीवन पर विचार करना चाहते हैं तो हमें जाति के तत्व पर भी विचार करना होगा। लोहिया ने विभिन्न स्तरों पर जाति–प्रथा का घोर विरोध किया है। उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि जाति–प्रथा पर चौतरफा हमला होना चाहिए। जाति–प्रथा की समाप्ति के सम्बन्ध में उनके विचार और सुझाव इस प्रकार है–
जाति प्रथा पर हजारों वर्ष से लगातार हमले होते रहे हैं, लेकिन कामयाबी नहीं मिली । इसका कारण यह है कि अब तक जाति–प्रथा पर केवल डेढ़ मुखी हमले हुए, एक धार्मिक और आध सामाजिक द्य सामाजिक हमला सम्पूर्ण होना चाहिए ।
धार्मिक और सामाजिक हमले के साथ–साथ तीसरा हमला राजकीय वयस्क मताधि कार और पिछड़ी तथा दलित जातियों के विकास हेतु विशेष अवसरों को व्यवस्था के रूप में होना चाहिए। लोहिया इस सम्बन्ध में सभी जातियों के लिए समान अवसर की बात को स्वीकार नहीं करते हैं। वे निचली जातियों के लोगों को विकास हेतु विशेष अवसर प्रदान करने की

आवश्यकता पर बल देते हैं।

लोहिया समाज की निचली जातियों में इन पाँच वर्गों को भामिल करते हैं – महिला, हरिजन, मुसलमान और आदिवासी ।

जाति प्रथा पर हमला चौथा हमला आर्थिक मोर्चे पर होना चाहिए। इसके अन्तर्गत मजदूरों की मजबूरी बढ़ायी जाये अलाभकर जोतों से लगान खत्म किया जाये और जमीन पर जोतने वाले का ही अधिकार हो इस प्रकार का चौतरफा हमला होने पर जाति प्रथा के समाप्त होने की आशा है !

इन सुझावों के अतिरिक्त डॉ. लोहिया ने जाति प्रथा को समाप्त करने के कुछ और सुझाव दिये हैं

(1) डॉ. लोहिया के अनुसार ऊँची जाति के युवजनों को अब भी पूरी ताकत से जाति–प्रथा के विरुद्ध चाहिए।

(2) इसके साथ ही नीची जातियों (स्त्री, भाद्र हरिजन, मुसलमान और आदिवासी) के युवजनों के कन्धों पर भारी बोझ आ जाता है। इनकी सर्वोपरि ध्येय यही नहीं होना चाहिए कि उन्हें ऊँची जातियों की सभी परम्पराओं और शिष्टाचारों का सांग नहीं रचना है। उन्हें भारीरिक श्रम से नहीं कतराना है, केवल अपने स्वार्थ को ही नहीं देखना है, तीखी जलन में नहीं पड़ना है, वरन यह समझकर कि वे कोई पवित्र कार्य कर रहे हैं, उन्हें राष्ट्र के नेतृत्व का भार वहन करना है।

(2) महिला उत्थान का समर्थन डॉ. लोहिया महिला उत्थान के प्रबल समर्थक थे । उनके अनुसार विश्व में दो चीजें प्राप्त करने योग्य होती हैं – ईश्वर और स्त्री । लोहिया की इस पंक्ति से नारी जाति के प्रति उनका श्रद्धाभाव व्यक्त होता है।

लोहिया के सम्बन्ध में कुछ विचारकों का कहना है कि विवाह न करने के कारण उनके जीवन में अपूर्णतया रह गई, किन्तु लोहिया का मत है कि भाादी और बच्चे सार्वजनिक कार्यकर्त्ता को भ्रष्ट कर सकते हैं। उन्होनें यह बात स्त्री कार्यकर्त्ता और पुरूष कार्यकर्ता दोनों के सम्बन्ध में कही है। अतः इसे महिला वर्ग के सम्बन्ध में अपमानजनक नहीं समझा जा सकता। लोहिया दहेज–प्रथा के विरोध ी थे। उनका स्पष्ट मत था कि दहेज लेने वाले व्यक्तियों को सामाजिक जीवन में हेय समझा जाना चाहिए। उनका कहना था कि भारतीय नारी द्रौपदी जैसी हो, जिसने कि कभी किसी पुरुष से दिमागी हार नहीं मानी। नी को कमजोर नहीं बनाना है। उसे भाक्तिशाली बनाकर पुरूषों के समान आगे बढ़कर समाज का उत्थान करना है

मूल्यांकन वास्तव में डॉ. मनोहर लोहिया इतिहास, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र और राजनीति विज्ञान के अत्यन्त उच्चकोटि के विद्वान थे। वे एक समाज सुधारक थे। वे दलित वर्ग के उत्थान के लिए संघर्षशील थे। वे नारी उत्थान के समर्थ थे। उनके सामाजिक विचार अनुकरणीय हैं ।

डॉ. लोहिया के समाजवादी विचार

डॉ. राममनोहर लोहिया एक समाजवाद विचारक थे। यद्यपि उनके विचार मार्क्स तथा गाँधी जी से प्रभावित थे, किन्तु उन्होनें दोनों के दर्शन को एकांगी मानते हुए भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये मार्क्स तथा गाँधी जी के मध्य समन्वय तथा सन्तुलन पर बल दिया। लोहिया की समाजवादी धारणा में भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों तत्व का सम्मिश्रण था। डॉ. लोहिया कहते है, हिन्दुस्तान के समाजवाद को अब आध्यात्मिक और भौतिक दोनों वैचारिक पुट देकर खड़ा किया जाय, यह नहीं कि फिर खिचड़ी पकाई जाये, बल्कि एक ऐसे आधार पर खड़ा किया जाये कि जिससे उसे मनुष्य के इन दोनों तत्वों की सहायता मिल सके।

डॉ. लोहिया परम्परागत तथा संगठित समाजवाद को एक मरा हुआ सिद्धान्तश तथा क्षरणशील व्यवस्थाश मानते थे क्योंकि इसमें उग्र राष्ट्रीयता, तानाशाही केन्द्रीयकरण तथा

उग्र वामपंथियों सदृभा प्रवृत्तियाँ विकसित होती हैं। इसीलिए उन्होनें श्नवीन समाजवाद का नारा लगाया। लोहिया के मतानुसार नवीन समाजवाद के पाँच आधार बताये हैं
(1) समानता, (2) लोकतन्त्र, (3) अहिंसा, (4) विकेन्द्रीयकरण, (5) विश्व बन्धुत्व पर आधारित विश्व संगठन।

डॉ. लोहिया का विचार है कि नवीन सामाजिक व्यवस्था समानता पर आधारित होगी । उनका विचार है कि समाजवाद और लोकतन्त्र एक–दूसरे के पूरक हैं तथा नवीन सामाजिक व्यवस्था की स्थापना लोकतान्त्रिक साधनों के आधार पर की जानी तथा समाजवाद की स्थापना के बाद भी लोकतन्त्र को बनाये रखना होगा। डॉ. लोहिया अहिंसा के आधार पर संसदीय तरीके से समाजवाद की स्थापना तथा पूँजीवाद को समाप्त करना चाहते थे। उनके विचार में खेती और कारखानों में पैदावार के साधनों, सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण के माध्यम से समाजवाद की स्थापना करना चाहते थे । लोहिया जी ने इस बात पर बल दिया कि समाजवाद का एक प्रमुख तत्व राजनीतिक तथा आर्थिक भात्तियों का विकेन्द्रीयकरण है तथा भारत जैसे देश में विकेन्द्रीयकरण का मार्ग ही समाजवाद का मार्ग हो सकता है।

डॉ. लोहिया सहकारी श्रम और ग्राम स्वराज्य को समाजवादी व्यवस्था के दो अंग मानते थे । उनका विचार था कि किसानों से कोई कर नहीं लेना चाहिए, जमीन पर जोतने और बोने का अधिकार होना चाहिए तथा कारखानों में मजदूरों को उनके अधिकार प्राप्त होने चाहिए। डॉ. लोहिया समाजवादी व्यवस्था के प्रसंग में सुझाव देते हुए बताते हैं कि उपभोग पर प्रतिबन्ध होनाचाहिए। यह नियन्त्रण व्यय करने की सीमा पर होना चाहिए, न कि केवल आय पर 1 इसके अतिरिक्त उत्पादन की प्राथमिकताओं का दृढ़ता से निर्धारण होना चाहिए तथा खाद्यान्न से प्रारम्भ कर उपभोक्ता सामग्री पर बल देना चाहिए। व्यक्ति को सम्पत्ति से मोह त्याग देना चाहिए। इस प्रकार लोहिया जी के सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तियों की कम से कम और अधिक से अधिक आय और व्यय के मध्य सीमा रेखा खींच देते हैं तथा इसे अपने आर्थिक व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण आधार मानते है। इसके लिए वह राष्ट्रीयकरण को प्रमुख साधन मानते हैं।

अभ्यास–प्रश्न

1. डॉ. लोहिया की संक्षिप्त जीवनी प्रस्तुत करते हुये उनके जीवन पर कार्लमार्क्स के प्रभाव को स्पष्ट करें।
2. डॉ. लोहिया के राजनीतिक विचारों पर प्रकाश डालें।
3. डॉ. राममनोहर लोहिया के सामाजिक चिंतन तथा महिला उत्थान के संबंध में उनके विचारों को प्रस्तुत करें ।
4. डॉ. लोहिया एक सामाजिक विचारक थे। स्पष्ट करें।

माड्यूल – 3 पाश्चात्य विचारक – 1

इकाई– 19 प्लेटो (Plato)

प्लेटो का जन्म 428 ई०पू० प्राचीन यूनान के एथेंस नामक नगर राज्य में हुआ था। उसका वास्तविक नाम एरिस्टोक्लीज (।तपेजवबसमे) था, किन्तु उसे प्रसिद्धि प्लेटो के रूप में प्राप्त हुयी, जो उसका उप नाम मात्र था। प्लेटो तत्कालीन यूनान के कुलीन वर्ग से सम्बन्धित था, वह पितृ पक्ष की दृष्टि से प्राचनी क्रीटियस वंश से सम्बन्धित था और मातृ–पक्ष की दृष्टि से प्रसिद्ध विधिशास्त्री सोलन से सम्बन्धित था । यद्यपि युवावस्था में प्लेटो एथेंस की राजनीति में भाग लेने की महत्वाकांक्षा रखता था, किन्तु उसने जिस घृणित ढंग से राजनीतिक घटना चक्र को घटते देखा, उसके परिणामस्वरूप प्लेटो ने व्यावहारिक राजनीति के स्थान पर दर्शनशास्त्र की भारण लेना उचित समझा। उसने स्पार्टा द्वारा एथेंस की पराजय देखी, एथेंस में अल्पवर्गीय निरंकुश भासन देखा और उसके बाद वहाँ ऐसे लोकतंत्र की स्थापना भी देखी जिसके प्रमुख भाासकों ने मिथ्या आरोप लगाकर सुकरात जैसे महान सन्त, दार्शनिक एवं सत्यान्वेषी को मृत्यु – दण्ड की सजा दी, जो प्लेटो का गुरु भी था। इस दुर्घटना ने प्लेटो के हृदय में व्यावहारिक राजनीति के प्रति वैराग्य भी भावना पैदा कर दी और वह अपने गुरु सुकरात की दार्शनिक चिन्तन परम्परा का अनुकरण करते हुये इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि राजनीतिक (सार्वजनिक) जीवन के कष्टों का अन्त तब तक नहीं हो सकता जब तक कि राज्य के भाासक दार्शनिक नहीं बन जायें, अथवा दार्शनिकों को ही भाासक नहीं बना दिया जाये।

अपने उपरोक्त विचार के समर्थन में उसने शरिपब्लिकश नामक ग्रन्थ की रचना की। अपने विचारों के प्रसार, दार्शनिक भाासक के प्रशिक्षण तथा सत्य की खोज के लिए उसने एक विद्यापीठ (अकादमी) की भी स्थापना की । किन्तु अन्त में प्लेटो को निराशा ही प्राप्त हुयी, क्योंकि वह दार्शनिक भाासक के निर्माण में गम्भीर रूप से असफल रहा। इस उद्देश्य से उसने साराक्यूस (ैलतंबनेम) की तीन बार यात्राएँ कीं, किन्तु वह वहाँ के भाासक डायनीसियस प्रथम (क्पवदलेपने प्) तथा उसके बाद के शासक डायनीसियस द्वितीय (क्पवदलेपने प्प्) को दार्शनिक भासक बनाने में तो असफल रहा ही, उसे उनके हाथों उपेक्षा, रिस्कार एवं दण्ड भी प्राप्त हुआ ।

अपने उपरोक्त निराशाजनक अनुभव के आधार पर प्लेटो ने दार्शनिक भाासक की धारणा को त्याग दिया और उसके स्थान पर एक ऐसे आदर्श भाासक की धारणा स्वीकारी जो सार्वजनिक हित के लिए राजनीति की कला का प्रयोग करने में समर्थ हो। इस उद्देश्य से उसने श्स्टेट्समैनश (जीम ैजंजमेउंद) नामक ग्रन्थ लिखा । किन्तु कुछ समय बाद ही उसने अनुभव किया कि वास्तविक जीवन में ऐसे आदर्श भाासक का मिलना भी लगभग असम्भव है और तब प्लेटो ने श्लॉजश (जीम सूं) नामग ग्रन्थ की रचना की । प्लेटो ने लॉज में कानून को सर्वोच्च भासक माना है। लॉज भाासकों में पायी जाने वाली मानवीय दुलताओं को ध्यान में रखकर लिखा गया ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में प्लेटो ने दार्शनिक भाासक के भासन के स्थान पर दर्शन (विवेक) द्वारा निर्मित विविध के भाासन को मान्यता दी है। इस प्रकार प्लेटो ने लॉज में राजनीति एवं भासन के क्षेत्र में दर्शन को व्यावहारिक रूप देने की चेष्टा की है। इसीलिए जहाँ रिपब्लिक में वर्णित राज्य व्यवस्था को प्लेटो का सर्वोत्तम आदर्श (प्रथम आदर्श) कहा जाता है, वहां ही लाफज में वर्णित राज्य व्यवस्था को प्लेटो का उप आदर्श (द्वितीय आदर्श) कहा जाता है। इससे यह भी प्रकट होता है कि प्लेटो ने अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक रिपब्लिक के आदर्श का पूर्ण त्याग नहीं किया था, अपितु इसी आदर्श को उसने एक नये और अधिक व्यावहारिक तरीके से लॉज में प्राप्त करने की चेष्टा की है। यह आदर्श है कि राजनीति को दर्शन का अनुकरण करना चाहिए ।

राजनीति पर लिखे गये ग्रन्थों में लॉज प्लेटो की अन्तिम रचना है, जो उसके राजनीतिक विचारों का निष्कर्ष प्रकट करती है। 347 ई०पू० में 81 वर्ष की आयु में प्लेटो की मृत्यु हुई।

2. प्लेटो की कृतियाँ एवं शैली

प्लेटो में कुल 36 ग्रन्थ लिखे हैं, राजनीतिक दृष्टि से उसकी तीन रचनायें अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं–– (1) रिपब्लिक (2) पोलिटिक्स अथवा स्टेट्समैन (3) लॉज। इसके अलावा राजनीतिक दृष्टि से कुछ अन्य ग्रन्थों का भी सीमित महत्व है। एपोलॉजी तथा क्रिटो नामक ग्रन्थो में प्लेटो ने इस विषय पर चर्चा की है कि राज्य की आज्ञाओं का पालन किस सीमा तक किया जाना उचित है। यूथीडेमस में सर्वोच्च विद्या के रूप में राजनीति विषय पर विचार किया गया है। मीनो, प्रोटेगोरस एवं जॉर्जियस में यूनान के नगर – राज्यों के वास्तविक राजनीतिक जीवन की कमियों को प्रकट किया गया है और इस बारे में सुकरात की शिक्षाओं के महत्व को स्पष्ट किया गया है। कारमाइडीज तथा लैकेस में क्रमशः आत्मा के आत्म संयम एवं साहस नामक गुणों की समीक्षा की गयी है, जिनका प्लेटो के राज–दर्शन में विशेष महत्व हैं। प्लेटो की अन्य प्रमुख रचनायें हैं–फ्यूडियो, फ्यूट्स, यूथोग्रेफ्रो , थियेट्स, सॉफिस्ट्स आदि। यह उल्लेखनीय है कि प्लेटो का सर्वोत्तम ग्रन्थ रिपब्लिक को ही माना जाता है, जिसने प्लेटो को राजनीति, दर्शन, शिक्षा, नीतिशास्त्र, मनोविज्ञान, कला आदि के क्षेत्र में एक मेघावी व अति श्रेष्ठ विचारक के रूप में प्रतिष्ठित किया है ।

प्लेटो ने अपने सभी ग्रन्थों की रचना में प्रश्नोत्तर भौली (संवाद शैली) को अपनाया है, जो वास्तव में उसके गुरु सुकारात की भौली है। इस भौली के अनुसार किसी विषय में अन्तिम सत्य की खोज के लिए विभिन्न व्यक्तियों में वार्तालाप (संवाद) होता है और यह वार्तालाप प्रश्न एवं उत्तर का रूप धारण करता है। प्रश्नों के माध्यम से किसी भी उत्तर की सत्यता की परीक्षा की जाती है। सभी ग्रन्थों में सुकरात प्रमुख पात्र है और अन्य पात्र तत्कालीन यूनान के विभिन्न विद्वान हैं। इन विद्धानों की विभिन्न अवधारणाओं को सुकरात प्रश्नों के द्वारा चुनौती देता है और इस प्रकार उनकी अवध रणाओ को असत्य सिद्ध करता है तथा उनके सहयोग से सुकरात ऐसे सत्य को प्रस्तुत करता है जिसे सभी स्वीकार करते हैं । प्लेटो ने संवाद की भोली का कुशलतम एवं प्रभावशाली प्रयोग किया है। गम्भीरतम विषयों व्यंग्य, से सम्बन्धित उसकी रचनाओं में निबन्ध की नीरसता एवं उबाऊपन नहीं है, अपितु हास्य, आश्चर्ययुक्त कथन एवं नाटकीयता का पर्याप्त अंश है। संवाद की भौली द्वारा प्लेटो किसी विषय पर प्रचलित लौकिक विश्वासों एवं बौद्धिक मान्यताओं का क्रमशः खण्डन करता है और उसके बाद अन्तिम सत्य को क्रमबद्ध रूप में प्रकट करता है । इस भौली के कारण संवाद में भाग लेने वाले पात्रों एवं श्रोताओं में किसी विषय के बारे में अन्तिम सत्य को जानने की जिज्ञासा व उत्सुकता बनी रहती है और इस प्रकार सत्य को उनके दिमागों में हँसने या लादने की आवश्यकता नहीं रहती है। प्लेटो ने संवाद भौली को विचार – क्रान्ति के सर्वोत्तम एवं रूचिकर साधन के रूप में इस्तेमाल किया है। .

प्लेटो की सभी कृतियों में प्रमुख पात्र सुकरात है, जो वास्तव में प्लेटो का गुरू है। यह पता लगाना कठिन है कि इन कृतियों में सुकरात नामक पात्र द्वारा प्रस्तुत किये गये विचार वास्तव में रचनाकार प्लेटो के अपने विचार हैं, अथवा उसके गुरू सुकरात के हैं। वस्तुतः इन कृतियों में प्लेटों और उसके गुरु सुकरात के विचारों का संयुक्त रूप मिलता है और इनको अलग–अलग करना असम्भव है । इस दृष्टि से मैक्सी का यह कुंथन सत्य है प्लेटो में सुकरात पुनः जीवित हो गया है। प्लेटो ने अपनी रचनाओं में अपने मत के समर्थन के लिए विभिन्न दृष्टयों (।दंसवहपमे) का प्रयोग किया है, जो विभिन्न कलाओं अथवा जन्तु जगत से सम्बन्धित है वह कुशल भासिन की कला की तुलना चिकित्सा एवं नौका–संचालन की कलाओं से करता है। इसी प्रकार नगर–राज्य की रक्षा–व्यवस्था में पुरुषों की भांति स्त्रियों के महत्व को बताने के लिए प्लेटो कुत्तों का उदाहरण देता है।

हूँ

प्लेटो के बारे में एक अति महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि उसकी रचनायें अपनी प्रकृति से यथार्थवादी नहीं है, अपितु मात्र कल्पनावादी (न्जवचपंद) है। उसके पात्र एक आदर्श राज्य के विचार की खोज में तल्लीन दीख पड़ते हैं, जो केवल प्रत्ययवादी जगत में ही मौजूद है, इन पात्रों का इस जगत के वास्तविक राज्यों से कोई सम्बन्ध नहीं दीख पड़ता है।

प्लेटो का न्याय–सिद्धान्त

प्लेटो की राजनीतिक विचारधारा का केन्द्रीय विषय है आदर्श नगर– राज्य व्यवस्था की स्थापना, किन्तु उसका दृढ़ विश्वास है कि ऐसी व्यवस्था की स्थापना न्याय के अभाव में नहीं की जा सकती है। अतः उसके राज दर्शन में आदर्श नगरं राज्य व्यवस्था के साथ ही न्याय सिद्धान्त का भी अत्यधिक महत्व है । सम्भवतः यही कारण है कि उसने अपने ग्रन्थ को जहाँ मुख्य भीर्षक पॉलितेइया दिया है, वहाँ ही इसका उपशीर्षक डिकायस्यून भी रखा है। यूनानी भाषा के इन दोनों भाब्दों का अंग्रेजी भाषा में क्रमशः अनुवाद है– रिपब्लिक तथा कंसर्निंग जस्टिस हिन्दी भाषा में इनका क्रमशः अनुवाद है– श्आदर्श नगर–राज्य व्यवस्था तथा न्याय से सम्बन्धित । वस्तुतः प्लेटो ने एक साथ ही इन दोनों शीर्षकों को स्वीकार करके यही संकेत किया है कि उसकी आदर्श राज्य व्यवस्था का मुख्य आधार उसका न्याय सिद्धान्त ही है। बार्कर के अनुसार, न्याय प्लेटों के विचारों का मूल आधार है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्लेटो ने न्याय भाग्द का प्रयोग आधुनिक अर्थ में नहीं किया है। वर्तमान काल में किसी कानूनी विवाद (मुकदमा) में न्यायाधीश द्वारा दिये ये फैसले को हम श्न्यायश कहते हैं। प्लेटो ने श्न्यायश भाब्द का प्रयोग इस कानूनी अर्थ में नहीं किया है उसके लिए श्न्यायश एक नैतिक व दार्शनिक अवधारणा है। यह वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन का आधारभूत सदगुण अथवा अच्छाई है। भारतीय सन्दर्भ में इसे श्स्व–धर्म की अवधारणा के निकट माना जा सकता है। प्लेटो के न्याय–सिद्धान्त की व्याख्या प्लेटो ने अपने न्याय–– सिद्धान्त को प्रकट करने से पहले तत्कालीन यूनान में प्रचलित विभिन्न न्याया–सिद्धान्तों का खण्डन किया है और उसके बाद उसने अपने न्याय–सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है । अतः रिपब्लिक में वर्णित प्लेटो के न्याय सम्बन्धी सम्पूर्ण विचारों को निम्नलिखित रूप में समझा जा सकता है––

(अ) प्लेटो से पहले की न्याय सम्बन्धी धारणाएँ

(ब) प्लेटो का न्याय–सिद्धान्त

(अ) प्लेटो से पहले की न्याय सम्बन्धी धारणाएँ

प्लेटो के समय यूनान में न्याय सम्बन्धी निम्नलिखित सिद्धान्त प्रचलित थे, जिनका प्लेटो ने खण्डन किया है–

(1) परम्परागत न्याय–– सिद्धान्त तथा इसकी समीक्षा (ज्तंकपजपवदंस टपमू वश्रिनेजपबम दक प्जे त्मअपमू) न्याय सम्बन्धी यह सिद्धान्त परम्परागत नैतिक मूल्यों पर आधारित है रिपब्लिक में न्याय के इस सिद्धान्त को सिफालस तथा उसके पुत्र पॉलीमार्कस द्वारा प्रस्तुत किया गया है। सिफालस के अनुसार, ष्सत्य बोलना और दूसरों के ऋण को चुका देना न्याय है ।ष इसी परम्परागत न्याय–सिद्धान्त की व्याख्या करते हुए पॉलीमार्कस बताता है कि न्याय एक कला है जिसके द्वारा किसी व्यक्ति के साथ वही किया जाना चाहिए, जिसके वह योग्य है, अर्थात मित्र के प्रति भलाई और भात्रु के प्रति घृणित व्यवहार किया जाना ही न्याय है ।

प्लेटो ने इस सिद्धान्त की निम्नलिखित रूप में समीक्षा की है और उसमें निहित दोषों को प्रकट किया है.

(1) सर्वप्रथम प्लेटो सिफालस के मत की समीक्षा प्रस्तुत करता है। वह बताता है कि कुछ विशेष स्थितियों में सत्य बोलना अथवा ऋण लौटाना दोनों ही अन्याय हो सकते हैं, अतः

इन दोनों कार्यों (नीतियों) को हम सदैव ही न्याय नहीं कह सकते। उदाहरण के लिए किसी नागरिक द्वारा अन्य राष्ट्र को अपने राष्ट्र के गुप्त रहस्य बताना श्सत्य भाषणश की श्रेणी में तो आता है, किन्तु इस प्रकार के सत्य भाषण को न्याय नहीं भाजा जा सकता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति सामान्य मनोदशा में अपने भासास्त्र रख जाये, किन्तु विक्षिप्त मनोदशा में अपने भासास्त्र वापस मागे, तो उसे उसके भासास्त्रों को सौंपना न्याय नहीं माना जा सकता है, क्योंकि इस बात की प्रबल सम्भावना है कि वह इनका अनुचित व विधि विरूद्ध प्रयोग कर सकता है। उपरोक्त दोनों उदाहरणों के अनुसार सिफालस की न्याय सम्बन्धी धारणा दोषपूर्ण है।

(2) प्लेटो पॉलीमार्कस के मत की समीक्षा करते हुए इस न्याय सिद्धान्त में निम्नलिखित कमियाँ बताता है––

यह कथन सत्य नही है कि न्याय एक कला है, क्योंकि न्याय व कला के लक्षणों में अन्तर होता है। कला को किसी के प्रति अच्छाई अथवा बुरायी दोनों ही रूपों में प्रयोग में लाया जा सकता है, जबकि न्याय को सदैव ही अच्छाई के रूप में ही प्रयोग में लाया जा सकता है। उदाहरण के लिए चिकित्सा कार्य एक कला है और यह चिकित्सक के ऊपर निर्भर करता है कि वह इस कला के द्वारा बीमार व्यक्ति की बीमारी का अन्त करे, अथवा उसकी बीमारी में वृद्धि करे। यदि न्याय को कला मान लिया जायेगा तो उसका भी दुतरफा प्रयोग किया जायेगा, जो स्वयं न्याय की भावना के विरूद्ध होगा। अतः न्याय एक कला नहीं है।

प्लेटो के अनुसार यह विचार भी दोषपूर्ण है कि मित्र के साथ मित्रततापूर्ण और भानु के साथ भात्रुततापूर्ण व्यवहार करना ही न्याय है। प्रथम, अनेक बार यह मालूम करना आसान नहीं होता है कि वास्तव में कौन हमारा मित्र है और कौन भात्र। बाहरी आचरण से जो व्यक्ति मित्र लगता है, वह अन्दरूनी तौर पर हमारा भात्रु भी हो सकता है। अतः व्यवहार में इस न्याय सिद्धान्त को लागू करना ही कठिन है। द्वितीय, यदि यह मालूम भी हो जाये कि अमुक व्यक्ति वास्तव में ही हमारा भात्रु है, तो भी जान–बूझकर उसकी हानि करने को न्याय नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि न्याय मूलतः एक अच्छाई (सदगुण) है और उसे बुरायी के लिए प्रयोग में नहीं लाया जा सकता है। जब किसी बुरे व्यक्ति (शत्रु) की बुराई की जाती है तो उससे उसका और अधिक पतन होता है। किसी भी व्यक्ति की स्थिति को पहले की तुना में अधिक खराब करने से कार्य को न्याय नहीं कहा जा सकता है ।

पॉलीमार्कस ने अपने न्याय–सिद्धान्त को व्यक्तियों के बीच भात्रुता एवं मित्रता के प्रसंग में स्पष्ट किया है। इस प्रकार उसका न्याय सिद्धान्त मूल रूप से व्यक्तिवादी विचार है, किन्तु प्लेटों का मत है कि न्याय की अवधारणा मूल रूप से व्यक्तिवादी विचार है, किन्तु प्लेटो का मत है कि न्याय की अवधारणा मूल रूप से एक सामाजिक विचार हे और यह व्यक्ति की तुलना में सामाजिक हित को महत्व देती है।

परम्परागत न्याय–सिद्धान्त में पाये जाने वाले उपरोक्त दोषों के कारण प्लेटो इस सिद्धान्त को अस्वीकार करता है ।

(2) क्रान्तिकारी न्याय सिद्धान्त और इसकी समीक्षा – न्याय का क्रान्तिकारी सिद्धान्त न्याय का आधार भाक्ति को मानता है। इस सिद्धान्त में तत्कालीन यूनान के सॉफिस्ट विचारकों का विश्वास था और रिपब्लिक में इस सिद्धानत को सॉफिस्ट विद्वान सीमैक्स ने प्रस्तुत किया है, वह न्याय सम्बन्धी अपने सिद्धानत को दो रूपों में प्रकट करता है–

(1) भाक्तिशाली का हित ही न्याय है – थ्रेसीमैक्स के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपना हित चाहता हे और वह इदसे ही न्याय मानता है, किन्तु व्यवहार में केवल भाक्तिशाली व्यक्ति ही अपने हित की पूर्ति में सफल होते हैं और वे इसे ही न्याय कहते हैं। किसी समाज में सरकार (शासक वर्ग) ही सबसे भाक्तिशाली होती है, अतः सरकार का हित ही न्याय होता है। थैसीमैक्स के अनुसार भाासन एक कला है और भाासक इस कला का प्रयोग करके अपेन हित में कानून बनाते हैं और प्रजाजन (निर्बल वर्ग) से इन कानूनों का पालन

करवाते हैं तथा इसे वे न्याय कहते हैं तथा इन कानूनों का विरोध करने वालों को दण्डित करते हैं। इस प्रकार थ्रैसीमैक्स के अनुसार सभी राज्यों में श्शक्तिशाली का हित ही न्याय होता है।

(2) अन्याय न्याय से श्रेष्ठ है – जहाँ भैसीमैक्स ने न्याय की प्रथम व्याख्या भाासकों की दृष्टि से की है, वहाँ ही उसने न्याय की दूसरी व्याख्या भाासितों की दृष्टि से की है। वह बताता है कि भाासकों की दृष्टि से जो न्याय होता है, वही भासितों की दृष्टि से अन्याय होता है । किन्तु व्यवहार में भासितो की तुलना में भाासक अधिक प्रसन्न दीख पड़ता है, अतः भैसीमैक्स निष्कर्ष निकालता है कि अन्याय न्याय से श्रेष्ठ होता है और अन्यायी पुरूष न्यायी पुरुष की तुलना में अधिक प्रसन्न व सुखी होता है। वह इस सम्बन्ध में कुछ उदाहरण भी देता है। जब कभी न्यायी व अन्यायी पुरुष व्यापार में साझा करते हैं, तब साझे की समाप्ति पर सदैव ही न्यायी पुरूष की तुलना में अन्यायी पुरुष को ही अधिक धन प्राप्त होता है। इसी प्रकार राज्य से सम्बन्धित मामलों में भी न्यायी की तुलना अन्यायी व्यक्ति लाभ में रहता है। समान सम्पत्ति पर न्यायी व्यक्ति की तुलना में अन्यायी व्यक्ति कम कर देता है और जब राज्य की ओर से धन वितरण होता है तो न्यायी की तुलना में अन्यायी पुरूष अधिक धन प्राप्त करने में सफल हो जाता है। अपनी इस मान्यता के आधार पर कि अन्याय न्याय से श्रेष्ठ है, सीकस साधारण नागरिकों को यह सलाह देता है कि उचित मोका मिलने पर उन्हें अपने हित की रक्षा के लिए, भाासक की नजरों से बचकर उसके कानूनों व आदेशों का उल्लंघन कर लेना चाहिए ।

प्लेटो ने सीमैक्स के क्रान्तिकारी न्याय–सिद्धानत की निम्नलिखित रूप में आलोचना की

(1) न्याय केवल शक्तिशाली का हिल नहीं है – प्लेटो भैंसीमैक्स के इस विचार का समर्थन करता है कि श्शासन एक कला है किन्तु वह कला के ऐस लक्षण बताता है कि जिससे सिद्ध होता है कि न्याय का अर्थ भाक्तिशाली का हित नहीं है, अपितु भाक्तिशाली द्वारा सर्वजनिक या सामान्य हित की रक्षा है। प्लेटो के अनुसार किसी भी कला का उद्देश्य अपने से सम्बन्धित वस्तु के दोषों का अन्त करना है, न कि कालान्तर की स्वार्थ सिद्धि करना। उदाहरण के लिए चिकित्सा की कला का उद्देश्य रोगी के मर्ज का इलाज करके उसे स्वस्थ बनाना है, न कि चिकित्सक के स्वार्थ की पूर्ति करना । इसी प्रकार पशु पालन की कला की दृष्टि से गड़रियों का कार्य पशुओं की सेवा करना, उनका मांस भक्षण करना नहीं। ठीक यही बात भाासन की कला पर भी लागू होती है । भाासक (शक्तिशाली) का कार्य प्रजाजन (निर्बलों के हित की रक्षा करना है, अपनी स्वार्थ सिद्धि नहीं।

(2) अन्याय न्याय से श्रेष्ठ नहीं है – प्लेटो ने थ्रैसीमैक्स के इस विचार का खण्डन किया है कि अन्याय न्याय से श्रेष्ठ होता है और अन्यायी व्यक्ति की तुलना में धिक प्रसन्न व सुखी होता है। इस बारे में प्लेटो के प्रमुख तर्क निम्नलिखित हैं–

प्लेटो के अनुसार अन्यायी व्यक्ति सही मायने में बुद्धिमान नहीं होता है, क्योंकि वह ऐसी सीमा नहीं जानता है जिसके आगे उसे नहीं जाना चाहिए। न्यायी व्यक्ति अपने आचरण की मर्यादा अथवा सीमा को जानता है, अतः वह अधिक बुद्धिमान है। जिस प्रकार किसी वाद्य–यन्त्र के तार एक सीमा तक कसे जाने पर तो सर्वोत्तम ध्वनि निकालते हैं, किन्तु इस सीमा से अधिक खींचे जोन पर टूट जाते हैं, वैसे ही अन्यायी व्यक्ति का अमर्यादित आचरण उसके नाश का कारण बनता है। अतः अन्यायी व्यक्ति को बुद्धिमान नहीं का जा सकता है।

न्याय में स्वयं की भाक्ति होती है, जिसके कारण न्यायी व्यक्तियों में एकता उत्पन्न होती है और उसकी स्थिति (अस्तित्व) बनी रहती है। इसके विपरीत अन्याय से व्यक्तियों की एकता का अन्त होता है, अतः अन्याय में भाक्तिहीनता होती है और इस प्रकार अन्यायी व्यक्तियों के अस्तित्व को भी खतरा बना रहता है।

प्लेटो बताता है कि न्यायी व्यक्ति की तुलना में अन्यायी व्यक्ति कभी भी अधिक प्रसन्न एवं

सुखी नहीं रह सकता है। प्लेटो के अनुसार प्रत्येक वस्तु का एक निश्चित कार्य एवं गुण होता है। उदाहरण के लिए आंख का कार्य है देखना और सदैव अच्छा देखना यह उसका गुण है। इसी प्रकार मानव–आत्मा का कार्य है जीवित रहना और उसका गुण है न्यायपूर्ण जीवन व्यतीत करना । जब व्यक्ति अपनी आत्मा के गुण के अनुसार न्यायपूर्ण जीवन बिताता है, तो उसे अत्यधिक प्रसन्नता व सुख प्राप्त होता है। किन्तु एक अन्यायी व्यक्ति अपनी आत्मा के इस गुण के विपरीत जीवन बिताता है और वह अपनी इस कमजोरी को जानता भी है, अतः अन्यायी न्यायी की तुलना में न तो अधिक प्रसन्न होती है औरन सुखी ही ।

(3) न्याय का व्यवहारवादी सिद्धान्त तथा इसकी समीक्षा– इस सिद्धान्त को न्याय का कार्य–करण सिद्धान्त भी कहा जाता है। रिपब्लिक में इस सिद्धान्त को मुख्यतः ग्लाउकन ने प्रस्तुत किया है। वह मानता है कि न्याय मानव स्वभाव की सहज एवं स्वाभाविक प्रवृत्ति नही है, अपितु मानव भाक्ति हीनता (दुर्बलता) से उत्पन्न एक धारणा (विचार) है। ग्लाउकन का मत है कि मानव स्वभाव से ही स्वार्थी प्राणी हैं और अपने हित की प्राप्ति के लिए अन्याय करना पसन्द करता है। किन्तु प्रकृति की अवस्था के निर्बल व्यक्तियों ने यह अनुभव किया कि अन्याय द्वारा केवल भाक्तिशाली व्यक्ति्यों को ही लाभ होता है और उन्हें हानि होती है। प्रकृति की अवस्था में ऐसे निर्बल व्यक्तियों की संख्या अत्यधिक थी, जो एक ओर तो अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए अन्याय करने में असमर्थ थे और दूसरी ओर उन्हें थोड़ी सी संख्या वाले भाक्तिशाली व्यक्तियों से प्राप्त होने वाले अन्याय का भय सताता रहता था। अतः अन्याय के भय से दुःखी इन व्यक्तियों को अन्याय की स्थापना की आवश्यकता अनुभव हुयी। उन्होंने इस दृष्टि से परस्पर यह समझौता किया कि अब वे अन्यों के प्रति अन्याय नहीं करेंगे और न किसी को

ही अन्याय करने देंगे। अपने उपरोक्त विवरण के आधार ग्लाउकन ने न्याय के सम्बन्ध में अग्रलिखित निष्कर्ष निकाले हैं–– (प) मानव स्वभाव से अन्यायप्रिय है, अतः मानव स्वभाव की दृष्टि से न्याय एक ऐसी कृत्रिम एवं अप्राकृतिक धारणा है, जिसकी स्थापना समझौते द्वारा होती है, (पप) भाक्तिशाली व्यक्तियों के अन्याय से भयभीत व्यक्तियों के मन में ही न्याय की बात आती है. अतः ग्लाउकन कहता है, ष्न्याय भय का शिशु है.ष (पपप) अन्याय का अभाव ही न्याय है। (पअ) न्याय की स्थापना की भशुरूआत व्यक्तियों के पारस्परिक समझौते से हुयी है और इससे ऐसी प्रथाओं, परम्पराओं नियमों व कानूनों का विकास हुआ है जिन्हें न्याय का रक्षक माना जाता है।

प्लेटो ने निम्नलिखित आधारों पर इस सिद्धान्त की आलोचना की है–

(1) प्लेटो के अनुसार न्याय मानव–आत्मा का गुण है, अथवा न्याय का निवास स्थान मानव आत्मा है । अतः न्याय मानव के लिए सहज व स्वाभाविक गुण है।

(2) न्याय की उत्पत्ति किसी समझौते से नहीं हुयी है। राज्य व्यक्ति की आत्मा का बड़ा रूप है और जिस प्रकार न्याय व्यक्ति की आत्मा में निवास करता है, उसी प्रकार न्याय राज्य की आत्मा में भी निवास करता है ।.

(3) निर्बल एवं भाक्तिशाली दोनों के लिए ही न्याय महत्व रखता है। अतः यह कहना अनुचित है कि न्याय निर्बलों की आवश्यकता है, अथवा श्न्याय भय का शिशु है ।

(ब) प्लेटो का न्याय–सिद्धान्त

प्लेटों के अनुसार व्यक्ति की दृष्टि से न्याय का वास्तविक निवास स्थान आत्मा है और राज्य मानव आत्मा का ही बड़ा रूप है, अतः न्याय का निवास राज्य में भी होता है। न्याय के इन दो निवास स्थानों के अनुसार ही प्लेटो न्याय के दो प्रकार बताता है– वैयक्तिक न्याय तथा सामाजिक न्याय । उसका मत है कि वैयक्तिक न्याय की तुलना में सामाजिक न्याय को आसानी से समझा जा सकता है । उसका तर्क है कि राज्य मानव–आत्मा का ही बड़ा रूप है, जैसे कि मानो मानव आत्मा छोटे अक्षरों में लिखी गयी छोटे आकार की पुस्तक हो

और राज्य बड़े अक्षरों में लिखी गयी बड़े आकार की पुस्तक हो, किन्तु दोनों की विषय सामग्री एक समान है। जिस प्रकार छोटे अक्षरों वाली तुलना में बड़े अक्षरों वाली पुस्तक को पढ़ना आसान है, उसी प्रकार व्यक्ति की आत्मा की में उसी तुलना के बड़े रूप राज्य में न्याय को समझना सरल है। इस प्रकार प्लेटों वैयक्तिक न्याय को स्पष्ट करने के लिए सामाजिक न्याय को स्पष्ट करना आवश्यक मानता है।

1. सामाजिक न्याय – प्लेटो के अनुसार आर्थिक आवश्यकताओं के कारण किसी समाज की शुरूआत होती है, यह प्रारम्भिक समाज किसानों, पशु–पालनों, विभिन्न दस्तकारों, व्यापारियों, नाविकों आदि के संयोग से बनता है। इस समाज को अन्य ऐसे ही समाजों से अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए भीघ्र ही सैनिक वर्ग की जरूरत महसूस होती है और समाज के भासन संचालन के लिए भ्रासक वर्ग की भी आवश्यकता अनुीव होती है। इस प्रकार समाज का प्रारम्भ उत्पादक वर्ग से होता है, किन्तु इसे पूर्णता सैनिक वर्ग एवं भासक वर्ग के उदय के साथ ही प्राप्त होती है। प्लेटो इन तीनों वर्गों से निर्मित समाज को ही राज्य (नगर– राज्य) मानता हैं और उसका सामाजिक न्याय ऐसे त्रि– वर्गीय राज्य में पाया जाने वाला न्याय ही है ।

प्लेटो के अनुसार सभी प्रकार के राज्यों में सामाजिक न्याय पाया जाता है, किन्तु इन विभिन्न राज्यों में सामाजिक न्याय की मात्रा विभिन्न हो सकती है। जिस राज्य में सामाजिक न्याय जितना अधिक पाया जाता है, वह राज्य उसी मात्रा में अधिक अच्छा राज्य होता है। प्लेटो के अनुसार सामाजिक न्याय की मात्रा और उत्तम राजय समानुपाती है। जब किसी राज्य में सामाजिक न्याय अपने पूर्ण रूप में पाया जाता है, तो वह सर्वोत्तम राज्य होता है। प्लेटो पूर्ण सामाजिक न्याय वाले ऐसे राज्य को ही अपना आदर्श राज्य बताता है और उसने ऐसे आदर्श राज्य के संदर्भ में ही अपने सामाजिक न्याय की व्याख्या प्रस्तुत की है ।

प्लेटो ने सामाजिक न्याय का आधार स्वयं मानव आत्मा की प्रकृति को माना है। उसका मत है कि मानव–आत्मा में अग्रलिखित तीन मूल प्रवृत्तियाँ पायी जाती है– वासना, साहस तथा विवेक (त्मेंवद) द्य क्योंकि राज्य मानव–आत्मा का ही बड़ा रूप है, अतः मानव आत्मा की ये तीनों प्रवृत्तियाँ भी राज्य में तीन वर्गों के रूप प्रकट होती हैं। जिन व्यक्तियों की आत्मा में अन्य प्रव त्तियों की तुला में वासना की प्रवृत्ति अधिक मात्रा में पायी जाती है, वे राज्य में उत्पादक वर्ग का निर्माण करते हैं । किन्तु जिन व्यक्तियों की आत्मा में साहस अथवा विवेक की प्रवृत्ति अधिक प्रबल होती है, वे क्रमशरू सैनिक वर्ग अथवा भ्रासक वर्ग के सदस्य बन जाते हैं। इस प्रकार एक आदर्श श्राज्य में उपरोक्त तीनों वर्गों का निर्माण इन वर्गों के सदस्यों की आत्मा की प्रधान प्रवृत्ति के द्वारा होता है।

प्लेटो के अनुसार सामाजिक न्याय का अर्थ यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ग से सम्बन्धि त कार्य को ही करे और अन्य वर्गो के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करे। व्यक्ति के कार्य के बारे में प्लेटो की यह मान्यता उसके इस तर्क पर आधारित है कि एक व्यक्ति को केवल एक कार्य करना चाहिए और यह कार्य वह होना चाहिए जो उसकी प्रकृति के सर्वाधिक अनुरूप है।

ग्रात्सियान्स्की आदि के अनुसार, ष्न्याय यह है कि हर अंश (व्यक्ति) दूसरे अंश के मामलों में हस्तक्षेप किये बिना अपना कार्य सम्पन्न करता रहे। प्लेटो इसके अतिरिक्त समग्र के नाम पर इन अंशों के बीच आवश्यक श्रेणीगत (वर्गीय) सह सम्बन्ध बने रहने को भी न्याय के लिए आवश्यक बतात हैं । प्लेटो के अनुसार भ्रासक वर्ग भासन सम्बन्धी कार्य करेगा और सैनिक वर्ग इसके नियंत्रण में रहकर राज्य की सशस्त्र रक्षा तथा इन दोनों ही वर्गों के अनुशासन में रहकर उत्पादक वर्ग समस्त आर्थिक कार्य करेगा। प्लेटो का मत है कि सामाजिक न्याय के द्वारा राज्य आत्म–निर्भर बनेगा और प्रत्येक की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होगी। जब प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्गीय कार्य को पूर्ण कुशलता से करेगा और दूसरे

वर्ग के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेगा तो तीनों वर्गों में उचित सामंजस्य होगा और राज्य को एकता व स्थायित्व प्राप्त होगा। प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में श्रम विभाज, कार्य–शविशिष्टीकरण तथा अहस्तक्षेप के उप सिद्धान्त निहित हैं। सेबाइन ने प्लेटो के न्याय सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा है, ष्न्याय समाज को एकता प्रदान करने वाला सूत्र है, यह उन व्यक्तियों के बीच तालमेल स्थापित करने का साधन है, जिसमें से प्रत्येक ने अ पनी प्रकृति तथा प्रशिक्षण (शिक्षा) के अनुसार अपना कार्य (कर्तव्य) चुन लिया है। यह व्यक्तित एंव सामाजिक दोनों ही प्रकार का सदगुण है, क्योंकि इसके द्वारा राज्य तथा इसके सदस्यों को परम कल्याण की प्राप्ति होती है । क्वायर का कथन है, ष्प्रत्येक नागरिक को उसके अनुकूल भूमिका और कार्य देना ही न्याय है ।

2. व्यक्तिगत न्याय

प्लेटो के अनुसार वैयक्तिक न्याय का आधार भी वही है जो सामाजिक न्याय का है। मानव आत्मा की तीन प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं– वासना, साहस तथा विवेक, जब आत्मा के वासना व साहस के तत्व (प्रवृत्तियाँ) विवेक के नियंत्रण एवं अनुशासन में कार्य करते हैं तब व्यक्ति को न्यायी कहा जाता है। इस स्थिति में आत्मा के तीनों तत्व अपना अपना कार्य करते हैं और उनमें परस्पर सहयोग, एकता, सामंजस्य एवं सन्तुलन पाया जाता है। मानव आत्मा की ऐसी अवस्था प्राप्त करने पर ही व्यक्ति न्यायी कहलाता है और ऐसे न्यायी व्यक्ति को ही आत्म सन्तोष, प्रसन्नता व सुख प्राप्त होता है। ऐसा न्यायी व्यक्ति अपनी की प्रधान प्रवत्ति (तत्व) के अनुसार ही अपने कार्य (सामाजिक कर्तव्य) को चुनता है और उसे पूर्ण निष्ठा से करता है। वैयक्तिक न्याय ही वह गुण है जो व्यक्ति को सामाजिक बनाता है और उसे सुखी भी रखता है ।

प्लेटो के न्याय सिद्धान्त की विशेषताएँ

(1) अपनी प्रकृति से नैतिक सिद्धान्त – वर्तमान काल में न्याय (श्रनेजपबम) को एक कानूनी अवधारणा के रूप में स्वीकारा जाता है, किन्तु प्लेटो ने न्याय को एक नैतिक अवधारणा के रूप में स्वीकारा है। फोस्टर के अनुसार, ष्प्लेटो के लिए न्याय का अर्थ वह है जिसे हम नैतिकता कहते हैं ।ष यह उल्लेखनीय है कि प्लेटो ने तत्कालीन यूनान में प्रचलित विभिन्न न्याय–सिद्धान्तों की आलोचना इसी आधार पर की थी कि उनमें नैतिकता व सदगुण का अभाव था ओर इनका विरोध करते हुये उसने स्वयं नैतिकता पर आधारित न्याय सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। प्लेटो के अनुसार, नागरिकों में कर्तव्य– भावना ही राज्य का न्याय–सिद्धान्त है ।

(2) न्याय आन्तरिक व समन्वयकारी तत्व है – प्लेटो ने न्याय को मानव आत्मा का ऐसा आन्तरिक तत्व माना है जो आत्मा के तीनों तत्वों में उचित समन्वय स्थापित करता है। राज्य मानव आत्मा का ही बड़ा रूप है और यहाँ भी न्याय एक ऐसा आन्तरिक तत्व है जो राज्य के तीनों प्रमुख वर्गों के बीच उचित समन्वय स्थापित करता है। यद्यपि राज्य के इन तीनों वर्गों के कार्य एवं गुण परस्पर भिन्न हैं, किन्तु न्याय की धारणा इन वर्गों में परस्पर सहयोग एवं एकता स्थापित करत है

न्याय एवं आदर्श राज्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है – प्लेटो के अनुसार एक आदर्श राज्य व्यवस्था की स्थापना के लिए न्याय परम आवश्यक तत्व है। वेपर के अनुसार, ष्उचित नेतत्व उचित सुरक्षा तथा उचित पोषण आदर्श राजय के अपरिहार्य तत्व हैं।ष आदर्श राजय में नागरिकों के बीच भासन, सुरक्षा तथा उत्पादन की दृष्टि से ऐसा कठोर व सुनिश्चित श्रम विभाजन आवश्यक है, जो राज्य को आत्म निर्भरता, एकता व स्थायित्व प्रदान करे। यह कार्य केवल न्याय की स्थापना द्वारा ही किया जा सकता हैं।

(4) न्याय के सिद्धान्त में श्रम विभाजन, अहस्तक्षेप व कार्य विशिष्टीकरण के उप–सिद्धानत निहित हैं – प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में यह विचार निहित है कि प्रत्येक नागरिक केवल उस कार्य को ही करेगा जो उसकी आत्मा की प्रधान प्रवत्ति के अनुरूप होगा। उसका मत

है कि नागरिकों को उनकी आत्मा की प्रधान प्रव त्ति के अनुसार भाासक वर्ग, सैनिक वर्ग तथा उतपादक वर्ग में विभाजित किया जाना चाहिए और प्रत्येक नागरिक को केवल अपने वर्ग से सम्बन्धित कार्य को ही करना चाहिए। इस प्रकार की कार्य–व्यवस्था को ही श्रम–विभाजन उप–सिद्धानत कहा जाता है। कार्ल्स मार्क्स के अनुसार, ष्लेटो के णराज्य में श्रम विभाजन राज्य के गठन का मूलभूत तत्व है ।ष

श्रम विभाजन का सिद्धान्त इस विचार पर आधारित है कि प्रत्येक नागरिक अपने वर्ग से सम्बन्धित कार्यों तक ही स्वयं को सीमित रखेगा, अर्थात अन्य वर्गों से सम्बन्धित नागरिकों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा ! यही अ–हस्तक्षेप का उप–सिद्धान्त है ।

यह सुनिश्चित है कि जब प्रत्येक नागरिक उपरोक्त प्रकार से कार्य करेगा, तो वह अपने वर्ग से सम्बन्धित कार्य को करने में विशेष योग्यता एवं क्षमता भी प्राप्त कर लेगा । वस्तुतः यही कार्य–विशिष्टीकरण का उप – सिद्धान्त है। अपनी मूल प्रव त्ति के अनुरूप कार्य के निरन्तर अभ्यास से एक नागरिक को उस कार्य में विशिष्टता प्राप्त होती है ।

(5) समष्टिवादी सिद्धान्त– प्लेटो का न्याय–सिद्धान्त व्यक्ति के स्थान पर समाज (राज्य) के महत्व को स्थापित करता है, अतः इसे अपनी प्रकृति से समष्टिवादी सिद्धान्त कहा जाता है। प्लेटो की न्याय व्यवस्था में व्यक्ति का नहीं, अपितु उसके वर्ग का महत्व है। यद्यपि प्लेटो विभिन्न हितों वाले तीन वर्गों की स्थापना करता है, किन्तु वह न्याय सिद्धान्त द्वारा इन वर्गों में ऐसा अन्तरिक ताल–मेल स्थापित करता है जिसके परिणामस्वरूप राज्य को एकता प्राप्त होती है, अनेकता नहीं। प्लेटो राज्य को एक सावयव (शरीर) मानता है और उसका न्याय सिद्धान्त राज्य में सावयवी एकता प्राप्त करने का साधन है । इस स्थिति में व्यक्ति साधन बन जाता है और राज्य साध्य ।

(6) दार्शनिक भाासक वर्ग का केन्द्रीय स्थान है प्लेटो की न्याय व्यवस्था में ऐसे भासक वर्ग का आधारभूत महत्व है, जो अपनी प्रकृति से ही दार्शनिक है। व्यवहार में राज्य में न्याय . की स्थापना का काम यही दार्शनिक भाासक वर्ग करता है। प्लेटो का दार्शनिक भाासक वर्ग विवेक एवं सदगुण का मूर्तरूप है और इसलिए वह कानून के नियंत्रण से मुक्त हैं। उसका प्रमुख कर्तव्य है सार्वजनिक हित में सैनिक वर्ग एवं उत्पादक वर्ग का पूर्ण नियंत्रण करना । दार्शनिक भाासक वर्ग ही राज्य के विभिन्न वर्गों में सामंजस्य एवं सन्तुलन स्थापित करता है और राज्य को सावयवी एकता प्रदान करता है। किन्तु प्लेटो का दर्शनिक भाासक वर्ग न तो स्वेच्छाचारी हो सकता है और न अत्याचारी ही । ग्रात्सियान्सकी आदि के अनुसार प्लेटो की न्याय व्यवस्था में श्राज्य दार्शनिकों के लिए नहीं होता, अपितु दार्शनिक, राज्य के लिए होते हैं।श

(7) न्याय सिद्धान्त के सहायक व अनिवार्य साधन – प्लेटो ने राजय में न्याय को लागू करने तथा उसे बनाये रखने के लिए दो सहायक एवं अनिवार्य साधन स्वीकारें हैं– शिक्षा तथा साम्यवाद। प्लेटो का मत है कि अन्याय का आधार अज्ञान होता है। अज्ञान एक मानसिक रोग है और इसका एकमात्र इलाज उचित शिक्षा है। शिक्षा ही व्यक्ति में ऐसा सद्गुण उत्पन्न करती हैं जो उसे न्यायी बनाता है और राज्य में न्याय की स्थापना सम्भव होती है । ......

प्लेटो बताता है कि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हो सकती हैं जो शिक्षा (ज्ञान) द्वारा स्थापित न्याय व्यवस्था के पतन में सहायक हों। वह अनुमान लगाता है कि सैनिक वर्ग व भाासक वर्ग धन व परिवार के मोह में उलझकर अपने कर्तव्यों की उपेक्षा कर सकते हैं। अतः वह राज्य में न्याय के स्थायित्व के लिए इन दोनों वर्गों के लिए सम्पत्ति व परिवार के साम्यवाद की प्रणाली को लागू करता है। प्रकार प्लेटो ने जहाँ न्याय की स्थापना के लिए शिक्षा को एक सकारात्मक साधन के रूप में स्वीकारा हैं, वहाँ ही साम्यवाद को एक ऐसे नकारात्मक साधन के रूप में स्वीकारा है, जो राज्य में न्याय के पतन को रोकने के लिए अनिवार्य साधन हैं।

(8) न्याय के दो प्रकार हैं– प्लेटो ने न्याय के दो प्रकार स्वीकारें हैं– वैयक्तिक न्याय तथा सामाजिक न्याय । मूलतः न्याय का निवास मानव आत्मा में होता है और क्योंकि राज्य मानव आत्मा का ही बड़ा रूप है, अतः न्याय का निवास राज्य में भी होता है, जिसे प्लेटो सामाजिक न्याय कहता है। इन दोनों ही प्रकार के न्यायों में आधारभूत समानता है। जहाँ वैयक्तिक न्याय द्वारा आत्मा की तीनों प्रवृत्तियों में ताल––ममेल व सन्तुलन स्थापित होता है तथा व्यक्तिगत में एकता स्थापित होती है, वहाँ ही सामाजिक न्याय द्वारा राज्य के तीनों वर्गों में भी ताल–मेल व सन्तुलन स्थापित होता है और राज्य को एकता प्राप्त होती है।

प्लेटो के न्याय–सिद्धान्त की आलोचना (ब्तपजपबपेउ व च्संजवश्े जैमवतल व श्रिनेजपबम)

(1) यह मात्र नैतिक सिद्धान्त है – प्लेटो के न्याय सिद्धान्त का प्रमुख दोष यह है कि यह अपनी प्रकृति से मात्र एक नैतिक सिद्धान्त है, जबकि आधुनिक युग में न्याय को मूलतः एक कानूनी धारणा के रूप में स्वीकारा जाता है। उसके न्याय सिद्धान्त का अर्थ है कि वविक द्वारा साहस व वासना का नियंत्रण, अथवव भ्ाासक वर्ग द्वारा सैनिक वर्ग व उत्पादक वर्ग का नियंत्रण । इस नियंत्रण की प्रक्रिया का आधार कोई कानूनी व्यवस्था नहीं है, अपितु यह नैतिक विचार है कि श्रेष्ठ गुण द्वारा निम्न गुणों का नियंत्रण किया जाना चाहिए। प्लेटो का न्याय सिद्धान्त नागरिकों के वर्गीय कर्तव्यों पर अत्यधिक बल देता है, किन्तु उनके अध्ि ाकारों का उल्लेख तक नहीं करता है। इससे भी यही प्रकट होता है कि प्लेटों का न्याय सिद्धान्त मात्र नैतिक प्रकृति का है, जिसमें कानूनी पक्ष की पूर्ण उपेक्षा की गयी है। अतः बार्कर जैसे विद्वानों ने तो इसे न्याय सिद्धान्त ही नहीं माना है। बार्कर के अनुसार, ष्प्लेटो का न्याय सिद्धान्त वास्तव में न्याय नहीं है, यह मनुष्यों को केवल अपने कर्तव्यों तक सीमित रखने वाली भावना मात्र है, कोई ठोस कानून नहीं ।ष अतः यह एक अपूर्ण सिद्धान्त है।.

(2) यह व्यक्ति की स्वतंत्रता के विरुद्ध हैं यह न्याय सिद्धान्त व्यक्ति के केवल कर्तव्यों पर बल देता है और उसके अधिकारों की पूर्ण उपेक्षा करता है, अतः यह न्याय सिद्धान्त व्यक्ति की स्वतंत्रता का भी अन्त कर देता है। इस दृष्टि से अग्रलिखित तथ्यों का विशेष महत्व है– (प) व्यक्ति को यह अधिकार भी है कि वह अपने लिए वर्ग का चुनाव करे, वास्तव में राज्य द्वारा ही यह निर्णय किया जाता है कि कौन व्यक्ति किस वर्ग का सदस्य बनाया जायेगा। (पप) व्यक्ति को यह . अधि कार प्राप्त नहीं है कि अपने गुणों का विकास करके निर्मन वर्ग से उच्च वर्ग में प्रवेश प्राप्त कर ले। राज्य द्वारा एक बार जिस व्यक्ति का जो भी वर्ग तय करें दिया जाता है, वह जीवन भर उससी वर्ग का सदस्य बने रहने के लिए मजबूर होता है। (पपप) इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य साध्य है और व्यक्ति साधन मात्र है, अतः यह सिद्धान्त राज्य को सर्वाधिकारी बनाता है और व्यक्ति की स्वतंत्रता का अन्त कर देता है।

(3) प्रजातंत्र में व्यक्ति की प्रजातंत्र विरोधी, अभिजाततंत्र समर्थक सिद्धान्त समानता को स्वीकारा जाता है, किन्तु प्लेटो का न्याय सिद्धान्त वर्गीय आधार पर व्यक्तियों के बीच असमानता की स्थापना करता है । प्रजातंत्र में व्यक्ति को अधिकार व स्वतंत्रता प्राप्त होती है, व्यक्ति को साध्य व राज्य को साधन माना जाता है, किन्तु यह न्याय सिद्धान्त इससे ठीक उल्टी मान्यताओं में विश्वास रखता है। अतः यह कहना उचित है कि यह न्याय सिद्धान्त प्रजातंत्र का विरोधी है। वस्तुतः यह एक ऐसे राज्य की स्थापना करता है जो मूलतः अभिजाततंत्रीय है। इस अभिजाततंत्र (कुलीनतंत्र) का आधार धन अथवा जन्म नहीं है, अपितु ज्ञान (आत्मा के गुण) हैं। ग्रात्सियान्सकी के अनुसार, ष्उदात्तचेता और सर्वोत्तमों द्वारा भ्ाासित प्लेटों के आदर्श राज्य का ढांचा अभिजाततांत्रिक ढांचा है। प्लेटो की न्याय व्यवस्था ने केलव भ्ाासक वर्ग तथा सैनिक वर्ग की ही राजनीतिक अधि कार प्रदान किये हैं और उत्पादक वर्ग (जन साधारण) को महत्वहीन बना दिया है। वस्तुतः प्लेटो इस तीसरे वर्ग के लोगों के उच्च वर्ग में प्रवेश का घोर विरोधी है और इसे राज्य का विनाश करने वाला मानता है।

(4) व्यक्तित्व का अपूर्ण विकास होता है – व्यक्ति के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास के लिए जरूरी है कि व्यक्ति को अपनी समस्त योग्यताओं को विकसित करने का अवसर मिले, अर्थात व्यक्ति को अपनी आत्मा के तीनों गुणों का विकास करने का मौका मिलना चाहिए। किन्तु प्लेटो का न्याय सिद्धानत एक व्यक्ति को उसकी आत्मा के केवल प्रधान गुण को विकसित करने का मौका देता है और उसके अन्य दो गुणों की पूर्ण उपेक्षा करता है। इस प्रकार यह न्याय सिद्धान्त व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के मात्र एक–तिहाई अंश को ही विकसित होने देता है। इससे मात्र व्यक्ति ही नहीं, सम्पूर्ण समाज की भी हानि होती है। एक तिहाई व्यक्तित्व वाले व्यक्तियों से बना समाज भी स्वयं में पूर्ण विकसित समाज नही हो सकता ।

(5) अमनोवैज्ञानिक एंव अव्यावहारिक सिद्धान्त – प्लेटों का न्याय सिद्धान्त मूलतः मानव मनोविज्ञान के प्रतिकूल है और इसलिए यह वास्तविक जगत में एक अव्यावहारिक सिद्धानत भी माना जाता है। उसका यह विचार असत्य है कि एक व्यक्ति अपने सम्पूर्ण जीवन में आत्मा के किसी एक गुण के आधीन ही रहता है। वास्तविकता यह है कि एक ही व्यक्ति आयु, अनुभव, आवश्यकता तथा परिस्थितियों के अनुसार कभी वासना, कभी साहस तथा कभी विवेक के अधिक प्रभाव में रहकर कार्य करत है । इस न्याय–सिद्धान्त ने भासक वर्ग तथा सैनिक वर्ग के लिए जिस साम्यवादी प्रणाली का प्रतिपादन किया है, वह भी स्त्री–पुरुषों के मनोविज्ञान के एकदम विपरीत है। कोई भी व्यक्ति सम्पत्ति एवं परिवार के सुखों से वंचित रहकर अपने सामाजिक कार्यों की पूर्ति में रूचि नहीं रख पायेगा । मनोविज्ञान की दृष्टि से इस न्याय सिद्धानत का आधारभूत दोष यह है कि यह सामाजिक जीवन में पायी जाने वाली व्यक्तियों की इच्छाओं एंव आकांक्षाओं के पारस्परिक संघर्ष को स्वीकार नहीं करता है। यह सिद्धान्त एक प्रकार की यान्त्रिक जीवन पद्धति में विश्वास करता है, जो मानव मनोविज्ञान के विरुद्ध है। सेबाइन के अनुसार, ष्लेटो की न्याय की ध ारणा अत्यधिक जड़, आत्म–परक, निष्क्रिय, अ–मनोवैज्ञानिक तथा अ–व्यावहारिक है ।ष मनोवैज्ञानिक की दृष्टि से यह अनावश्यक सिद्धान्त भी है। यदि वास्तव में व्यक्ति अपनी आत्मा के किसी एक प्रधान गुण से ही संचालित होता है और इसी के अनुकरण से उसे सुख एवं सन्तोष प्राप्त होता है तो इस बात की कोई जरूरत नहीं होनी चाहिए कि राज्य यह तय करे कि उसे किस कार्य अथवा वर्ग को अपनाना चाहिए । व्यक्ति स्वयं ही इस सम्बन्ध में निर्णय ले सकता है।

(6) विरोधाभासी सिद्धान्त – प्लेटो के न्याय सिद्धान्त में आधारभूत विरोधाभास है, अतः इसके द्वारा उन उद्देश्यों की प्राप्ति ही सम्भव हनी है, जिनके लिए इसकी स्थापना की जाती है। प्रथम प्लेटो अपने न्याय सिद्धान्त द्वारा राज्य में पूर्ण एकता की स्थापना चाहता है, किन्तु आलोचकों का मत है कि इस सिद्धान्त में निहित दोषों के कारण यह राज्य की एकता को ही नष्ट कर सकता है । इस सिद्धान्त द्वारा स्थापित तीनों वर्गों के हित परस्पर विरोधी है। यदि प्रत्येक नागरिक केवल अपने वर्ग से सम्बन्धित कार्यों को ही करेगा तो उसके सोचने का तरीका भी केवल वर्गीय हित तक ही सीमित हो जायेगा। इस स्थिति में हितों की दृ ष्टि से श्एक राज्य में तीन राज्य स्थापित हो जायेंगे और राज्य की एकता को खतरा उत्पन्न हो जायेगा। द्वितीय, प्लेटो इस तथ्य को स्वीकारता है कि स्वर्ण (शासक वर्ग) से रजत (सैनिक वर्ग) अथव लौह (उत्पादक वर्ग) के गुण वाली सन्तान उत्पन्न हो सकती हैं। वह यह भी मानता है कि सन्तान के वर्ग का निर्धारण उसके माँ–बाप के वर्ग के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए, अपितु स्वयं सन्तान के गुण के अनुसार ही उसके वर्ग को तय किया जाना चाहिए। किन्तु व्यवहार में वह यह हनीं बताता है कि यह कार्य किस प्रकार किया जायेगा द्य अतः इस बात की सम्भावना बनी रहती है कि निम्न वर्ग की उच्च गुण वाली सन्तान को उच्च वर्ग प्राप्त ही नहीं हो तथा इसी प्रकार उच्च वर्ग की हीनगुण वाली सन्तान को निम्न वर्ग मे नहीं भेजा जाये। किन्तु इस स्थिति में समाज की सम्पूर्ण व्यवस्था गुण के स्थान पर जन्म पर आधरित हो जायेगी और प्लेटो के सम्पूर्ण न्याय–सिद्धानत

को ही नष्ट कर देगी।

(7) दार्शनिक वर्ग सत्ता का दुरूपयोग कर सकता है – एक ओर तो प्लेटो ने इस सिद्धान्त को स्वीकारा है कि प्रत्येक वर्ग केवल अपने से सम्बन्धित कार्य को ही करेगा और दूसरे वर्ग के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा, किन्तु दूसरी ओर वह यह भी मानता है कि दार्शनिक भासक वर्ग द्वारा अन्य दोनों वर्गों का नियंत्रण किया जायेगा। इससे भासक वर्ग के हाथों में सम्पूर्ण राजनीतिक सत्ता का केन्द्रीयकरण हो गया है। प्लेटो का तर्क यह है कि यह वर्ग विवेक के अनुसार भासने का संचालन करेगा और सत्ता का दुरूपयोग नहीं करेगा। अतः वह भासक वर्ग की भाक्ति को कानूनी अथवा अन्य परम्परागत नियंत्रणों से मुक्त रखता है। किन्तु अनुभव बताता है कि जब भी समाज की सम्पूर्ण राजनीतिक भाक्ति किसी एक व्यक्ति अथवा वर्ग में केन्द्रित हो जाती है, तो वह व्यक्ति अथवा वर्ग उस भाविता का मनमाना एवं निरंकुश प्रयोग अवश्य ही करता है। इस प्रकार इस बात की पूर्ण सम्भावना रहती है कि भाक्ति पर एकाधिकार की स्थिति प्लेटो के विवेकी भासकों को भी भ्रष्ट कर सकती है। मानव इतिहास लॉर्ड एक्टन के इस कथन को उचित ठहराता है कि सत्ता भ्रष्ट करती है और पूर्ण सत्ता पूर्ण रूप से भ्रष्ट करती है।

(8) अवैज्ञानिक पद्धति पर आधारित सिद्धान्त – प्लेटों का न्याय सिद्धान्त वैज्ञानिक पद्धति (आगनात्मक पद्धति) पर आधारित नहीं है अपितु उसने इस सिद्धान्त का निर्माण अपनी दार्शनिक पद्धति (निगमनात्मक पद्धति) के आधार पर किया है, जो मूलतः एक अवैज्ञानिक पद्धति है। इस पद्धति द्वारा निकाले गये निष्कर्ष मात्र आदर्शात्मक होते हैं, यथार्थवादी नहीं। अतः व्यवहार में प्लटों का न्याय सिद्धान्त भी अवैज्ञानिक, अयथार्थवादी एवं अव्यावहारिक दीख पड़ता है।

(9) आधुनिक यु के अनुरूप नहीं है अग्रलिखित कारणों से प्लेटो के न्याय सिद्धान्त को आधुनिक युग के अनुरूप नहीं माना जाता है– (1) आधुनिक युग में न्याय को एक कानूनी अवध रणा के रूप में स्वीकारा जाता है, किन्तु प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धान्त में कानूनी पक्ष की पूर्ण उपेक्षा की है। (2) प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य की सम्पूर्ण जनसंख्या को मात्र तीन वर्गों में विभाजित किया है किन्तु आधुनिक राजयों की समस्त जनसंख्या को मान तीन वर्गों में बांटकर भासन एवं न्याय की स्थापना सम्भव नहीं है। (3) आधुनिक राज्यों का प्रमुख लक्षण सम्प्रभुता व संविध नवाद है। इसके आधार पर ही किसी आधुनिक राज्य की न्याय पालिका न्याय का कार्य करती हैं, किन्तु प्लेटो ने अपने न्याय–सिद्धानत में सम्प्रभुता एंव संविधानवाद का उल्लेख ही नहीं किया है।

लेटो के न्याय–सिद्धान्त का महत्व

प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धान्त द्वारा तत्कालीन एथेन्स के राजनीतिक जीवन के तीन प्रमुख दोषों को समाप्त करने की कोशिश की है। प्रथम, भासन–कार्य की वास्तविक समझ के बिना ही जन साधारण भासन कार्य में भाग लेता था। प्लेटो ने इस दोष की समाप्ति के लिए इस तथ्य पर बल दिया है कि भासन को भासन कार्य का विशेषज्ञ होना चाहिए, द्वितीय, सभी व्यक्ति स्वार्थ सिद्धि के लिए राजनीत में भाग लेते थे। प्लेटो ने इस दोष की समाप्ति के लिए न्याय सिद्धान्त द्वारा कर्तव्यों की व्यवस्था पर बल दिया है। तृतीय, धनिक व निध र्नि वर्ग के नागरिकों के आपसी संघर्ष के कारण राज्य की एकता को सदैव खतरा बना रहता था। प्लेटो ने न्याय–सिद्धान्त द्वारा राज्य की एकता को मजबूत बनाने का प्रयत्न किया है।

राजनीति दर्शन के इतिहास में प्लेटो के न्याय सिद्धानत का अग्रलिखित महत्व स्वीकारा जाता है – (1) प्लटो का न्याय सिद्धान्त राजनीति में नैतिकता के तहत्व को प्रकट करता है। यह सिद्धान्त एक अच्छे व्यक्तिश तथा एक अच्छे नागरिक में भेद नहीं करता है (2) यह सिद्धान्त राज्य को सावयवी एकता प्रदान करता है और इस प्रकार व्यक्ति व समाज के हितों में एकता स्थापित करता है, (3) यह सिद्धान्त व्यक्ति व समाज की समस्याओं का मूल

कारण अज्ञान को मानता है और उनके निवारण के लिए सुव्यवस्थित शिक्षा प्रणाली के महत्व को प्रतिपादित करना है (4) यह सिद्धान्त सार्वजनिक जीवन में पतन का मुख्य कारण राजनीतिक सत्ता व आर्थिक सत्ता के एक ही हाथों में केन्द्रीयकरण को मानता है और इस दृष्टि से इन दोनों सत्ताओं के प थक्करण के लिए साम्यवाद की व्यवस्था को प्रस्तुत करता
है तथा (अ) प्लेटो ने अपने न्याय सिद्धान्त के एक अभिन्न अंग के रूप .में एक आदर्श राज्य व्यवस्था का चित्र प्रस्तुत किया है। उसके बाद के अनेक कल्पनावादी तथा आदर्शवादी विचारकों ने प्लेटो की इस आदर्श राज्य–व्यवस्था से पर्याप्त प्रेरणा प्राप्त की है। प्लेटो एंव

आधुनिक न्याय अवधारणाओं में अन्तर

प्लेटो की न्याय अवधारणा तथा आधुनिक युग की न्याय की अवधारणा में आधारभूत अन्तर है । इस अन्तर को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है––

(1) नैतिकता व कानून सम्बन्धी अन्तर . प्लेटो के न्याय की अवधारणा का मूल आध र नैतिकता है और वह इसके द्वारा व्यक्ति की आन्तरिक प्रवृत्ति को सुधारकर उसके बाह्य आचरण को सुधारना चाहता है। किन्तु आधुनिक न्याय – अवधारणा का आधार भूत है और यह व्यक्ति के केवल बाह्य आचरा से सम्बन्ध रखता हैं।

(2) नैतिक भाक्ति व बाध्यकारी भौतिक भाक्ति का अन्तर – प्लेटो का न्याय सिद्धान्त व्यक्ति की नैतिक भाक्ति में विश्वास रखता है, इसका मूल आधार व्यक्ति का विवेक है । किन्तु आधुनिक न्याय सिद्धान्त भौतिक भाक्ति पर आधारति है, जो बाध्यकारी होती है। आधुनिक न्याय अवध धारणा का आधार राज्य की सम्प्रभुत्वं भाक्ति है, जिसका प्लेटो ने अपनी न्याय की अवधारणा में उल्लेख नहीं किया है ।

(3) कर्तव्य एंव अधिकार का अन्तर – प्लेटो की न्याय अवधारणा व्यक्ति के कर्तव्यों एंव दायित्वों पर बल देती है और इसके व्यक्तिगत अधिकारों की उपेक्षा करती है, किन्तु आधुनिक युग की न्याय अवधारणा व्यक्ति के कर्तव्यों और दायित्वों के साथ ही उसके मौलिक अधिकारों को भी मान्यता देती है।

(4) वर्ग एवं व्यक्ति की दृष्टि से अन्तर – प्लेटो की न्याय की अवधारणा व्यक्ति की तुलना में उसके वर्ग को महत्व देती है। यह न्याय की दृष्टि से तीनों वर्गों के व्यक्तियों में अन्तर करती है और उनके बीच असमानता स्थापित करती है। किन्तु आधुनिक न्याय की अवध ाारणा वर्ग की तुलना में व्यक्ति को महत्व देती है, यह न्याय की दृष्टि से विभिन्न वर्ग के व्यक्तियों में अन्तर स्वीकार नहीं करती है और सभी व्यक्तियों को परस्पर समान मानती है।

(5) राज्य–व्यवस्था की दृष्टि से अन्तर – प्लेटो की न्याय अवधारणा राज्य की सावयव एकता पर बल देकर एक ऐसी राज्य व्यवस्था की स्थापना करती है जिसमें श्राज्य एक साध्‍य और व्यक्ति एक साधन बन जाता है। किन्तु आधुनिक न्याय की अवधारणा व्यक्ति के मौलिक अधिकारों को मान्यता देती है और इस दृष्टि से राज्य की भाक्ति को नियंत्रित करती है। वस्तुतः आधुनिक न्याय की अवधारणा व्यक्ति को साध्य और राज्य को साधन मानती है। इस प्रकार प्लेटो की अवधारणा जहां एक सम्रतावादी राज्य व्यवस्था की स्थापना करती है, वहाँ ही आधुनिक न्याय की अवधारणा एक प्रजातांत्रिक राज्य व्यवस्था कीस्थापना करती है।

प्लेटो की आदर्श राज्य व्यवस्था

प्लेटो की क ति रिपब्लिक की मुख्य विषय–वस्तु श्आदर्श नगर–राज्य व्यवस्थाश है। वस्तुतः उनके ग्रन्थ रिपब्लिक का मूल यूनानी भीर्षक पौलितेइया (च्वसपजमपं) है, जिसका हिन्दी में उचित अनुवाद है आदर्श नगर– राज्य व्यवस्था। उसके आदर्श की धारणा का मूल आधर तत्कालीन यूनानी नगर राज्यों की दुःखद सामाजिक, आर्थिक एवं राजीनतिक स्थितियाँ थीं। प्लेटो के समय के यूनान में बौद्धिक अराजकता थी, भाासक वर्ग स्वार्थी था और नागरिक विरोधी गुटों में विभाजित थे और परस्पर संघर्षरत थे। प्लेटो ने श्आदर्श राज्य के रूप में ऐसे श्रेष्ठ राज्य का चित्र प्रस्तुत किया है जो उपरोक्त दोषों से रहित हो और

व्यक्ति व समाज दोनों के ही हितों की रक्षा एवं समृद्धि में समर्थ हो । किन्तु इस आदर्श राज्य की कल्पना को प्रस्तुत करने में प्लेटो का दृष्टिकोण एक ऐसे चित्रकार जैसा है जो किसी चित्र को मूल्यात्मक पूर्णता प्रदान करता है, फिर चाहे उस चित्र का वास्तविकता से सम्बन्ध हो, अथवा नहीं। प्लेटो ने भी अपने आदर्श राज्य के विचार को मूल्यात्मक. पूर्णता के साथ प्रस्तुत किया है और उसका संसार में मौजूद यथार्थ राज्यों से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध ा नहीं है। स्वयं प्लेटों के अनुसार, ष्नगर (राज्य) भाब्दों से बनाया गया है, क्योंकि मेरा विचार है कि संसार में यह कहीं भी मौजूद नहीं है।ष किन्तु प्लेटो के इस आदर्श राजय के विवरण में ऐसे मानवीय मूल्य निहित हैं जिनके कारण यह सर्वादेशिक एवं सार्वजनिक एवं सार्वकालिक महत्व का हो गया है और आज भी चर्चा का विषय है।

इकाई– 20 पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा और प्लेटो के सामाजिक एवं राजनीतिक

प्लेटो के आदर्श राज्य का दार्शनिक आधार

प्लेटो एक प्रत्ययवादी राजशास्त्री है और उसकी आदर्श राज्य सम्बन्धी धारणा के प्रमुख दार्शनिक आधार निम्नलिखित है–

(1) सत्य सम्बन्धी सिद्धान्त– प्लेटो के अनुसार समस्त भौतिक पदार्थों तथा अच्छाई का निवास विचार जगत में है। उसने इस सम्पूर्ण विचार जगत के एक अंग के रूप में ही आदर्श राज्य की धारणा को प्रस्तुत किया है।

(2) न्याय की धारणा प्लेटो का मत है कि एक आदर्श राज्य की स्थापना न्याय के – सिद्धान्त पर ही की जा सकती है, इससे ही राज्य को वास्तविक एकता एवं आदर्श रूप प्राप्त हो सकता है।

(3) राज्य व्यक्ति का वृहत् रूप है – प्लेटो ने राज्य को मानव आत्मा का व हत रूप माना है। वस्तुतः यह उसकी आधारभूत मान्यता है और इसके अग्रलिखित निष्कर्ष निकलते हैं–– (1) राज्य व्यक्ति के लिए एक प्राकृतिक संस्था है, क्योंकि यह उसकी आत्मा (मस्तिष्क या चेतना) का ही विराट रूप है, (2) मानव आत्मा की तीन तत्वों से ही विकसित होकर राज्य के तीन वर्गों का निर्माण होता है, (3) मानव आत्मा एवं राज्य में आधारभूत एकता होती है. अतः दोनों के सन्दर्भ में एक ही प्रकार का न्याय सिद्धान्त लागू होता है, (4) भानव भारीर की तरह ही राज्य रूपी भारीर में भी सावयवी एकता पायी जाती है।

(4) राज्य के हित में व्यक्ति का हित निहित है – प्लेटो ने आदर्श राज्य की स्थापना के लिए राज्य की सावयवी एकता पर बल दिया है। जैसे भारीर के हित में उसके प्रत्येक अंग का हित स्वतः ही निहित होता है, वैसे ही राज्य के हित में व्यक्ति का हित पाया जाता है।

(5) अन्य मान्यताएँ

1 आदर्श राज्य की स्थापना के लिए शिक्षा एक सकारात्मक साधन है।

2 आदर्श राजय को पतन से बचाने के लिए साम्यवाद की प्रणाली आवश्यक है, जो अपनी प्रकृति एक नकारात्मक साधन है।

3 केवल दार्शनिक भासक वर्ग के नेतृत्व में ही आदर्श राज्य की स्थापना एवं कुशल संचालन सम्भव है।.

4 प्लेटो ने आदर्श राज्य में स्त्री व पुरुषों की समानता के सिद्धान्त को स्वीकारा है।

आदर्श राज्य के उद्देश्य

आदर्श राज्य व्यवस्था के दो स्पष्ट उद्देश्य हैं– एक, नकारात्मक तथा दो, सकारात्मक । प्लेटो ने आदर्श राज्य व्यवस्था का विचार उन सभी दोषो के अन्त के लिए प्रस्तुत किया है जिनसे तत्कालीन नगर राज्य पीड़ित थे, यही आदर्श राज्य व्यवस्था का नकारात्मक उद्देश्य हैं। इसका सकारात्मक उद्देश्य है न्याय पर आधारित एक सावयवी एकता वाली ऐसी राज्य– –व्यवस्था की स्थापना करना जो राज्य एवं व्यक्ति दोनों को ही पूर्ण प्रसन्नता अर्थात पूर्णता प्रदान करे । सरल भाब्दों में प्लेटो की आदर्श राज्य व्यवस्था का उद्देश्य है भासन व भासितों के हितों में सन्तुलन स्थापित करना, समाज के विभिन्न वर्गों मे परस्पर ताल–मेल स्थापित करना, राज्य की एकता को बनाये रखना, समाज में स्त्रियों को उचित स्थान

दिलाना आदि ।

प्लेटो के आदर्श राज्य की सामान्य विशेषताएँ

प्लेटो ने आदर्श राज्य के जो दार्शनिक आधार एवं उद्देश्य स्वीकारें हैं, उन्हीं से इस आदर्श राज्य की विशेषताओं का निर्माण हुआ है। संक्षेप में, इस प्रकार की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) सावयवी एकता

प्लेटो के अनुसार राज्य मानव आत्मा का ही विराट रूप है. अतः . मानव भारीर की भांति ही राज्य का भी अपना भारीर है। भारीर (सावयव) की भांति ही राज्य में भी एक सावयवी एकता पायी जाती है। प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य में राज्य (शरीर) को अपने अंगों (व्यक्तियों) पर प्रधानता प्राप्त होती है और राजय (शरीर) अपने अंगों (व्यक्तियों) का पूर्ण नियंत्रण भी करता है। .

प्लेटो ने आदर्श राज्य में जिस सावयवी एकता पर बल दिया है उसका उद्देश्य राज्य द्वारा व्यक्ति का दमन नहीं है, अपितु वह इस सिद्धान्त द्वारा अग्रलिखित लक्ष्य प्राप्त करना चाहता है– (1) वह सिद्ध करना चाहता है कि उसके आदर्श राज्य में व्यक्ति व राज्य के हितों में परस्पर कोई विरोध 1 नहीं पाया जाता है। (2) वह वैयक्तिक नैतिकता तथा सार्वजनिक नैतिकता में किसी प्रकार का अन्तर एवं विरोध स्वीकार नहीं करता है। आदर्श राज्य में व्यक्ति के साथ ही सद व्यक्ति एवं सद नागरिक दोनों ही होता है। (3) प्लेटो इस सिद्धान्त द्वारा राजय के संगठन को सुदृढ़ एवं तर्कपूर्ण एकता प्रदान करना चाहता है, क्योंकि उसका मत है सर्वोत्तम अच्छाई पूर्ण की एकता है ।

(2) नागरिकों के तीन वर्ग– आदर्श राज्य में तीन वर्ग पाये जाते हैं– दार्शनिक वर्ग, सैनिक वर्ग तथा उत्पादक वर्ग। ये तीनों वर्ग मानव आत्मा के विवेक, साहस तथा वासना (क्षुधा) नामक तीन तत्वों का ही विकसित रूप होते हैं। प्रत्येक वर्ग अपने से सम्बन्धित किसी विशिष्ट कार्य को ही करता है। दार्शनिक वर्ग का प्रमुख गुण विवेक है और वह राज्य के भाासन सम्बन्धी कार्यों को करता है । सैनिक वर्ग का प्रमुख गुण साहस है और वह राज्य की सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों को करता है। उत्पादक वर्ग का प्रमुख गुण वासना (क्षुधा है और वह राज्य के आर्थिक कार्यों (कृषि, पशु–पालन, दस्तकारी, व्यापार आदि) को करता है। आदर्श राज्य में सर्वोच्च स्थान दार्शनिक भासक वर्ग को प्राप्त है जो अपने विवेक के अनुसार भोष दोनों वर्गों का नियंत्रण करता है। सैनिक वर्ग एक और दार्शनिक वर्ग के नियंत्रण को स्वीकार करता है और दूसरी ओर दार्शनिक वर्ग के निर्देशानुसार उत्पादक वर्ग का नियंत्रण भी करता है । उत्पादक वर्ग को किसी प्रकार के राजनीतिक अधिकार प्राप्त हनी है, किन्तु उसे निजी सम्पत्ति तथा निजी परिवार रखने का अधिकार है और यह एक ऐसा अधिकार है जिससे प्लेटो ने दार्शनिक व सेनिक वर्गों को वंचित रखा है।

प्लेटो के आदर्श राज्य की वर्ग व्यवस्था में निहित महत्वपूर्ण तथ्य अग्रलिखित हैं– (1) राज्य के इन तीनों वर्गों के कार्य एवं गुण परस्पर भिन्न हैं (2) इस भिन्नता के बावजूद ये तीनों वर्ग एक–दूसरे के अनुपूरक है, जैसाकि वेपर ने कहा है, ष्उचित नेतत्व, उचित सुरक्षा तथा उचित पोषण आदर्श राज्य के अपरिहार्य तत्व है । (3) प्लेटो की वर्ग–व्यवस्था इन तीनों वर्गों में उचित सामंजस्य एवं सहयोग उत्पन्न करती है। इससे राज्य को आत्म निर्भरता, एकता एवं स्थायित्व प्राप्त होता है ।

(3) श्रम विभाजन, अहस्तक्षेप तथा कार्य विशिष्टीकरण नागरिक को सार्वजनिक जीवन में विभिन्न कार्यों (आर्थिक, सैनिक व माासन सम्बन्धी कार्य) को करने में समर्थ माना जाता था। किन्तु प्लेटो का मत है क प्रत्येक नागरिक में विभिन्न कार्यों को करने की पूर्ण योग्यता एवं दक्षता नहीं पायी जा सकती है, अतः एसेसी व्यवस्था अन्त में राजय के पतन का कारण सिद्ध होती है। प्लेटो का निष्कर्ष है कि एक आदर्श राज्य की स्थापना तब ही हो सकती है जब प्रत्येक नागरिक केवल उस एक कार्य को करे जिसके लिए वह सर्वाधिक योय है।

आदर्श राज्य में प्रत्येक नागरिक का वर्ग उसकी आत्मा (व्यक्तित्व) के प्रधान गुण के अनुसार तय किया जाता है, अतः प्रत्येक नागरिक के लिए यही उचित है कि वह केवल अपने वर्ग से सम्बन्धित कार्य ही करे। इस नियम में यह भाव भी छुपा हुआ है कि वह अन्य वर्गों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेगा। इस प्रकार आदर्श राज्य में नागरिकों एवं उनके वर्गों के बीच श्रम विभाजन तथा अहस्तक्षेप का कार्य सिद्धानत पाया जाता है । यह निश्चित है कि जब कोई नागरिक केवल अपने वर्ग से सम्बन्धित कार्य को ही लगातार करता रहेगा तो उसे उस कार्य में विशेष योग्यता, दक्षता एवं विशेषज्ञता प्राप्त होगी । यही प्लेटों के आदर्श राज्य में पाया जाने वाला विशिष्टीकरण का कार्य सिद्धान्त है। ये तीनों कार्य सिद्धान्त परस्पर अनुपूरक हैं और आदर्श राज्य व्यवस्था की स्थापना के मुख्य आधार हैं। सेबाइन ने इन सिद्धान्तों को श्प्लेटो की मौलिक खोजश कहा है। वस्तुतः इन कार्य सिद्धान्तों का उद्देश्य एवं महत्व वही है जो तीनों वर्गों के निर्माण का है, अर्थात आदर्श राज्य को आत्म–निर्भरता, एकता व स्थायित्व प्रदान करना ।

(4) न्याय–व्यवस्था की स्थापना – प्लेटो ने न्याय को एक नैतिक भावना एवं सदगुण रूप में स्वीकारा है ? जो नागरिक की स्वयं अपने प्रति तथा राज्य के प्रति कर्तव्यों की पूर्ति में दीख पड़ता है। प्लेटो के अनुसार, ष्नागरिकों में कर्तव्य भावना ही राज्य का न्याय–सिद्धान्त है । आदर्श राज्य में जब प्रत्येक नागरिक न्याय–सिद्धान्त के अनुसार जीवन व्यतीत करता है तो इससे उसे पूर्ण सन्तुष्टि, प्रसन्नता एंव सुख प्राप्त होता है और राज्य के तीनों वर्गों में उचित ताल–मेल व सन्तुलन स्थापित होता है। न्याय–सिद्धान्त व्यक्ति व राज्य के हितों में एकता स्थापित करता है। सेबाइन के अनुसार, ष्न्याय समाज को एकता प्रदान करने वाला सूत्र है । न्याय–– सिद्धान्त व्यक्ति व समाज के जीवन को इस प्रकार अनुशासित करता है कि सम्पूर्ण राज्य को आत्म–निर्भरता एकता एवं स्थायित्व के सदगुण प्राप्त होते हैं । वस्तुतः ये सदगुण ही किसी सांधारण राज्य को आदर्श राज्य का रूप प्रदान करते हैं।

(5) भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्वों का समन्वय प्लेटो के आदर्श राज्य के दो प्रमुख पक्ष हैं– भौतिक एवं आध्यात्मिक । उसने आदर्श राज्य में इन दोनों में समन्वय स्थापित किया है। प्लेटो ने आदर्श राज्य में तीन प्रमुख कार्यों की गणना की है– राजनीतिक प्रशासन, रक्षा–व्यवस्था तथा आर्थिक उत्पादन। इन तीन कार्यों के अनुसार ही आदर्श राज्य में तीन प्रमुख वर्ग पाये जाते हैं। यह समस्त विवरण प्लेटों के आदर्श राज्य के भौतिक पक्ष को प्रकट करता है।

प्लेटो एक प्रत्ययवादी विचारक है और वह दृष्य जगत को अवास्तविक मानता है तथा इस दृष्य जगत के प्रत्यय (विचार) को वास्तविक मानता है। उसका मत है कि राज्य का जन्म भले ही भौतिक आवश्यकताओं के कारण हुआ हो, किन्तु उसका उद्देश्य एक उत्तम जीवन प्राप्त कराना है। इस प्रकार आदर्श राज्य का उद्देश्य आध्यात्मिक व नैतिक जीवन की प्राप्ति है। प्लेटो का न्याय सिद्धान्त राज्य के भौतिक एवं आध्यात्मिक पक्ष में समन्वय स्थापित करता है। न्याय––सिद्धान्त द्वारा राज्य को भौतिक क्षेत्र में आत्म निर्भरता प्राप्त होती है और आध्यात्मिक क्षेत्र में सदगुणों की प्राप्ति होती है।

(6) राज्य द्वारा नियंत्रित शिक्षा–प्रणाली – प्लेटो का मत था कि तत्कालीन यूनानी नगर राज्यों के पतन का प्रमुख कारण अज्ञान था । नगर–राज्य अज्ञान रूपी श्बौद्धिक रोग से पीड़ित थे और उनका वास्तविक इलाज ज्ञान अर्थात शिक्षा द्वारा ही सम्भव था। प्लेटो ने आदर्श राज्य की स्थापना के लिए शिक्षा को एक सकारात्मक साधन के रूप में स्वीकारा है। और शिक्षा को राज्य द्वारा नियंत्रित एवं संचालित माना है। प्लेटो के अनुसार, ष्सामाजिक शिक्षा ही सामाजिक न्याय का साधन है।ष शिक्षा ऐसा महत्वपूर्ण साधन है जिसके द्वारा प्रत्येक नागरिक की मूल प्रवृत्ति को समझा जाता है और उसके अनुसार ही उसे आवश्यक प्रशिक्षण दिया जाता है। शिक्षा ही प्रत्येक नागरिक को कर्तव्य पालन की

प्रेरणा देती है और उसे सदगुणी बनाती है। किन्तु प्लेटो के आदर्श राज्य में शिक्षा केवल दार्शनिक व सैनिक वर्ग के लिए ही उपलबध है, उत्पादक वर्ग को इससे वंचित रखा गया है। इस प्रकार शिक्षा राज्य द्वारा नियन्त्रित व मूलतः अभिजाततंत्रीय है।

(7) साम्यवाद की व्यवस्था – प्लेटों का मत था कि नगर–राज्यों में सार्वजनिक जीवन में पारस्परिक संघर्ष एवं अस्थिरता का एक प्रमुख कारण भासकों के सम्पत्ति एवं परिवार सम्बन्धी स्वार्थ थे। अतः उसने आदर्श राज्य की स्थापना तथा उसकी एकता व स्थायित्व की रक्षा के लिए अभिभावक वर्ग (दार्शनिक वर्ग एवं सैनिक वर्ग) को निजी सम्पत्ति तथा परिवार की व्यवस्था से मुक्त रखा है, अर्थात उसने अभिभावक वर्ग के लिए साम्यवाद की व्यवस्था स्वीकारी है। यह व्यवस्था अभिभावक वर्ग के हाथों में राजनीतिक सत्ता को तो केन्द्रित होने देती है, किन्तु उन्हें आर्थिक सत्ता से वंचित कर देती है। प्लेटो का विश्वास है कि राजनीतिक व आर्थिक सत्ता का यह पृथक्करण अभिभावक वर्ग को भ्रष्ट होने से रोकेगा। वस्तुतः साम्यवाद की व्यवस्था अभिभावक वर्ग को कंचन व कामिनी के कुप्रभाव से बचाती है और इस प्रकार आदर्श राज्य–व्यवस्था के पतन को भी रोकती है। आदर्श राज्य–व्यवस्था की दृष्टि से प्लेटो की साम्यवादी व्यवस्था एक नकारात्मक साधन है ।

(8) दार्शनिक वर्ग का भासन प्लेटो के अनुसार राज्य की एकता का मूल आधार वासना अथवा साहस नहीं हो सकते हैं, विवेक का तत्व ही ऐसा है जो राज्य के विभिन्न हितों एवं वर्गों में एकता स्थापित कर सकता है। अतः प्लेटो आदर्श राज्य के भाासन का अधिकार ऐसे दार्शनिक भाासक वर्ग को सौंपता है जिसका प्रधान सदगुण ही विवेक है। आदर्श राज्य व्यवस्था में दार्शनिक वर्ग के महत्व को बताते हुए प्लेटो कहता है, ष्जब तक दार्शनिक भासक (राजा) नहीं बन जाते अथवा विश्व के राजाओं तथा युवाओं में दर्शन की भावना व भाक्ति नहीं आ जाती है. नगरों (राज्यों) की बुराइयाँ दूर नहीं हो सकती है।ष यह उल्लेखनीय है कि प्लेटो ने दर्शनिक वर्ग के ऐसे विशिष्ट लक्षण बताये हैं जो उन्हें महामानव के रूप में प्रस्तुत करते है । दार्शनिक वर्ग विवेकशली, ज्ञानी, सत्य अन्वेषी, प्रज्ञावान एवं आत्म–संयमी है, संक्षेप में, दार्शनिक वर्ग समस्त मानवीय दुर्गुणों मुक्त तथा सदगुणों से विभूषित है। उसका अपना कोई निजी हित नहीं है और वह सार्वजनिक हित के प्रति पूर्णतया समर्पित है, प्लेटो दार्शनिक वर्ग को सार्वजनिक हित का सर्वोत्तम संरक्षक मानता है । यही कारण है कि प्लेटो भाासन की सत्ता पर दार्शनिक वर्ग का एकाधिकार स्वीकार करता है और इस वर्ग पर किसी भी प्रकार के कानून अथवा जनमत के नियंत्रण की आवश्यकता अनुभव न हीं करता है। वस्तुतः तर्क की दृष्टि से दार्शनिक भाासक वर्ग पर किसी नियंत्रण की जरूरत भी नहीं है, क्योंकि वह दैवीय गुणों से सम्पन्न है।

(9) स्त्री व पुरुष को समान अधिकार – प्लेटो के युग के यूनान में स्त्रियों का जीवन घर की चारदीवारी तक सीमित था और उन्हें सार्वजनिक जीवन अथवा राजनीतिक कार्यों में भाग लेने का अधिकार नहीं था। प्लेटो ने प्राणी–जगत से उदाहरण देते हुये बताया है कि कुतिया (मादा) भी कुत्ते (नर) के समान खेत आदि की रखवाली के समान खेत आदि की रखवाली में सहायक होती है । उसका निष्कर्ष है कि स्त्रियों में पुरुषों के समान ही प्रतिभा, भाक्ति एवं कार्य क्षमता

होती है अतः उन्हें भी पुरुषों के समान सार्वजनिक जीवन में भाग लेने का अधिकार होना चाहिए। अतः प्लेटो आदर्श राज्य में पुरूषों के समान ही स्त्रियों को भी शिक्षा का अधिकार देता है और उन्हें योग्यतानुसार सैनिक वर्ग अथवा दार्शनिक वर्ग में भी स्थान देता है।

(10) कला व साहित्य का नियंत्रण– प्लेटो का आदर्श राज्य मूलतः एक नैतिक व्यवस्था. के बारे है, जिसका एक प्रमुख उद्देश्य नागरिकों में सदगुण का विकास करना है। तत्कालीन यूनान में प्लेटो का विचार था कि कला व साहित्य की स्वतंत्रता के नाम पर नागरिकों को जो वातावरण दिया जा रहा था वह अनैतिकता को बढ़ावा देने वाला था और समाज के लिए विनाशकारी था। अतः प्लेटो बताता है कि आदर्श राज्य में नागरिकों के नैतिक उत्थान

की दृष्टि से संगीत, कला, साहित्य आदि के ऐसे अंशों को प्रतिबन्धित एवं नियंत्रित किया जायेगा जो नैथ्तकता व सदाचार के प्रतिकूल हों ।

प्लेओ के आदर्श राज्य की आलोचना

(1) व्यक्ति व राज्य में पूर्ण समानता अनुचित प्लेटो का आदर्श राज्य का सिद्धान्त राज्य को स्वयं में एक व्यक्ति मानता है, अर्थात यह व्यक्ति व राज्य में पूर्ण समानता की स्थापना करता है, जो पूर्णतः अवास्तविक व अनुचित है। वास्तविकता तो यह है कि मानव भारीर एक जीव– वैज्ञानिक व भौतिक संरचना है जबकि राज्य एक मानसिक संरचना है। वस्तुततः मानव आत्मा के तीन तत्वों एवं राज्य के तीन वर्गों के बीच पूर्ण समानता भी स्वीकार नहीं की जा सकती है। प्लेटो ने राज्य को एक वृहत् व्यक्ति (सावयवी) बताकर एक ऐसे राज्य की स्थापना की है जो स्वयं में साह य है और व्यक्ति की स्वतंत्रता का भात्रु है।

(2) अत्यधिक पथिकता एवं अत्यधिक एकता पर बल – प्लेटों की आदर्श राज्य–व्यवस्था में एक गम्भीर आधारभूत दोष यह है कि वह एक साथ ही दो विपरीत संगठनात्मक सिद्धान्तों पर बल देता है। एक ओर प्लेटो राज्य को तीन ऐसे वर्गों में बांटता है जो परस्परं एकदम भिन्न है और वह यह भार्त भी लगाता है कि प्रत्येक वर्ग अपने से सम्बन्धित कार्यों को ही करेगा तथा अन्यों के कार्य में कदापि हस्तक्षेप नहीं करेगा। किन्तु दूसरी ओर प्लेटो दार्शनिक वर्ग को भोष अन्य दोनों वर्गों के जीवन को नियन्त्रित करने का पूर्ण अधिकार भी देता है। इस प्रकार प्लेटो एक ओर राज्य में अत्यधि क अनेकता पैदा करता है और दूसरी ओर पूर्ण एकता की स्थापना चाहता है। व्यावहारिक दृष्टि से इन दो विपरीत सिद्धान्तों द्वारा किसी राज्य का उचित संगठन सम्भव नहीं है।

(3) अव्यावहारिक व काल्पनिक धारणा– प्लेटो की आदर्श राज्य की धारणा उसके प्रत्ययवादी दर्शन एवं नीति की दृष्टि से भले ही प्रशंसनीय हो सकती है, किन्तु सांसारिक यथार्थ की दृष्टि से यह पूर्णतः अव्यावहारिक एवं काल्पनिक धारणा मात्र है। वस्तुतः यह एक ऐसी आलोचना है जिससे स्वयं प्लेटो सहमत प्रतीत होता है। साराक्यूज की असफल यात्राओं के बाद स्वयं प्लेटो ने रिपब्लिक के आदर्श राज्य की अव्यावहारिकता को महसूस किया और उसने अपनी आगामी रचनाओं में अपने विचारों को संशोधित किया। रिपब्लिक में वर्णित आदर्श राज्य की धारणा मूलतः अव्यावहारिक एवं काल्पनिक है, अतः मैक्सी ने प्लेटो को श्प्रथम कल्पनावादी कहा है तथा डनिंग ने इसे प्लेटो का श्कल्पना से रोमांसश कहा है।

(4) समग्रतावादी राज्य– प्लेटो का आदर्श राज्य अपनी प्रकृति से ही एक सर्वाधिकारवादी अथवा समग्रतावादी राज्य (ज्वजंसपजंतपंद`जंजम) है। एक समग्रतावादी राज्य के सभी लक्षण प्लेटो के आदर्श राज्य में दीख पड़ते हैं–– (प) राज्य को साध्य व व्यक्ति को साध ान माना गया है, (पप) व्यक्ति के लिए कर्तव्यों का निर्धारण तो किया गया है, किन्तु उसके अधिकारों व स्वतंत्रन्ताओं की उपेक्षा करता है। वस्तुतः राजनीति के क्षेत्र में कानूनी न्याय–सिद्धान्त को लागू किया जाना चाहिए, किन्तु प्लेटो ने रिपब्लिक में इसकी पूर्ण उपेक्षा की है। बार्कर का मत है, ष्प्लेटो का न्याय–सिद्धान्त वास्तव में न्याय नहीं है, यह मनुष्यों को केवल अपने कर्तव्यों तक सीमित रखने वाली भावना मात्र है, कोई ठोस कानून नहीं ।ष

(8) उत्पादक वर्ग की उपेक्षा– यद्यपि उत्पादक वर्ग राज्य की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला वर्ग है, किन्तु प्लेटों ने उसे गुणों की दृष्टि से हीन मानते हुये राजनीतिक जीवन में भाग लेने का कोई अधिकार नहीं दिया है। प्लेटो की यह व्यवसी अप्रजातान्त्रिक है और अभिजाततान्त्रिक ढांचे की समर्थक हैं।

यद्यपि प्लेटो योग्यता (सद्गुण) के आधार पर वर्गों के निर्माण की बात कहना है और सिद्धान्त रूप में यह भी मानता है कि उत्पादक वर्ग के योग्य बच्चों को अभिभावक वर्ग में स्थान दिया जाना चाहिए. किन्तु वास्तव में उसने उत्पादक वर्ग को शिक्षा के अधिकार से भी वंचित रखा है। अतः व्यवहार में उच्च वर्ग में उनके प्रवेश के अवसर ही समाप्त हो जाते

हैं। इस प्रकार न केवल सामाजिक व राजनीतिक स्तर पर उत्पादक वर्ग की उपेक्षा की गयी है। अपितु उनके बच्चों के लिए यह वर्गीय व्यवस्था एक जातीय व्यवस्था का रूप भी धारण कर सकती है।

(9) दास प्रथा पर मौन– प्लेटों के युग में यूनान में दास प्रथा बहुत चर्चित एवं विवादास्पद प्रथा थी, किन्तु उसने अपने आदर्श राज्य में दास वर्ग का उल्लेख तक नहीं किया है। इस प्रकार तत्कालीन यूनान की दमष्टि से उसके ग्रन्थ रिपब्लिक तथा आदर्श राज्य की धारणा को अपूर्ण ही माना जायेगा । आलोचकों का मत है कि दास प्रथा पर प्लेटो के मौन को इस कुप्रथा का अप्रत्यक्ष समर्थन माना जाना चाहिए और इस दृष्टि से प्लेटो की आलोचना की जानी चाहिए।

(10) दार्शनिक भासक सम्बन्धी आलोचनारू– प्लेटो ने आदर्श राज्य की स्थापना एवं इसके संचालन का कार्य दार्शनिक भासक को सौंपा है। रिपब्लिक के विवरण से मालूम होता है कि दार्शनिक भाासकों का एक समूह (वर्ग) भी हो सकता है। प्लेटो की श्दार्शनिकों द्वारा भासनश के विचार की अनेक आधारों पर आलोचना की गयी– (प) प्लेटो ने दार्शनिक भासक वर्ग को विवेक का मूर्त एवं साकार रूप माना है, किन्तु व्यवहार में विवेक एवं दार्शनिक भाासक वर्ग दो भिन्न तथ्य हैं और इसलिए विवेक के नाम पर दर्शनिक भासक वर्ग को भासन की निरंकुश भाक्तियाँ देना अनुचित है (पप) यदि कोई भासक वर्ग वास्तव में विवेक सम्पन्न हो तो भी उसे पूर्ण सत्ता देना उचित नहीं है, क्योंकि मानव स्वभाव ही ऐसा है कि निरंकुश सत्ता पाकर भ्रष्ट हो जाता है। लॉर्ड एक्टन का यह कथन सत्य है कि, ष्शक्ति भ्रष्ट करती है और सम्पूर्ण भाक्ति रूप से भ्रष्ट करती है।ष सेबाइन ने दार्शनिक भाासक वर्ग के भासन को श्प्रबुद्ध निरंकुशतंत्रश (म्दसपहीजमदमक जलतंददल) कहते हैं। (पपप) यदि यह मान भी लिया जाये कि प्लेटो का भाासक वर्ग पूर्ण विवेक–सम्पन्न वर्ग होगा, तो भी व्यवहार में यह आशंका बनी रहती है कि ऐसे भासक वर्ग में वैराग्य की प्रबल भावना होगी और उसकी राजनीतिक व प्रशासनिक कार्यो में रूचि ही नहीं होगी। इस स्थिति में आदर्श राज्य के भाासन कार्य में शिथिलता आ सकत है और उसकर पतन सम्भव है।

(11) भागसन के संगठनात्मक पक्ष की उपेक्षा – प्लेटो ने आदर्श राज्य की रचना के सन्दर्भ में उसके भाासन के संगठनात्मक पक्ष की पूर्ण उपेक्षा की है, जैसे उसने राज्य के संविधान, विधि के निर्माण की प्रणाली, अधिकारियों की नियुक्ति की प्रणाली, न्यायालयों के प्रबन्ध तथा अपराधि यों के लिए दण्ड–व्यवस्था का उल्लेख तक नहीं किया है। इस संगठनात्मक पक्ष के अभाव में प्लेटो के आदर्श राज्य का कुशल संचालन सम्भव नहीं दीख पड़ता है।

निष्कर्ष – प्लेटो का आदर्श राज्य सिद्धान्त एवं दर्शन की दृष्टि से एक श्रेष्ठ अवधारणा है. किन्तु व्यवहार में इस आदर्श राज्य की प्राप्ति असम्भव ही लगती है। अतः अक्सर इसे प्लेटो की पूर्णतरू काल्पनिक अवधारणा कह दिया जाता है, विशेषकर ऐसा विचार इसलिए भी प्रकट किया जाता है कि स्वयं प्लेटो ने कहा है, ष्नगर (आदर्श राज्य) भाब्दों से बनाया गया है, क्योंकि मेरा विचार हे कि संसार में यह कहीं भी मौजूद नहीं है ।ष किन्तु इसके बावजूद यह कहना उचित होगा कि आदर्श राज्य की अवधारणा के जन्म के पीछे स्वयं प्लेटो का राजनीतिक अनुभव निहित है। उसने आदर्श राज्य के रूप में ऐसे श्रेष्ठ राज्य का विचार प्रस्तुत किया है जो तत्कालीन यूनानी राज्यों की दुर्बलताओं से मुक्त है। प्लेटो ने शिक्षा एवं साम्यवाद की व्यवस्था द्वारा यही सिद्ध किया है कि राजनीतिक दोषों की समाप्ति एवं सार्वजनिक हित की रक्षा के लिए सभी सकारात्मक एवं नकारात्मक साधनों की मदद ली जानी चाहिए। वह पहला राजशास्त्री है जिसने मूल्य प्रधान रानीति के महत्व को भली–भांति प्रकट किया है। अपनी समस्त दुर्बलताओं एवं अव्यावहारिकता के बावजूद प्लेटो की आदर्श राज्य व्यवस्था में ऐसा राजनीतिक मूल्य मौजूद है कि इसने अपने बाद के अनेकानेक राजनीतिक चिन्तकों के लिए एक जीवन्त प्रेरणा–स्रोत का कार्य किया है। प्लेटो

के आदर्श राज्य के स्थायी महत्व को प्रकट करते हुए बार्कर ने कहा है, ष्यह कहना सरल है कि श्रिपब्लिकश काल्पनिक है, बादलों में स्थित नगर है, एक सूर्यास्त के भय के समान है जो सांयकाल एक घण्टे के लिए दीख पड़ता है और उसके बाद अन्धकार में खो जाता है, किन्तु श्रिपब्लिकश को श्कहीं नहीं का नगर नहीं कहा जा सकता। यह यथार्थ परिस्थितियों पर आधारित है और वास्तविक जीवन को प्रभावित करने के लिए है ।ष

दार्शनिक शासक (आदर्श शासक) की अवधारणा

दार्शनिक शासक की आवश्यकता

प्लेटों की आदर्श राज्य व्यवस्था का एक प्रमुख व अभिन्न अंग दार्शनिक भाासक का भाासन है। उसका मत है कि तत्कालीन यूनानी नगर–राज्यों में पाये जाने वाले दोषों का एक प्रमुख कारण भाासकों के अंज्ञान से उत्पन्न उनकी विभिन्न अयोग्यताएँ थीं। वे अज्ञानी थे और इसलिए वे राज्य के वास्तविक उद्देश्यों से न केवल अपरिचित थे, अपितु इन उद्देश्यों को प्राप्त करने में असमर्थभी थे । प्लेटो का मत है कि एक आदर्श राज्य की स्थापना के लिए जरूरी है कि भांसक ज्ञान हो । किन्तु यहाँ प्लेटो ने श्ज्ञानश की व्याख्या के लिए अपने गुरू सुकरात के इस कथन को स्वीकारा है कि श्सदगुण ही ज्ञान हैश (टपतजनम पे ादवूसमकहम) । इसका सरल अर्थ है कि केवल तथ्यों की जानकारी को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है, अपितु तथ्यों के पीछे निहित श्सत्श (अच्छाई) को जानना और उसमें पूर्ण आस्था रखना ही ज्ञान है। सद्‌गुण (धर्म या अच्छाई) वह है जो व्यक्ति व समाज के लिए श्सत्य, शिव व सुन्दर मूल्यों की स्थापना करता है और ऐसी सद्‌गुणमयी जीवन दृष्टि केवल प्रत्ययवादी ज्ञान (दर्शन) से ही प्राप्त हो सती है। ऐसे ज्ञान प्राप्त व्यक्ति को प्लेटो दार्शनिक कहता है। .

प्लेटो का निष्कर्ष है कि जब शासक को ऐसा ज्ञान जो सदगुणयुक्त है, प्राप्त हो जायेगा, तब ही वह स्वयं न्यायी बनेगा और वह राज्य में न्याय की स्थापना भी करेगा। इस स्थिति में ही नगर–राज्यों के दोष समाप्त होंगे और आदर्श राज्य–व्यवस्था की स्थापना होगी। इस बारे में प्लेटो का कथन है, ष्जब तक दार्शनिक राजां न बन जायें, अथवा इस विश्व के राजाओं एवं युवराजों में दर्शन की भावना व भावित नहीं आ जाये, ... तब तक नगर राज्यों के दोष समाप्त नहीं हो सकते और न ही.... सम्पूर्ण मानव जाति को भान्ति प्राप्त हो सकती है। रिपब्लिक का यह सम्पूर्ण विवरण आदर्श राज्य की स्थापना की दृष्टि से दार्शनिक भाासक की आवश्यकता एवं महत्व को प्रकट करता है। वस्तुतः उसके राजदर्शन का तार्किक परिणाम श्दार्शनिक भासक का पद है। इसीलिए बार्कर कहता है, ष्दार्शनिक राजा प्लेटों की राज्य– रचना की पद्धति का न्यायसंगत परिणाम है।

दार्शनिक भासक (राजा) के गुण

प्लेटो ने दार्शनिक शासक के अनेक गुण बताये हैं, जिनमें से प्रमुख गुण इस प्रकार हैं–

(1) ज्ञानी – दार्शनिक भाासक सदगुणश ही ज्ञान है कि धारणा को मानता है और उसे ज्ञज्ञन से प्रेम होता है ।

(2) विवेकवान् – दार्शनिक भासक में विवेक की अत्यन्त प्रधानता होती है। वह निरपेक्ष भाव से अच्छाई एंव बुराई के अन्तर को समझता है।

(3) संयमी

की सिद्धि करता है।

यह संयम द्वारा विपरीत हितों में संतुलन स्थापित करके सर्वोच्च कल्याण

(4) अन्तिम सत्य का ज्ञाता वह पूर्ण प्रज्ञावान होता है और इसलिए विचार जगत के अन्तिम सत्य को जानता है। अतः वह आनन्द के ऐसे आन्तरिक जगत में रहता है, जहाँ बाह्य संसार के प्रति उदासीनता होती है।

(5) विशिष्ट नैतिक गुणों से युक्त – दार्शनकि भाासक सभी प्रकार के अनैतिक दोषों से मुक्त होता है। वह क्रोध, मद, लोभ, स्वार्थ, घृणा, संकीर्णता आदि दोषों से मुक्त होता है और उसमें

व्यसन तथा पूर्वाग्रह के दोष भी नहीं पाये जाते है। इसमें अनेकानेक नैतिक गुण पाये जाते है, जैसे– साहस, दया, विद्या– व्यसन, सहनशीलता, शिष्टता, वैराग्य, एकान्तवास तथा जन–सामान्य के हित की कामना ।

क्या कोई दार्शनिक राजा बनना पसन्द करेगा?

प्रायः यह देखने में आता है कि दार्शनिकों को सांसारिक और विशेषकर राजनीतिक कार्यो के प्रति अरुचि होती है, अतः इस बात की पूर्ण सम्भावना रहती है कि सच्चा दार्शनकि राजा बनना ही पसन्द नहीं करें। रिपब्लिक में ऐसी ही भांका प्रकट करते हुए ग्लॉकन पूछता है कि विचार––जगत् के आनन्द में रहने वाला दार्शनिक भौतिक जगत् के राज्य का भासक बनना क्यों पसन्द करेगा? प्लेटों बताता है कि एक सच्चे दार्शनिक का प्रमुख लक्षण ही यह है कि वह स्वयं राजसत्ता के प्रति उदासीन भाव रखता है और स्वयं भाासक बनने की कामना भी नहीं रखता है, किन्तु फिर भी वह नगरवासियों द्वारा राजा बनाये जाने के आग्रह को विवेक के आधार पर स्वीकार कर लेगा । एक सच्चा दार्शनिक सामान्य हित के कार्यो में विशेष रुचि रखता है और इस कारण से वह नगरवासियों के आग्रह को स्वीकारकारेगा। इसके अलावा जब एक सच्चा दार्शनिक राजा बनेगा तो उसे दर्शन से विपरीत स्थितियों में रहकर भाभ– जीवन व्यतीत करना होगा और इससे उसकी भुशुंभ–जीवन में आस्था गहरी होगी और उसमें आत्मिक उत्थान की भावना और अधिक बलवती होगी। इस प्रकार उसे भाासक बनने पर व्यक्तिगत लाभ भी होगा ।

दार्शनिक राजा का चयन

आदर्श नगर– राज्य की व्यवस्था में दार्शनिक. राजा का केन्द्रीय महत्व है और इसलिए इस पद के लिए चयन की प्रक्रिया भी अत्यधिक सावधानी पूर्वक बनायी गयी है। इस विषय में तीन बातें प्रमुख हैं–

(1) जिस व्यक्ति में विवेक एवं उससे सम्बन्धित गुणों की अत्याधिक प्रधानता होगी, मात्र उस व्यक्ति का ही दार्शनिक राजा के पद पर चयन किया जायेगा । इस दृष्टि से पहले वर्णित श्दार्शनिकश भाासक के गुणश का विशेष महत्व है ।

(2) दार्शनिक राजा के चयन की दृष्टि से प्लेटो की शिक्षा–योजना का विशेष महत्व है। इस पद पर ऐसे व्यक्ति का चयन किया जायेगा। जिसने समस्त पाठ्यक्रम का अध्ययन किया होरू उसे द्वन्द्ववाद व दर्शन का विशेष ज्ञान हो तथा प्रशासन से सम्बन्धित व्यावहारिक कार्य–प्रशिक्षण का भी अनुभव हो ।

(3) दार्शनिक राजा के पद पर ऐसे व्यक्ति का चयन किया जायेगा जिसे कंचन एवं कामिनी का मोह नहीं हो, अर्थात् जो सहज रूप से साम्यवादी व्यवस्था के अन्तर्गत जीवन व्यतीत करने की क्षमता रखता हो ।

दार्शनिक शासक (राजा) के कर्तव्य एवं दायित्व

दार्शनिक शासक का एकमात्र प्रमुख दायित्व है आदर्श राज्य व्यवस्था का सफल संचालन ता संरक्षण । इस दृष्टि से उसे अग्रलिखित कर्तव्यों की पूर्ति करनी है–

(1) न्याय सिद्धान्त का पालन– प्लेटो के आदर्श राज्य की अवधारणा का आधार उसका न्याय–सिद्धान्त है। अतः दार्शनिक भाासक का सर्वप्रथम कर्तव्य है इस सिद्धान्त का पालन कराना । इसका सरल अर्थ है कि वह प्रत्येक वर्ग से उससे सम्बन्धित कार्यो को करायेगा, जिससे उसे अपने कार्य मे विशिष्ट योग्यता प्राप्त हो और वह एक वर्ग को दूसरे वर्गो के कार्यों में हस्तक्षेप से रोकेगा । इस प्रकार तीनों वर्गों के बीच उचित सामझस्य व सन्तुलन स्थापित होगा और सामाजिक न्याय की प्राप्ति होगी । यह सामाजिक न्याय ही आदर्श राज्य का आधार है।

(2) शिक्षा सम्बन्धी कर्तव्य– दार्शनिक राजा प्लेटो की शिक्षा योजना की उसके मूल रूप में पूरे मनोयोग से लागू करेगा। प्लेटो का मत है कि राज्य की शिक्षा योजना अथवा

पाठ्यक्रम में परिवर्तन होने पर राज्य के नियमों में स्वतः ही परिवर्तन होने लगता है। प्लेटो के अनुसार, ष्जब कभी संगीत प्रणाली में परिवर्तन किया जाता है तो राज्य के नियमों में भी बदलाव आ जाता है । अतः वह आदर्श राज्य की रक्षा के लिए दार्शनिक भाासक का यह दायित्व निश्चित करता है कि वह शिक्षा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होने दे।

(3) राज्य के आकार सम्बन्धी कर्तव्य – प्लेटों के अनुसार एक आदर्श राज्य का प्रादेशिक आकार इतना होना चाहिए कि उसकी एकता एवं आत्म–निर्भरता सुरक्षित रहे। दार्शनिक भाासक का कर्तव्य है कि इन तत्वों की दृष्टि से राज्य के आकार का निर्धारण करे और उसकी बाह्य संकट से रक्षा करें। उसे अनावश्यक रूप से अपने राज्य के प्रदेश का विस्तार भी नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर राज्य की एकता एवं आत्म निर्भरता पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है।

(4) साम्यवाद सम्बन्धी कर्तव्य – दार्शनिक भाासक को सम्पूर्ण अभिभावक वर्ग के लिए साम्यवादी व्यवस्था को लागू करना चाहिए, अन्यथा इस वर्ग का नैतिक पतन हो जायेगा और आदर्श राज्य व्यवस्था नष्ट हो जायेगी ।

(5) अर्थ सम्बन्धी कर्तव्य – आदर्श राज्य में अर्थ (सम्पत्ति) सम्बन्धी अधिकार केवल उत्पादक वर्ग को प्राप्त है, किन्तु उनकी आर्थिक स्थिति सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था को प्रभावित करती है । दार्शनिक भासक का कर्तव्य है कि वह इस बारे में मध्यमार्ग, क्योंकि अत्यधि ाक निर्धनता अपराधों को जन्म देती है तथा अत्यधिक सम्पन्नता विलास व आलस्य को ये दोनों स्थितियाँ ही आदर्श राज्य की भात्रु है ।

(6) सहायक प्रशासकों की नियुक्ति

दार्शनिक भासक का कर्तव्य है कि वह चरित्रवान, शिक्षित एवं प्रबुद्ध व्यक्तियों को राज्य के विभिन्न प्रशासनिक पदों पर नियुक्त करे और उनमें से सर्वोत्तम श्रेणी के व्यक्तियों को अपने साथ सत्ता में साझीदार बनाये ।

दार्शनिक राजा के विशेषाधिकाकर– प्लेटों ने दार्शनिक राजा को आदर्श राज्य की स्थापना, संचालन तथा रक्षा की दृष्टि से पूर्ण अधिकार सौंपे हैं, वह मात्र अपनी प्रज्ञा के आधीन है, अर्थात उस पर कानून अथवा जनमत के रूप में किसी बाह्य नियंत्रण को लागू नहीं किया गया है। उसने दार्शनिक राजा की भाक्ति को पूर्ण, निरपेक्ष, एवं अनित्म माना है। इस बारे में उसके प्रमुख तर्क निम्नलिखत हैं–

(1) कानून के बन्धन से मुक्त तत्कालीन यूनान के नगर – राज्यों में अपने–अपने संविध न होते थे और भाासक को कानून के आधीन माना जाता था । किन्तु प्लेटो ने दार्शनिक राजा (शासक) पर किसी भी प्रकार के कानून के नियंत्रण को हानिकारक माना है और उसे कानून के ब न से मुक्त रखा है। उसका मत है कि जैसे एक चिकित्सक किसी रोग का उचित इलाज अपने अनुभव के आधार पर करता है, वह मात्र? चिकित्सा शास्त्र की पुस्तकों का अन्धानुकरण नहीं करता है, वैसे ही एक दार्शनिक राजा अपनी प्रजा के अनुसार ही भासक का कार्य करेगा और उसे लिखित कानून के बन्धन में जकड़ना उचित नहीं होगा। उसका निष्कर्ष है कि कानून की तुलना में दार्शनिक राजा की प्रजा या विवेक अधिक पूर्ण और सामयिक होता है, अतः सार्वजनिक हित की वृद्धि के लिए जरूरी है कि दर्शनिक राजा को कानून के बन्धन से मुक्त रख जाये ।

(2) जनमत के बन्धन से मुक्त जनमत अपनी प्रकृति से ही भावुक, अबुद्धिवादी तथा अस्थायी होता है, अतः उसके द्वारा प्रजायुक्त दार्शनिक राजा का नियंत्रण उचति हनी है । दार्शनिक राजा के जीवन का एकमात्र उद्देश्य सार्वजनिक हित की व द्धि है अतः उसकी भाक्तियों पर जनमत के नियंत्रण की कोई आवश्यकता भी नहीं है। प्लेटो के अनुसार नागरिकों के हित में यहीं है कि वे दार्शनिक राजा के सामने ठीक उसी प्रकार समर्पण कर दें जिस प्रकार एक रोगी एक चिकित्सक के सामने करता है।

कानून एवं जनमत के बन्धन से मुक्ति में ही दार्शनिक भासक के विशेषाधिकार निहित है।

किन्तु प्लेटो उसे परम्परागत अर्थ में निरंकुश नहीं बनाता है, क्योंकि वह सदैव प्रजा के आध ीन है और उसे उपरोक्त कर्तव्यों एवं दायित्वों को भी निभाना है ।

दार्शनिक राजा के शासन की अवधारणा की आलोचना

(1) निरंकुश भाासन की स्थापना प्लेटो ने दार्शनिक राजा (शासक) को राज्य के प्रशासनिक, सैनिक एवं आर्थिक जीवन को नियंत्रित एवं निर्देशित करने का पूर्ण एवं अन्तिम अधिकार दिया है और उसकी सत्ता पर किसी भी प्रकार की प्रथा, काननू अथवा जनमत के बन्धन का विरोध किया है। आलोचकों का मत है कि प्लेटो ने प्रज्ञा एवं विवेक के नाम पर भाासक को निरंकुश सत्ता प्रदान की है। सेबाइन इसे श्प्रबुद्ध निरंकुशता कहता है। राजनीति अनुभव बताता है कि मानव स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि पूर्ण प्रज्ञावान एवं विवेक सम्पन्न व्यक्ति भी पूर्ण सत्ता प्राप्त करने पर स्वार्थी एवं पतित हो जाते हैं। इस दृष्टि से लॉर्ड एक्टन का यह कथन सत्य है कि ष्शक्ति भ्रष्ट करती है और पूर्ण भाक्ति पूर्ण रूप से भ्रष्ट करती है।ष वस्तुतः इस स्थिति में दार्शनिक भासक की निरंकुश व अमर्यादित सत्ता उस आदर्श राजय का ही पतन कर देगी, जिसके कुशल संचालन के लिए प्लेटो ने उसके पद की स्थापना की है। इस प्रकार दार्शनिक राजा की निरंकुश सतत सदयं आदर्श राज्य–व्यवस्था के लिए आत्मघाती होगी।

(2) अवधारणा में अन्तर विरोध हैं – दार्शनिक राजा की अवधारणा में एक आधारभूत अन्तर– विरोध अथवा विरोधाभास है। प्लेटो एक ओर दार्शनिक राजा की सत्ता पर प्रथा, कानून, जनमत आदि के बन्धन को स्वीकार नहीं करता है, किन्तु दूसरी ओर उसके अनिवार्य कर्तव्य एवं दायित्व बताकर उसकी सत्ता को मर्यादित व सीमित भी करता है । इस स्थिति में दार्शनिक भाासक को स्पष्ट रूप से न तो पूर्ण निरंकुश सत्ता ही प्राप्त हो सकती है और न उसकी सत्ता को प्रभावशाली ढंग से नियंत्रित ही किया जा सकता है। वस्तुतः इन दो विपरीत विचारों के कारण प्लेटो की दार्शनिक राजा की सम्पूर्ण अवधारणा में विरोधाभास पैदा हो गये हैं। बार्कर का मत है कि रिपब्लिक की सामान्य शिक्षा, स्त्री–पुरुष के कार्य तथा साम्यवाद की अवधारणाओं में विरोधाभास है, किन्तु इस (रिपब्लिक) का सबसे बड़ा विरोधाभास तो दार्शनिक राजा की अवधारणा में निहित है। (3) पूर्णतः अव्यावहारिक अवधारणा – प्लेटो की दार्शनिक राजा की अवधारणा एक ऐसा महान आदर्श है जिसे व्यवहार में प्राप्त किया जाना सम्भव ही नहीं है, अतः इसे एक पूर्णतः अव्यावहारिक अवधारणा माना जाता है। इस सम्बन्ध में प्रमुख तर्क निम्नलिखित हैं

(1) शिक्षा अथवा अन्य साधनों द्वारा ऐसे आदर्श दार्शनिक राजा का निर्माण सम्भव नहीं है।

(2) यदि किसी प्रकार एक आदर्श दार्शनिक का निर्माण कर भी लिया जाये तो इस बात की कोई गारण्टी नहीं है कि वह भाासक बनना भी पसन्द करेगा, क्योंकि दार्शनिक को भासन जैसे सांसारिक कार्यों में कोई रूचि नहीं होती है।

यह उल्लेखनीय है कि स्वयं प्लेटो ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में यह स्वीकार लिया था कि उसका दार्शनिक भासक इस विश्व में उपलब्ध नहीं है ।

(4) दार्शनिक राजा एक असफल भासक होगा – यदि वास्तव में कोई दार्शनिक राजा मिल भी जाये तो यह निश्चित है कि उसे शासन–कार्य में पूर्ण असफलता ही मिलेगी और इससे सम्पूर्ण राज्य की हानि ही होगी। जॉवेट (श्रवूमजज) के अनुसार, ष्दार्शनिक राजा भविष्य–दृष्टा होता है अथवा अतीत की ओर देखता है, वर्तमान की वास्तविकता से उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है ।ष स्पष्ट है कि ऐसे दार्शनिक राजा में उस व्यावहारिक प्रशासनिक बुद्ध का अभाव होगा जो किसी भी कुशल भाासक की प्रथम आवश्यकता है। ऐसा राजा कपटी, महत्वाकांक्षी एवं षड्यंत्रकारी लोगों से स्वयं अपनी रक्षा करने में भी असमर्थ होगा । प्रायः दार्शनिक सनकी व झक्की होते हैं और जब कोई ऐसा दार्शनिक राजा दर्शन पर आधारित नीरस व कठोर नीतियों को लागू करने की चेष्टा करेगा तो सामान्य नागरिक उसका विरोध करेंगे। इस स्थिति में राज्य की वह एकता खण्डित होने लगेगी

जिसकी प्राप्ति के लिए ही पलेटों ने दार्शनिक राजा की अवधारणा को स्वीकारा है ।
(5) नागरिक रोगी और भासन दवा नहीं है
प्लेटो ने दार्शनिक राजा के पद के औचित्य एंव महत्व को बताने के लिए चिकित्सा शास्त्र से जो उपमा ली है, वह मानव मनोविज्ञान एवं राजनीतिक वास्तविकता के अनुरूप नहीं है। प्लेटो सामान्य नागरिक को एक ऐसे रोगी के रूप में चित्रित करता है जिसे अपनी देखभाल के लिए दार्शनिक भासक रूपी चिकित्सक की भासन रूपी औषधि ग्रहण करेन की जरूरत होती है। सेबाइन के अनुसार, "उसके द्वारा पूर्ण विस्तार के साथ भासन की औषधि से तुलना किया जाना, राजनीति को इतना महत्वहीन बना देता है कि वह राजनीति ही नहीं रह जाती है। एक वयस्क व समझदार व्यक्ति को, फिर चाहे वह किसी दार्शनिक से कम समझदार हो, निश्चय ही एक रोगी नहीं माजा जा सकता है जिसे अन्य कुछ नहीं, मात्र विशेषज्ञ (दार्शनिक भासक) की देख–रेख की जरूरत हो ।ष
(6) जनतंत्र विरोधी अवधारणा – प्लेटो के समय के अनेक यूनानी नगर–राज्यों में प्रत्यक्ष जनतंत्र की प्रणाली थी, किन्तु उसेन जनतंत्र को निकृष्ट भासन बताते हुये इसकी गम्भीरतम् आलोचना की है। प्लेटो की दार्शनिक भासिक की अवधारणा में जनतंत्र विरोधी प्रमुख तथ्य निम्नलिखित है––
जनतंत्र जनता की सामूहिक बुद्धि तथा विवेक में विश्वास करता है, किन्तु प्लेटो को केवल दार्शनिक भासक की बुद्धि व विवेक में विश्वास है ।

जनतंत्र व्यक्ति की स्वतंत्रता एंव समानता में विश्वास रखता है तथा स्वशासन पर ल देता है, किन्तु प्लेटो की दार्शनिक भासक की अवधारणा इन जनतान्त्रिक मूल्यों की विरोधी है।
(पपप) जनतंत्र भासन पर कानून, परम्परा, जनमत आदि के बन्धन को स्वीकारता है, किन्तु दार्शनिक भासक की अवधारणा इन बन्धनों से मुक्त है । .
(पअ) जनतंत्र व्यक्ति के अधिकारों को स्वीकारता है, किन्तु दार्शनिक भासक की अवध रणा व्यक्ति के केवल कर्तव्यों को स्वीकारती है।
(7) नागरिकों की दासतापूर्ण स्थिति–– यद्यपि प्लेटो ने आदर्श राज्य–व्यवस्था के सन्दर्भ में दास वर्ग अथवा दासता का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु उसने दार्शनिक वर्ग तथा बहुसंख्यक उत्पादक वर्ग के आपसी सम्बन्धों का जो चित्र प्रस्तुत किया है, उससे यही प्रतीत होता है कि इस. वर्ग की स्थिति दासों जैसी ही होगी। बहुसंख्यक उत्पादक वर्ग का केवल एक ही कर्तव्य है कि वह दार्शनिक भासक के आदशों का श्रद्धापूर्वक पालन करे। वे नागरिक होकर भी नागरिक चेतना से भान्य है, उन्हें विचार, भाषण अथवा कर्म की कोई स्वतंत्रता अथवा अधिकार प्राप्त नहीं है और उन्हें दार्शनिक भासक के अप्रियकर आदेशों को भी वरदान मानकर स्वीकार करना है। वस्तुतः वे नागरिक हाकर भी उन भेड़ों के रेवड़ के समान है जिसे हर समय दार्शनिक भासक रूपी गड़रिया के दिशा–निर्देशन की आवश्यकता है।
(8) विधि की उपेक्षा समुचित है – प्लेटो ने कानून को अपूर्ण एवं कठोर मानते हुये आदर्श राज्य–व्यवस्था में कानून (विधि) की पूर्ण उपेक्षा की है और इसके स्थान पर दार्शनिक भासक के विवेक में पूर्ण आस्था प्रकट की है। किन्तु प्लेटो की तुना में अरस्तू का यह मत उचित है कि विधि भासक के भावावेश एवं राग–द्वेष से मुक्ति होती है, सभी के लिए समान होती है और विधि युगों का अनुभव अथवा जनता की सामूहिक बुद्धि होती है, इसके अलावा विधि की कठोरता नागरिकों व भासकों के आचरण को अनुशासन में रखती है तथा राज्य को स्थायित्व देती है। यह उल्लेखनीय है कि आगे चलकर स्वयं प्लेटो ने विधि के महत्व को अनुभव किया और उसने अपनी अन्तिम रचना श्दी लॉजश में राज्य का मुख्य आधार विधि को ही स्वीकारा है।
(9) फासिस्ट विचारधारा का प्रेरणा–स्रोत – दार्शनिक राजा (शासक) की अवधारणा में यह

भाव स्पष्ट रूप से निहित है कि सामान्य नागरिक भाासन–कार्य के योग्य नहीं होते हैं भाासन–कार्य में सामूहिक बुद्धि की तुलना में विशेष व्यक्ति का ही महत्व सर्वोपरि है तथा वह भाासक कार्यों में दोष–मुक्त होता । आधुनिक काल में फासीवाद तथा नाजीवाद जैसी विचारणाराओं ने प्लेटो के इस विचार को ही श्नेतृत्व के सिद्धान्तश के रूप में विकसित किया है। ये दोनों विचारध राएँ श्एक राज्य, एक नेताश के सिद्धान्त में विश्वास करती है, नेता को समस्त सार्वजनिक हित का सर्वोत्तम रक्षक मानती है, से दोष–मुक्त मानती है तथा सामान्य नागरिक से केवल यह आशा रखती है कि वह अनुशासित रूप में नेता के आदेशों का पालन करें। इसके अलावा राज्य की सावयवी एकता का सिद्धान्त, व्यक्तियों की असमानता में विश्वास तथा जनतंत्र का विरोध आदि भी फासीवाद के ऐसे लक्षण है जिनका मूल स्रोत भी प्लेटो की दार्शनिक राजा की अवधारणा में निहित है। द्वितीय विश्व–युद्ध के बाद फासीवाद तथा नाजीवाद की कटुतम आलोचना की गयी है और क्योंकि इनका मूल स्रोत दार्शनिक राजा की अवधारणा को माना जाता है, अतः इस आधार पर प्लेटो की इस अवध धारणा की आलोचना भी की गयी है।.

(10) आधुनिक युग के अनुरूप नहीं है –– प्लेटो की दार्शनिक राजा की अवधारणा मूलतः तत्कालीन यूनानी नगर– राज्यों के सन्दर्भ में प्रस्तुत की गयी है, किन्तु आधुनिक राज्य श्राष्ट्रीय राज्य हैं और इनके सन्दर्भ में यह अवधारणा पूर्णतः अस्वीकारणीय है। इसके अग्रलिखित दोष है– (प) आध पुनिक राज्य आकार में विस्त त है, घनी आबादी वाले हैं तथा इनकी सामाजिक रचना पर्याप्त जटिल है । इन राज्यों की समस्याएं बहु–पक्षीय एंव जटिल हैं और इनका हल प्लेटो के दार्शनिक भाासक द्वारा सम्भव ही नहीं है। (पप) आध ुनिक राज्य मूलतः संविधानवादी एवं विधि पर आधारित राज्य हैं तथा भासन की नीतियों के निर्माण में जनमत (लोक– प्रभुत्व) का विशेष महत्व है, किन्तु प्लेटो की दार्शनिक राजा की अवधारणा इन सभी तथ्यों की विरोधी है। (पपप) आधुनिक युग में जनतंत्र बहुत लोकप्रिय है और इसे सर्वोत्तम भासन–प्रणाली माना जाता है, किन्तु प्लेटों की दार्शनिक राजा की अवधारणा जनतंत्र की विरोधी है।

निष्कर्ष

प्लेटो की दार्शनिक राजा (शासक) की अवधारणा की सैद्धान्तिक आधारों पर कटुतम आलोचनाएं की गयी हैं, जिनमें सत्य का एक बड़ा अंश निहित है। कुछ विद्वानों ने तो इस अवधारणा को प्लेटों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा एवं स्वार्थ से प्रेरित भी माना है। पॉपर का आरोप है, ष्दार्शनिक राजा स्वयं प्लेओ है तथा रिपब्लिक उसको दार्शनिक भाासक बनाये जाने का दावा हैष वस्तुतः इस प्रकार की आलोचना को पूर्वाग्रहयुक्त माना जा सकता है और उसका सीमित महत्व है। प्लेटो की अवधारणा का सबसे बड़ा दोष यह है कि व्यवहार में ऐसा एक भी दार्शनिक भासिक उपलब्ध नहीं है, अतः यह एक अव्यावहारिक एवं काल्पनिक अवधारणा मात्र रह जाती है। किन्तु इन सभी दोषों के बावजूद प्लेटो की यह अवधारणा सार रूप में महत्वपूर्ण मानी जा सकती है । इस अवधारणा में यह भावना मौजूद है कि मासिक का पद एक ट्रस्ट है तथा भासिक मात्र एक ट्रस्टी है, अर्थात भाासक को पूर्वाग्रहों एवं स्वार्थी का त्याग करके केवल सार्वजनिक हित की वृद्धि के उपाय करने चाहिए। इस प्रकार प्लेटो की इस अवधारणा में दुनिया के सभी भासकों के लिए एक गुणात्मक आदर्श निहित है। फोस्टर ने प्लेटों की दार्शनिक अवधारणा को एक मौलिक अवधारणा माना है

शिक्षा का सिद्धांत एवं योजना

रिपब्लिक का मुख्य विषय न्याय पर आधारित एक आदर्श राज्य–व्यवस्था की स्थापना है और प्लेटो ने इसकी स्थापना के लिए एक सकारात्मक साधन के रूप में शिक्षा–व्यवस्था पर विचार किया है। प्लेटो के राज–दर्शन का प्रमुख आधार यह विचार हे कि सदगुण ही ज्ञान है और शिक्षा इस सदगुण की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। प्लेटो का विश्वास है,

ष्यदि सदगुण ज्ञान है तो उसकी शिक्षा दी जा सकती हैं।ष अतः उसने श्रिपब्लिक में शिक्षा के सिद्धान्त एवं शिक्षा की योजना पर अत्यन्त विस्तार से विचार किया है। रिपब्लिक में शिक्षा के इस महत्व को देखते हुये रूसों ने कहा है, षरिपब्लिक राजनीति पर लिखा गया ग्रन्थ नहीं है, अपितु शिक्षा पर लिखा गया ऐसा सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ हे जो इससे पहले कभी नहीं लिखा गया ।

प्लेटो का शिक्षा—सिद्धान्त

प्लेटो का शिक्षा—सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि व्यक्ति एवं समाज के उत्थान में सबसे बड़ी बाधा अज्ञान है। प्लेटो के अ नुसार अज्ञान को समाप्त करने का एकमात्र उपाय ज्ञान अर्थात शिक्षा है। प्लेटो का यह कथन महत्वपूर्ण है, षशिक्षा बोद्धिक रोग के लिए बौद्धिक उपचार है।ष रिपब्लिक के शिक्षा— सिद्धान्त के बारे में सैबाइन का मत है, ”शिक्षा ऐसा सकारात्मक साध न है जिसके द्वारा भासक एक सामंजस्यपूर्ण राज्य का निर्माण करने के लिए मानव प्रकृति को सही दिशा में ढाल सकता है।ष

प्लेटो के शिक्षा—सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताएं निम्नलिखित हैं—

(1) शिक्षा का दार्शनिक आधार — (1) शिक्षा का उद्देश्य मात्र वस्तुगत जगत का ज्ञान प्राप्त करना नहीं है, अपितु इस वस्तुगत जगत के मूल में निहित सत्श अर्थात् अन्त्य वास्तविकता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना है। प्लेटो की इस मान्यता का आधार इसके गुरू सुकारात का यह विचार है कि सदगुण ही ज्ञान है ।

(2) ज्ञान का स्रोत स्वयं मानव आत्मा है— प्लेटो के अनुसार शिक्षा आत्मा (मन) में बाहा रूप से ज्ञान का प्रवेश नहीं कराती है। मानव—आत्मा के पास स्वयं का ज्ञान नेत्र होता है, शिक्षा तो उस ज्ञान नेत्र का रूख प्रकाश की ओर आकर्षित करती है। शिक्षा ऐसा वातावरण देती है कि आत्मा का यह ज्ञान स्वतः ही प्रकट हो जाये । प्लेटो के अनुसार शिक्षा आत्म— नेत्र को प्रकाशोन्मुख करती है।

(2) शिक्षा द्वारा मानव मस्तिष्क का विकास प्लेटो ने शिक्ष को मानव मस्तिष्क के विकास का प्रमुख साधन माना है। इस सम्बन्ध में उसकी प्रमुख मान्यतायें निम्नलिखित हैं—

(1) प्लेटो के अनुसार मानव मस्तिष्क सदैव सक्रिय रहता है, अतः यह वातावरण के प्रति अपनी प्रतिक्रिया करता है। शिक्षा का कार्य ऐसा स्वस्थ वातावरण बनाना है कि मानव मस्तिष्क की सक्रियता सदगुण की ओर आकर्षित हो और उसका पालन करे। वस्तुतः शिक्षा अन्तर्दृष्टि जागृत करके मानव मस्तिष्क को इस प्रकार तैयार करती है कि वह प्रतिकूल वातावरण एवं परिस्थितियों में भी विवेकपूर्ण प्रतिक्रिया करे। प्लेटो का मत है, ष्यदि नागरिक भली—भांति शिक्षित किये जाते हैं तो वे अपनी समस्याओं का हल स्वयं ढूँढ लेंगे ।

(2) मानव मस्तिष्क की यह विशेषता है कि वह अपने ही द्वारा निर्मित वस्तुओं (विचारों, विद्याओं, वस्तुओं संस्थाओं आदि) के अध्ययन से अधिक विकसित होता है। इस सन्दर्भ में प्लेटो बताता है कि विद्याओं के क्षेत्र में मानव मस्तिष्क का सर्वोच्च उत्पादन श्दर्शनश है तथा संस्थाओं के क्षेत्र में इसका सर्वोच्च उत्पादन श्राज्यश है। जब शिक्षा द्वारा मानव—मस्तिष्क को दर्शन एंव राज्य सम्बन्ध ज्ञान प्राप्त होता है तो उसके मस्तिष्क का पर्याप्त विकास भी होता है।

(3) शिक्षा के विभिन्न पक्ष एंव उद्देश्य — शिक्षा व्यक्ति, समाज व राज्य से सम्बन्धित है, किन्तु सभी स्तरों पर शिक्षा का नैतिक उद्देश्य है सदगुण की वृद्धि करना ।

(प) वैयक्तिक पक्ष तथा उद्देश्य — शिक्षा सदगुण में व द्वि करती है और व्यक्ति को श्एक अच्छा व्यक्ति बनने में मदद देती है।

(पप) सामाजिक पक्ष व उद्देश्य— शिक्षा विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच ताल—मेल स्थापित करती है और सामाजिक न्याय के उद्देश्यों को प्राप्त करने में मदद देती है। यह दार्शनिक प्लेटो वर्ग को विवेक तथा सैनिक वर्ग को सैन्य कर्म की कुशलता प्रदान करती है। बार्कर के अनुसार ने शिक्षा को एक ऐसी सामाजिक प्रक्रिया के रूप में माना है जो समाज के

विभिन्न घटकों (वर्गों) को सामाजिक चेतना से बांधती है तथा उन्हें सामाजिक कर्तव्यों की पूर्ति करने की भावना सिखाती है।

(3) राजनीतिक पक्ष व उद्देश्य – शिक्षा व्यक्ति एवं राज्य के हितों में सामंजस्य स्थापित करती है । यह व्यक्ति को सद व्यक्ति बनाने के साथ ही सद नागरिक भी बनाती है। यह वैयक्तिक नैतिकता तथा सार्वजनिक नैतिकता में एकता स्थापित करके राज्य की एकता व स्थायित्व को मजबूत करती हैं। शिक्षा ही यह सिद्ध करती है कि दर्शन को राजनीति का पथ–निर्देशन करना चाहिए तथा भाासन का कार्य दार्शनिक राजा को करना चाहिए ।.

(4) शिक्षा जीवन – पर्यन्त चलती है – प्लेटो ने शिक्षा को सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित माना है । शिक्षा का सम्बन्ध भारीर एवं आत्मा दोनों से ही है, अतः इसे जीवन के अन्त तक चलते रहना चाहिए। किन्तु आयु के अनुसार शिक्षा के पाठ्यक्रम में अन्तर होना चाहिए। प्लेटो ने विभिन्न आयु वर्गों के अनुसार सम्पूर्ण शिक्षा के पाठ्यक्रम को वर्गीकृत किया है।

(5) सैद्धान्तिक एंव प्रयोगात्मक शिक्षा – शिक्षा के दो पक्ष हैं– सिद्धान्त व प्रयोग । प्लेटो ने इन दोनों प्रकार की शिक्षा पर बल दिया है। बार्कर के अनुसार, षसिद्धान्त व प्रयोग समान रूप से मानव मस्तिष्क की उपज है, अतः मस्तिष्क को इन दोनों के सम्पर्क में अवश्य ही लाया जाना चाहिए।ष प्लेटो का मत हैं कि विद्यार्थी को पहले सैद्धान्तिक शिक्षा दी जानी चाहिए और उसके बाद प्रयोगात्मक शिक्षा ।

प्लेटो की शिक्षा योजना अथवा शिक्षा के विभिन्न स्तर व पाठ्यक्रम

प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की शिक्षा की जो योजना प्रस्तुत की है, उसके स्तर एवं पाठ्यक्रम का जो विवरण प्रस्तुत किया है उस पर तत्कालीन स्पार्टा तथा एथेंस नामक नगर – राज्यों में प्रचलित शिक्षा व्यवस्था का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उसने स्पार्टा से यह प्रेरणा ली कि शिक्षा में सैनिक शिक्षा को सम्मिलित किया जाना चाहिए, क्योंकि यह भारीर बल तथा आत्मबल देती है। उसने एथेंस की शिक्षा पद्धित से यह प्रेरणा ली कि शिक्षा को विचार भाक्ति बढ़ाने वाला होना चाहिए। एथेंस में शिक्षा मुख्यतः व्यक्तिगत विषय थी, किन्तु स्पार्टा में शिक्षा राज्य द्वारा नियंत्रित थी। प्लेटो ने स्पार्टा से प्रेरणा लेकर शिक्षा को राज्य द्वारा नियंत्रित किया हैं ।

यद्यपि प्लेटो की शिक्षा योजना पर स्पार्टी व एथेंस की शिक्षा योजना का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है किन्तु इसका अन्तरंग भाग स्वयं प्लेटो की देन है। इस दृष्टि से प्लेटो में ..... मौलिकता का तत्व दीख पड़ता है। उसने शिक्षा का उद्देश्य सद्गुण की वद्धि माना है और
उसे न्याय एवं आदर्श राज्य की स्थापना का सकारात्मक साधन माना है । प्लेटो ने शिक्षा को जीवन पर्यन्त चलने वाली प्रक्रिया बताया है, किन्तु स्पष्टतः उसने 6 वर्ष की आयु से 50 वर्ष तक की आयु से सम्बन्धित शिक्षा योजना का विवरण दिया है। संक्षेप में, प्लेटो प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक एवं विचारधाराएँ की शिक्षा योजना अर्थात शिक्षा के विभिन्न स्तरों के पाठ्यक्रम का सामान्य विवरण निम्नलिखित रूप में है–

(अ) शिक्षा का प्रथम स्तर

(ब) शिक्षा का द्वितीय स्तर तथा

(स) दार्शनिक भाासक का व्यावहारिक प्रशिक्षण द्य

शिक्षा का प्रथम स्तर–

शिक्षा के प्रथम स्तर का सम्बन्ध 6 वर्ष की आयु से 20 वर्ष तक की आयु के विद्यार्थियों से है। इसकी प्रमुख विशेषताएं इस प्रकार हैं–

1) शिक्षा 6 वर्ष की आयु से भारू होगी और शिक्षा के पहले 6 वर्षों में विद्यार्थियों को नैतिक –व– धार्मिक शिक्षा दी जायेगी । इस आयु वर्ग के विद्यार्थी अनुकरण द्वारा सीखते हैं, अतः

विद्यार्थियों को देवी–देवताओं की ऐसी कथायें बतायी जानी चाहिए जो प्रेम सत्य, दया आदि के सदगुणों से युक्त हों !

(2) आगामी 6 वर्षों (12 से 18 आयु वर्ग) में विद्यार्थियों को मुख्यतः व्यायाम व संगीत की शिक्षा दी जानी चाहिए। इससे विद्यार्थियों में क्रमशरू आत्म–शक्ति व विचार–शक्ति का विकास होगा । प्लेटो ने व्यायाम व संगीत की शिक्षा को विस्तीत अर्थ में स्वीकारा है । एक स्वस्थ भारीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क रह सकता है, अतः व्यायाम की शिक्षा आत्म–बल की वृद्धि करती है। प्लेटो ने व्यायाम की शिक्षा में भोजन तथा चिकित्सा (औषधि) को सम्मिलित किया है।

प्लेटो ने संगीत की शिक्षा में गायन – विद्या के आलावा समस्त कलाओं, साहित्य एवं संस्क त के अध्ययन को सम्मिलित किया है। उसने संगीत की शिक्षा में गणित, ज्यामिति तथा. प्रारम्भिक विज्ञान को भी सम्मिलित किया। संगीत विचार भाक्ति का विकास करता है। व्यायाम तथा संगीत की शिक्षा भारीर एवं विचार–शक्ति में सन्तुलन स्थापित करके मानव व्यक्तित्व को पूर्णता देती है। इससे व्यक्ति में विवेक जागृत होता है, अर्थात उसमे सत्य के प्रति आस्था पैदा होती हे और निर्णय करने की क्षमता आती है।

(3) विद्यार्थियों को 18 से 20 वर्ष तक की आयु में, अर्थात 2 वर्ष सैनिक शिक्षा प्रदान की जायेगी। इससे विद्यार्थियों में साहस, आत्म–नियंत्रण तथा अनुशासन की प्रवृत्ति बढ़ेगी और वे राज्य की रक्षा में सहायक होंगे।

(ब) शिक्षा का द्वितीय स्तर –

प्रथम स्तर की शिक्षा प्राप्ति के दौरान जो विद्यार्थी विशिष्ट प्रतिभावान दीख पड़ते हैं, उन्हें . ही केवल द्वितीय स्तर की शिक्षा प्रदान की जाती है और भोष को सैनिक वर्ग में स्थान दे दिया जाता है। इस प्रकार द्वितीय स्तर की शिक्षा केवल कुछ विद्यार्थियों को ही दी जाती है। द्वितीय स्तर की शिक्षा पुनः दो उप–स्तरों में विभाजित होती है, एक 20 से 30 वर्ष के विद्यार्थियों के लिए तथा दूसरी 30 से 35 वर्ष के विद्यार्थियों के लिए।

(1) 20 से 30 वर्ष के विद्यार्थियों के लिए शिक्ष यह 10 वर्ष तक चलने वाली शिक्षा है। इसके पाठ्यक्रम में गणित, अंकगणित, ज्यामिति (रखागणित), ज्योतिष तथा स्वर–विद्या (भ्तउवदपबे) को स्थान दिया गया है। स्वर–विद्या का सम्बन्ध अनेकता में एकता प्राप्त करने से है। इस पाठ्यक्रम को उत्तीर्ण करने में असमर्थ विद्यार्थी को सैनिक वर्ग में वापिस भेज दिया जाता है, अथवा राज्य के सामान्य प्रशासनिक पद पर नियुक्त किया जाता है।

(2) 30 से 35 वर्ष के विद्यार्थियों के लिए शिक्षा 30 वर्ष की आयु में होने वाली परीक्षा को उत्तीर्ण करने वाले विद्यार्थियों को अब 5 वर्ष की शिक्षा प्रदान की जाती है। इसके पाठ्यक्रम भें मुख्यतः दो विषय होते हैं– द्वन्द्ववाद (क्पंसमबजपबे) तथा दर्शन (चैपसवेवचील) ।

प्लेटो के अनुसार 35 वर्ष की आयु में इस पाठ्यक्रम को उत्तीर्ण करेन के बाद ही दार्शनिक भासक अथवा पूर्ण अभिभावक बनने की आशा की जाती है। उक्त पाठ्यक्रम को उत्तीर्ण करने के बाद ही आत्मा में सत्य के प्रति पूर्ण अनुराग व सदगुण में आस्था होती हैं । ।

(स) दार्शनिक शासक का व्यावहारिक प्रशिक्षण

35 वर्ष तक की आयु तक विद्यार्थियों को पूर्ण सैद्धान्तिक शिक्षा प्रदान की जाती है और अब उन्हें 35 से 50 वर्ष की आयु तक व्यावहारिक ज्ञान तथा क्रियात्मक अनुभव प्रदान किया जाता है। वस्तुतः वह इस 15 वर्ष के व्यावहारिक प्रशिक्षण के दौरान राज्य की सेवा करके भाासन की कला में योग्यता प्राप्त करता है।

इस प्रकार 50 वर्ष की आयु में सही अर्थ दार्शनिक भाासक के बनने की क्रिया पूरी होती है और उसे दार्शनिक भाासक वर्ग में भाामिल किया जाता है। अब वह राज्य का भासन सम्भालता है, भावी पीढ़ी की शिक्षा योजना का संचालन करता है और अपने उत्तराधिकारी तैयार करता है। प्लेटो के अनुसार 50 वर्ष की आयु के बाद भी आत्म–साक्षात्कार तथा अन्तिम सत्य के अन्वेषण के रूप में शिक्षा चलती रहती है। आयु बढ़ने के साथ–साथ

दार्शनिक भाासक अपने उत्तराधिकारियों के लिए राजनीति का क्षेत्र खाली करते जाते हैं और स्वयं अन्तिम सत्य के अन्वेषण में जग जाते हैं।

शिक्षा–व्यवस्था की विशेषतायें एवं गुण

(1) तत्कालीन यूनानी शिक्षा व्यवस्था का विकास–– तत्कालीन यूनान में स्पार्टा तथा एथेंस नामक नगर –– राज्यों में दो भिन्न प्रकार की शिक्षा पद्धतियाँ प्रचलित थीं। प्लेटो ने इन दोनों के गुणों को मिलकार अपनी शिक्षा पद्धति प्रस्तुत की है। इस प्रकार उसने तत्कालीन यूनानी शिक्षा पद्धति को पूर्णता प्रदान करने की कोशिश की हैं।

(2) सर्वांगीण विकास पर बल

प्लेटो ने अपनी शिक्षा–पद्धति में व्यक्ति के भाारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक तीनों ही पक्षों के पूर्ण विकास पर बल दिया है। उसकी शिक्षा योजना व्यक्ति के प्रत्येक सदगुण को विकसित करने का प्रयत्न करती है।

(3) मनोविज्ञान के अनुरूप शिक्षा – प्लेटो की शिक्षा की योजना मानव मनोविज्ञान के अनुरूप है। उसकी शिक्षा योजना मानव मन एवं मस्तिष्क की तीन प्रमुख प्रवृत्तियों–वासना, साहस व विवेक के अस्तित्व को स्वीकारती हैं और उनके विकास में मदद देती है। उसने विभिन्न आयु वर्गो के व्यक्तियों के लिए विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रम तय किये हैं, जो पुनः मानव मनोविज्ञान के अनुरूप ही हैं ।

(4) शिक्षा व्यावहारिक है प्लेटो की शिक्षा योजना तत्कालीन यूनान की सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। यह नागरिकों को अपने सामाजिक कर्तव्यों एवं दायित्वों की पूर्ति के योग्य बनाती है। शिक्षा योजना सामाजिक न्याय की स्थापना करके सामाजिक वर्गों के बीच ताल–मेल स्थापित करती हैं और राज्य को एकता प्रदान करती है ।

(5) मासक वर्ग का प्रशिक्षण – प्लेटो ने अपनी शिक्षा योजना इस आशा के साथ प्रस्तुत की है कि इसके द्वारा दार्शनिक भासक वर्ग का निर्माण सम्भव होगा। उसकी शिक्षा योजना ऐसे श्रेष्ठ भासकों को उत्पन्न करने की सामर्थ रखती है जो वैयक्तिक हित की तुलना में सार्वजनिक हित को महत्व दें तथा सुशासन की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हो ।

(6) नैतिक विकास पर बल – प्लेटो की शिक्षा योजना सदगुण ही ज्ञान है के सिद्धान्त को स्वीकारती है। प्लेटो शिक्षा द्वारा ऐसा वातावरण बनाना चाहता है जो नैतिक उत्थान में सहायक हो । इस दृष्टि से उसने कला व साहित्य के ऐसे अंशों को प्रतिबन्धित किया जाना उचित माना है जो नैतिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकते हैं।

(7) जीवन भर चलने वाली शिक्षा व्यवस्था प्लेटो ने शिक्षा को जीवन के कुछ काल तक चलने वाला कार्य नहीं माना है, अपितु उसने ज्ञान के अर्जन को जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया माना है। शिक्षा के बारे में उसका यह दृष्टिकोण अनुकरणीय है।

(8) सत्य व ईश्वर का साक्षात्कार प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त का आधार उसका श्प्रत्ययवादी दर्शन है। इस दर्शन के अनुसार प्लेटो की शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य है द भय जगत से भिन्न एक अन्त्य वास्तविकता को प्रकट करना। इस प्रकार प्लेटो की शिक्षा व्यक्ति को सत्य एवं ईश्वर से साक्षात्कार के मार्ग पर अग्रसर करती है।

(9) अन्य विशेषताएं प्लेटो की शिक्षा–व्यवस्था के निम्नलिखित तथ्य ऐसे हैं जिन्हें उसकी विशेषताएं तो कहा जा सकता है, किन्तु इनकी पर्याप्त आलोचना के कारण इन्हें स्पष्टतः गुण नहीं कहा जा सकता–

(1) उत्पादक वर्ग के लिए शिक्षा का प्रबन्ध नहीं किया गया है

(2) स्त्रियों के लिए पुरूषों के समान पाठयक्रम की व्यवस्था की गयी है

(3) शिक्षा राज्य द्वारा नियन्त्रित है

(4) शिक्षा का पाठ्यक्रम पूर्णतः अपरिवर्तनीय माना गया है।

प्लेटो की शिक्षा योजना की सीमायें व आलोचना

(1) मात्र अभिभावक वर्ग के लिए शिक्षा – प्लेटो शिक्षा को महान वस्तु मानता है और उसे आदर्श राज्य का आधार बताता है किन्तु उसने समस्त नागरिकों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध ा नहीं किया है। प्लेटो ने केवल अभिभावक वर्ग (सैनिक व दार्शनिक वर्गों के लिए ही शिक्षा की योजना प्रस्तुत की हैं। इस प्रकार उसकी शिक्षा की योजना कुलीनतंत्रवादी है और आध ुनिक दृष्टि से इसे अप्रजातान्त्रिक कहा जायेगा ।

(2) उत्पादक वर्ग की उपेक्षा – प्लेटो की शिक्षा योजना में राज्य के बहुसंख्यक उत्पादक वर्ग की पूर्ण उपेक्षा की गयी है। यह वर्ग राज्य की कृषि, शिल्प, व्यापार तथा आर्थिक जीवन का आधार है, किन्तु प्लेटो इसकी शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं करता है। न्याय के सिद्धान्त के

अनुसार इस वर्ग को भी अपने समस्त कार्य विशिष्टता के साथ करने चाहिए, किन्तु शिक्षा व प्रशिक्षण के अभाव में वे कार्य–कौशल व विशेषज्ञता प्राप्त नहीं कर सकते हैं। वस्तुतः प्लेटो द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में उत्पादक वर्ग की उपेक्षा स्वयं प्लेटो के न्याय–सिद्धान्त से मेल नहीं रखती है।

(3) शिक्षा में अत्यधिक एकरूपता का दोष– प्लेटो ने सम्पूर्ण शिक्षा को सदैव के लिए एक स्थायी व अपरिवर्तित पाठ्यक्रम का रूप दिया है। सम्पर्ण राज्य में सभी छात्रों को एक ही प्रकार के पाठ्यक्रम व भौक्षिणिक वातावरण से गुजरना है। आलोचकों का मत है कि शिक्षा में अत्यधिक एकरूपता पर बल देने से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, जैसे– वैचारिक संकीर्णता बढ़ने का भय रहता है, समय व स्थिति के अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन सम्भव नहीं होता हैं तथा शिक्षा नीरस व उबाऊ बन जाती है ।

(4) शिक्षा योजना में विरोधाभास –– शिक्षा योजना में एक ओर राज्य की सेवा को अन्तिम उद्देश्य माना गया है और दूसरी ओर अन्तिम सत्य की खोज व इसका साक्षात्कार भी अन्तिम उद्देश्य माना गया है। इस प्रकार शिक्षा योजना में व्यावहारिक दृष्टि से विरोधाभास उत्पन्न हो जाता है। बार्कर के अनुसार, ष्पलेटो के शिक्षा–सिद्धान्त में कार्य सम्बन्धी आदर्श तथा चिन्तन सम्बन्धी आदर्श के बीच एक प्रकार की डगमगाहट पायी जाती है ।ष

(5) पाठ्यक्रम सम्बन्धी आलोचना – (1) प्लेटो की शिक्षा का पाठ्यक्रम सैद्धान्तिक अधि क है और व्यावहारिक कम है (पप) पाठ्यक्रम में दर्शन व गणित की तुलना में साहित्य की अत्यधि क उपेक्षा हुई है तथा (पपप) पाठ्यक्रम इतना अधिक लम्बा है कि शिक्षा जीवन प्रर्यत्न चलती रहती

हैं ।

(6) स्त्री व पुरूष की समान शिक्षा पर आपत्ति– प्लेटो ने स्त्री व पुरूष के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा योजना स्वीकारी है। आलोचकों का मत है कि स्त्री व पुरूष में बौद्धिक समानता तो देखी जा सकती है, किन्तु उनके स्वभाव व भावनाओं में पर्याप्त भिन्नता भी देखी जा सकती है। इस भिन्नता के कारण स्त्री व पुरूष के लिए पूर्णतः एक ही प्रकार की शिक्षा एवं प्रशिक्षण उचित नहीं है।

(7) शिक्षा पर राज्य का नियंत्रण हानिप्रद हैं– प्लेटो ने शिक्षा पर राज्य के पूर्ण नियंत्रण का समर्थन किया है और कला व साहित्य पर राज्य की सेंसर व्यवस्था को मान्यता दी है। इस प्रकार नैतिकता एंव अभिव्यक्ति के क्षेत्र में राज्य को पूर्ण व अन्तिम अधिकार प्राप्त हो जाता है और व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास रूक जाता है। राज्य की नैतिकता ही व्यक्ति की नैतिकता बन जाती है और राज्य साध्य व व्यक्ति साधन बन जाता है

जब राज्य स्वयं शिक्षा का नियंत्रण व निर्देशन करता है तो वह स्वयं एक शिक्षा संस्था का रूप ग्रहण कर लेता है। इससे राज्य पर अनावश्यक बोझ बढ़ता है और उसके अन्य सहज कार्यो पर विपरीत प्रभाव पड़ने की सम्भावना रहती है।

(8) दार्शनिकों के सफल भासक होने की सम्भावना नहीं कोई भी शिक्षा योजना एं सच्चे

दार्शनिक का निर्माण करने की गारण्टी नहीं हो सकती है, क्योंकि इसके लिए अन्तर्दृष्टि की जरूरत होती है जिसका सम्बन्ध स्वयं व्यक्ति की अपनी क्षमता से है । यदि यह मान भी लिया जाये कि प्लेटो की शिक्षा योजना सच्चे दार्शनिकों के निर्माण में समर्थ होगी तो भी यह आशा की जाती है कि ऐसे सच्चे दार्शनिको की राजकार्य में कोई वास्तविक रूचि ही नहीं होगी। वे राजकार्यों की तुना में अन्तिम सत्य की खोज तथा सद्गुणों के अध्ययन में ही अधिक रूचि लेंगे और इनके अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने में ही आनन्द की प्राप्ति करेंगे।

(9) अन्य दोष

(1) प्लेटो का शिक्षा – सिद्धान्त भारीर को आत्मा के पूर्ण नियंत्रण व अनुशासन में रखेन का समर्थक है। वह भारीर (इन्द्रियाँ) तथा आत्मा (विवेक) को पूर्णतः एक–दूसरे के विपरीत मानता है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इन दोनों के बीच सहज व स्वाभाविक सम्बन्ध ही उचित माने जा सकते हैं।

(2) प्लेटो अपने शिक्षा सिद्धान्त द्वारा किसी एक वर्ग के सभी व्यक्तियों को एक ही सांचे में ढालना चाहता है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से यह न तो सम्भव है और न उचित ही

(3) प्लेटो एक ओर शिक्षा द्वारा एक आदर्श राज्य का निर्माण करना चाहता है और दूसरीश ओर शिक्षा को राज्य द्वारा नियंत्रित भी बताता है। वस्तुतः यह स्पष्ट नहीं है कि अन्तिम दृष्टि से कौन किसको नियंत्रित करेगा ।

(4) प्लेटो ने 35 वर्ष की आयु तक व्यक्तियों को गुरू के अनुशासन में शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था स्वीकारी हैं और उसके बाद उन्हें राज्य के प्रशासकीय पदों पर कार्य करना है। आलोचकों का मत है कि इस आयु वर्ग तक आते–आते व्यक्तियों में स्वतंत्र उपक्रम एवं आत्म विश्वास क्षीण हो जायेगा और वे कुशल प्रशासक सिद्ध नहीं होंगे।

(अ) प्लेटो की शिक्षा व्यवस्था अपनी प्रकृति से कुलनी वर्गीय अथवा अभिजाततंत्रीय है और शिक्षा के जनतांत्रिक मूल्यों की पूर्ण उपेक्षा करती है।

मूल्यांकन (म्अंसनंजपवद) यद्यपि प्लेटो के शिक्षा सम्बन्धी विचारों की अत्यधिक आलोचना की गयी है, किन्तु इसके कुछ ऐसे पक्ष भी हैं जिनकी प्रशंसा की जा सकती है। प्लेटो ने शिक्षा को सत्य की खोज का साधन माना हैं, भासन जैसे जटिल कार्य के लि विशेष प्रकार की शिक्षा के महत्व को स्वीकारा है, शिक्षा को व्यक्तिगत नैतिक व सार्वजनिक नैतिकता के बीच सन्तुलन स्थापित करने के साधन के रूप में स्वीकारा है और राज्य की एकता व सुदृ ढ़ता की स्थापना के लिए शिक्षा के महत्व को प्रतिपादित किया है। उसने शिक्षा में भाारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक विकास को स्थान दिया है। प्लेटो की शिक्षा योजना के ये ऐसे महत्वपूर्ण पक्ष हैं जिनकी प्रशंसा आज भी की हैं जाती है। प्लेटो के शिक्षा सम्बन्ध ी विवरण के कुछ अंश ऐसे भी हैं जो आधुनिक युग के अनुकूल जैसे प्लेटो द्वारा स्त्री व पुरुषों के लिए समान शिक्षा की व्यवस्था । इसी प्रकार आधुनिक राज्य प्राथमिक स्तर पर शिक्षा की अनिवार्य व्यवस्था करना अपना दायित्व मानते हैं और यह प्लेटो की राज्य द्वारा नियंत्रित शिक्षा के सिद्धान्त का सीमित मात्रा में अनुकरण है। मैक्सी के अनुसार, ष्प्लेटो की शिक्षा योजना अनेक दृष्टियों से आश्चर्यजनक रूप में आधुनिक लगती है।ष किन्तु इसके कुछ ऐसे भी पक्ष हैं जो आधुनिक युग की दृष्टि से अत्यधिक आलोचना के योग्य हैं। यह अपनी प्रकृति से कुलीन वर्गीय है और बहुसंख्यक सामान्य नागरिकों की पूर्ण उपेक्षा करती है कला व साहित्य के क्षेत्र में स्वतंत्र अभिव्यक्ति पर नियंत्रण लगाती है तथा राज्य को साध य व व्यक्ति को साधन मातनी तुलना में गुण है । किन्तु कुल मिलाकर प्लेटो की सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था में अवगुणों की ही अधिक है ।

साम्यवाद का सिद्धान्त

प्लेटो का प्रमुख उद्देश्य है उसके न्याय सिद्धान्त पर आधारित एक आदर्श राज्य की स्थापना किन्तु वह अनुभव करता है कि इस महान उद्देश्य की प्राप्ति के मार्ग में तीन गम्भीर बाध

गएं हैं– अज्ञान, निजी सम्पत्ति तथा निजी परिवार। प्लेटो ने इन बांधओं पर विजय पाने के लिए दो प्रमुख साधन स्वीकारें हैं– शिक्षा तथा साम्यवाद । उसका विश्वास है कि शिक्षा के भावात्मक साध न द्वारा अज्ञान पर विजय पाकर आदर्श राज्य की स्थापना का कार्य किया जा सकता है। किन्तु इसके साथ ही वह ऐसे स्वस्थ वातावरण के निर्माण पर भी बल देता है जो अभिभावक वर्ग को उनकी उच्च प्रवृत्तियों के पतन से बचाये। निजी सम्पत्ति तथा निजी परिवार ऐसे प्रमुख भौतिक आकर्षण हैं जो श्रेष्ठ मस्तिष्कों में भी स्वार्थ एवं पक्षपात के बीज बो देते हैं। अतः प्लेटो अभिभावक वर्ग को पतन कसे बचाने के लिए साम्यवाद के साधन को अपनाता है, जिसे अपनी प्रकृति से एक नकारात्मक साधन कहा जा सकता है। बार्कर के अनुसार, ष्साम्यवाद आत्मिक सुधार का केवल एक भौतिक व आर्थिक अनुपूरक साधन है, जिसे सर्वप्रथम तथा सर्वाधिक महत्व देते हुये, प्लेटो प्राप्त (लागू) करना चाहता है ।

साम्यवादी व्यवस्था की यूनानी पृष्ठभूमि

यद्यपि प्लेटो ने रिपब्लिक में साम्यवाद की अवधारणा को एक विकसित व क्रान्तिकारी विचार के रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु उसने इसकी मूल प्रेरणा तत्कालीन यूनानी समाज में मौजूद कुछ परम्पराओं एंव विचारों से प्राप्त की है। यूनान के एक नगर–राज्य क्रीट में भूमि सामूहिक सम्पत्ति मानी जाती थी । एक अन्य नगर–राज्य स्पार्टा में निजी कृषि से उत्पन्न फसल का एक भाग राज्य के सार्वजनिक भोजनालयों को देना होता था और सात वर्ष की आयु में बच्चे राज्य द्वारा ले लिये जाते थे और राज्य उनकी शिक्षा का प्रबन्ध करता था । पाईथागोरस व उसकी मण्डली का मत था कि मित्रों की सम्पत्ति सभी की होती है। स्त्रियों के साम्यवाद की परम्परा भी सीमित रूप में यूनान में थी । एमाथिर्सियन लोग अपनी पत्नियों को सार्वजनिक रूप में रखते थे, ताकि वे परस्पर भाई बने रहें। स्पार्टी की एक परम्परा के अनुसार राज्य सेवा हेतु सन्तान पैदा करेन के लिए पति अपनी पत्नियों को अन्यों को दे देते थे। यूरीपीडज ने पत्नियों के साम्यवाद का समर्थन किया था। इस प्रकार प्लेटो की साम्यवाद की योजना पूर्णतः नवीन व मौलिक विचार नहीं है, अपितु उसने इसे तत्कालीन यूनान की परम्पराओं व विचार जगत से लिया है। और इसे अधिक स्पष्ट एवं तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया है ।

प्लेटो की साम्यवादी अवधारणा की विशेषतायें

प्लेटो की सम्पत्ति तथा परिवार से सम्बन्धित साम्यवाद की अवधारणा की प्रमुख विशेषतायें निम्नलिखित हैं–

(1) न्याय की पूरक व्यवस्था – प्लेटो का उद्देश्य न्याय सिद्धान्त पर आधारित आदर्श राज्य की स्थापना है। न्याय सिद्धान्त के उद्देश्य की प्राप्ति के दो प्रमुख साधन हैं – शिक्षा व साम्यवाद । जहाँ शिक्षा योजना न्याय की प्राप्ति का अध्यात्मिक व सकारात्मक साधन है, वहीं ही साम्यवाद की योजना न्याय की प्राप्ति का भौतिक व नकारात्मक साधन है।

(2) मात्र अभिभावक वर्ग से सम्बन्धित

प्लेटो की साम्यवादी योजना को केवल अभिभावक वर्ग (सरंक्षक वर्ग) पर लागू किया गया है, अर्थात यह व्यवस्था उत्पादक वर्ग पर लागू नहीं होती है ।

(3) राज्य की एकता की रक्षक व्यवस्था प्लेटो के अनुसार जब भ्रासक वर्ग की निजी सम्पत्ति तथा निजी परिवार होते हैं तो यह वर्ग निजी सम्पत्ति की वृद्धि तथा परिवार के हितों की पूर्ति के कार्य में लग जाता है और इससे भ्रासक वर्ग में आपसी प्रतियोगिता, ईर्ष्या व कलह उत्पन्न होता है। इस स्थिति में जनता का भोषण होता है और वह भ्रासक वर्ग की भात्रु हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप राज्य की एकता नष्ट हो जाती है और उसक पतन होता है। प्लेटो राज्य की एकता की रक्षा के लिए अभिभावक वर्ग के लिए सम्पत्ति के साम्यवाद तथा परिवार के साम्यवाद की योजना को लागू करता है। उसका मतं है उसकी साम्यवाद की योजना अभिभावक वर्ग को कंचन व कामिनी के कुप्रभावों से बचाकर उसके

विवेक की रक्षा करेगी और उसे सार्वजनिक हित में भाासन करने को प्रेरित करेगी। इसके अलावा परिवार के साम्यवाद को अपनाने पर राज्य मे तेरे–मेरे की भावना नहीं रहेगी तथा स्त्रियों को राज्य की सेवा का सक्रिय अवसर भी मिलेगा। इससे भी राज्य की एकता में वृद्धि होगी ।

साम्यवाद के प्रकार

प्लेटो ने दो प्रकार की साम्यवाद का विवरण प्रस्तुत किया है–

(अ) सम्पत्ति का साम्यवाद, तथा

प्रतिनिधि राजनीतिक विचारक एवं विचारधाराएँ

(ब) पत्नियों का साम्यवाद ।

(अ) सम्पत्ति का साम्यवाद

प्लेटो ने सम्पत्ति के साम्यवाद को केवल अभिभावक वर्ग पर लागू किया है। इस वर्ग के सम्बन्ध में सम्पत्ति के साम्यवाद को स्पष्ट करते हुये प्लेटो कहता है, ष्सबसे पहली बात तो यह कि उनके पास केवल उतनी ही व्यक्तिगत सम्पत्ति रहेगी जितनी जीवन–यापन के लिए परम आवश्यक है। दूसरी बात यह कि उनके पास कोई ऐसा आवास अथवा भण्डार नहीं होगा जो सदैव ही सबके लिए खुला हुआ नहीं हो ।... युद्ध–शिविर में रहने वाले सैनिकों के समान उनका सामूहिक भोजन व रहने की व्यवस्था होगी। समस्त नागरिकों में केवल उन्हीं के लिए सोने या चांदी का किसी भी रूप में स्पर्श करना, प्रयोग में लाना अथवा संग्रह करना अवैध होगा। इस प्रकार जीवन व्यतीत करते हुये ही वे अपनी भी रक्षा कर सकेंगे और अपने नगर (राज्य) की भी। किन्तु जब कभी भी वे अपने लिए निजी भूमि, घर तथा धन की व्यवस्था कर लेंगे, तब... उनके जीवन के समस्त दिन... बाहरी विदेशी भात्रुओं की तुलना में आन्तरिक मात्रुओं के भय से पीड़ित होने में ही गुजरेंगे और इस तरह अन्त में वे अपने तथा अपने राष्ट्र के पूर्ण नाश का मार्ग अपनायेंगे ।ष इस विवरण से यह भी स्पष्ट है कि प्लेटो का सम्पत्ति का साम्यवाद आधुनिक साम्यवाद से एकदम विपरीत आधार वाला है। आधुनिक साम्यवाद सम्पत्ति पर सामूहिक स्वामित्व की स्थापना चाहता है, ताकि आर्थिक असमानता समाप्त हो और सम्पत्ति का समान उपभोग सम्भव हो। किन्तु प्लेटो का साम्यवाद सम्पत्ति के समान त्याग पर आधारित है । फोस्टर के अनुसार, ष्प्लेटो के अभिभावक वर्ग को सामूहिक रूपसे सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त नहीं करना है, अपितु सम्पत्ति का सामूहिक रूप में त्याग करना है ।ष संक्षेप में, सम्पत्ति के साम्यवाद के सम्बन्ध में प्रमुख तथ्य निम्नलिखित हैं

(1) इस प्रकार के साम्यवाद द्वारा सैनिक वर्ग तथा दार्शनिक भाासक वर्ग को निजी सम्पत्ति रखने के अधिकार से वंचित रखा गया है, तथा

(2) सैनिक वर्ग तथा दार्शनिक भाासक वर्ग की प्रतिदिन की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने का दायित्व राज्य का है। राज्य इन दोनों वर्गों के लिए सार्वजनिक आवास गृहों तथा सार्वजनिक भोजनालयों की व्यवस्था करेगा।

सम्पत्ति के साम्यवाद का आधार

प्लेटो ने अग्रलिखितः आधारों पर सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना का समर्थन किया है–

(1) दार्शनिक आधार – प्लेटोवादी दर्शन के अनुसार सम्पत्ति वासना तत्व की प्रतीक है और भोग की प्रवृत्ति को बढ़ाने वाली है । दार्शनिक वर्ग व सैनिक वर्ग आत्मा के क्रमशः विवेक व साहस तत्वों से सम्बन्धित होते हैं, अतः निजी सम्पत्ति की व्यवस्था उनकी आत्मा की प्रवृत्ति के प्रतिकूल है ।

(2) मनोवैज्ञानिक आधार

निजी सम्पत्ति की व्यवस्था

मनुष्य मात्र की उदार प्रव त्ति पर विपरीत प्रभाव डालती है और व्यक्ति को स्वार्थी बनाती है। यदि दार्शनिक वर्ग एवं सैनिक वर्ग के लिए निजी सम्पत्ति की व्यवस्था स्वीकारी जायेगी

तो उनमें भी स्वार्थ की वृद्धि होगी और क्रमशः उनका विवेक व साहस कुण्ठित हो जायेगा।
(3) राजनीतिक आधार – प्लेटो के अनुसार जब राजसत्ता तथा निजी सम्पत्ति का संयोग हो जाता है तो राज्य का पतन हो जाता है। भासक वर्ग अपनी धन पिपासा के लिए राजसत्ता का दुरूपयोग करते हैं। अतः प्लेटो राजनीति व अर्थ–शक्ति के केन्द्रीयकरण को –समाप्त करके शासक वर्ग को केवल राजनीतिक भक्ति देने के पक्ष में है। इस प्रसंग में प्लेटो के चिंतन एवं दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हये सेबाइन ने कहा है, जहाँ तक सैनिकों व भाासकों का सम्बन्ध ज है, प्लेटो को भाासन के ऊपर घन के बुरे प्रभावों के ारे में इतना दृढ़ विश्वास था कि इस दोष को मिटाने के लिए उसे स्वयं सम्पत्ति के नाश के आलावा कोई रास्ता नहीं दिखायी दिया।

सम्पत्ति के साम्यवाद के उद्देश्य

प्लेटो की सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं
(1) सार्वजनिक हित की वृद्धि करना – सम्पत्ति के साम्यवाद की व्यवस्था के कारण भासक वर्ग के निजी आर्थिक स्वार्थ नहीं रहते हैं और वह सार्वजनिक हित में भासन करता है।
(2) राज्य की एकता की रक्षा – जब भाासक वर्ग के पास निजी सम्पत्ति होती है तो भाासक वर्ग में सम्पत्ति को लेकर आपसी प्रतियोगिता व ईर्ष्या भी होती है और इससे राज्य की एकता को भय उत्पन्न हो जाता है। किन्तु सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना भाासक वर्ग में इस प्रकार का दोष उत्पन्न नहीं होने देती है और यह राज्य की एकता की रक्षक सिद्ध होती हैं।
(3) अभिभावक वर्ग के लिए कल्याणकारी – सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना सैनिक वर्ग तथा भासक वर्ग को आर्थिक चिंताओं से मुक्त करती है और वह अपना समस्त समय व ध्यान अपनी कार्य कुशलता की वृद्धि में लगा सकते हैं। दार्शनिक भाासक सम्पत्ति के मोह से विरक्त होकर अन्तिम सत्य के चिंतन में लीन रह सकता है।

सम्पत्ति साम्यवाद की आलोचना

(1) सदगुणों के विकास में बाधक निजी सम्पत्ति की व्यवस्था अनेक सदगुणों के विकास में सहायक होती है, जैसे–दान, दया, परोपकार, आतिथ्य आदि के सदगुण । किन्तु प्लेटो ने निजी सम्पत्ति की संस्था के मात्र अवगुणों पर ध्यान दिया है, जो अनुचित है।
(2) अमनोवैज्ञानिक इतिहास व अनुभव बताता है कि निजी सम्पत्ति की संस्था मानव स्वभाव का अंग है, किन्तु प्लेटो अभिभावक वर्ग को इस संस्था से वंचित रखता है।
(3) राज्य की एकता को खतरा प्लेटो की सम्पत्ति की साम्यवादी योजना राज्य में एक ओर सम्पत्तिहीन अभिभावक वर्ग की रचना करती है और दूसरी ओर सम्पत्तिवान उत्पादक वर्ग की। सम्पत्ति के हितों की दृष्टि से सम्पूर्ण राज्य दो विरोधी वर्गों में विभाजित हो जाता है और इससे राज्य की एकता को ही खतरा उत्पन्न होने का भय रहता है।
(4) अर्द्ध साम्यवाद प्लेटो ने सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना को मात्र अभिभावक वर्ग के लिए लागू किया हैं और उत्पादक वर्ग को इससे मुक्त रखा है। प्रो० बार्कर ने इस दृष्टि से प्लेटो के साम्यवाद को श्अर्द्ध साम्यवादश कहा है। इससे उसकी साम्यवाद की योजना में सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोष उत्पन्न हुए हैं।
(5) समाज के विकास में बाधक
निजी सम्पत्ति की संस्था व्यक्ति में प्रतियोगिता के भाव उत्पन्न करती है और उसे विकास की प्रेरणा देती है जिससे सम्पूर्ण समाज का विकास होता है। किन्तु प्लेटो ने अभिभावक वर्ग को निजी सम्पत्ति से वंचित करके उसे आर्थिक विषयों में उदासीन बना दिया है।
(6) सम्पत्ति की समस्यायें सुलझाने में भासिक वर्ग असमर्थ – आलोचकों का मत हैं कि दार्शनिक भाासक वर्ग रू सम्पत्तिहीन वर्ग है। और इसलिए उसे सम्पत्ति सम्बन्धी जटिल समस्याओं का उचित श्ज्ञान भी नहीं हो सकता है। इस स्थिति में दार्शनिक भासक वर्ग राज्य एवं उत्पादक वर्ग की सम्पत्ति सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने में अयोग्य सिद्ध होगा

(7) तपस्यात्मक

सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना सार्वजनिक हित के नाम पर अभिभावक वर्ग को सम्पत्तिहीन रखती है और उसकी सम्पत्ति सम्बन्धी स्वतंत्रता का अन्त रकती है तथा उन्हें तपस्वी का जीवन व्यतीत करने पर बाध्य करती है। यह योजना सर्वाजनिक हित के नाम पर अभिभावक वर्ग का बलिदान करती है।

प्लेटो की सम्पत्ति के साम्यवाद की उपरोक्त आलोचना अरस्तू एवं अन्य विद्वानों द्वारा की गई है। अरस्तू इन बिन्दुओं के अलावा एक अन्य दृष्टि से भी इस साम्यवादी योजना की आलोचना करता है । उसका मत है कि आदर्श राज्य की स्थापना के लिए शिक्षा तो उचित साध न है, किन्तु साम्यवाद नहीं। निजी सम्पत्ति से उत्पन्न लोभ आदि के दोष आध्यात्मिक प्रकृति के हैं और उनका इलाज साम्यवाद की भौतिक व्यवस्था नहीं हो सकती है। अरस्तू के अनुसार, प्लेटो का साम्यवाद आध्यात्मिक बीमारियों का भौतिक इलाज प्रस्तुत करता है। एक दास को जंजीरों से मुक्त करके एक आध्यात्मिक व्यक्ति नहीं बनाया जा सकता है।

(ब) परिवार या पत्नियों का साम्यवाद

प्लेटो ने अपने न्याय–सिद्धानत पर आधारित एक आदर्श राज्य–व्यवस्था की स्थापना के लिए सम्पत्ति के साम्यवाद के साथ ही परिवार के साम्यवाद की व्यवस्था को भी अपनाया है। वस्तुतः परिवार के साम्यवाद की योजना उसके सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना का ही तार्किक विस्तार है, क्योंकि जब अभिभावक वर्ग के पास निजी सम्पत्ति का अभाव होगा तो उसके आधर पर बनने वाले परिवार का भी स्वतः ही अभाव हो जायेगा। इन दोनों ही प्रकार की साम्यवादी योजनाओं का उददेश्य अभिभावक वर्ग को ऐसा स्वस्थ्य भौतिक वातावरण देना है जो उन्हें नैतिक पतन से बचाते हुये निरन्तर अपने कर्तव्यों में व्यस्त रखे, अतः उद्देश्य की दृष्टि से साम्यवाद के ये दोनों प्रकार एक–दूसरे के अनुपूरक हैं। प्लेटों के चिंतन में परिवार के साम्यवाद के महत्व को बताते हुये बार्कर कहता है, ष्इस (परिवार) की समाप्ति का दिन राज्य के लिए एकता व व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता तथा इन दोनों के लिए न्याय की शुरूआत का दिन होगा ।

प्लेटो के परिवार के साम्यवाद की योजना का बाह्य रूप एवं ढाँचेगत विशेषतायें निम्नलिखित हैं–

(1) अभिभावक वर्ग की स्त्रियों एवं पुरुषों का कोई निजी परिवार नहीं होगा ।

(2) काम की व त्ति तथा सन्तान की उत्पत्ति मानव जाति की स्वाभाविक व त्ति है, अतरू राज्य अभिभावक वर्ग की स्त्रियों व पुरूषों को भाारीरिक सम्पर्क रखने की आज्ञा देगा, इन्हें अस्थायी विवाह कहा जा सकता है।

(3) राज्य अभिभावक वर्ग की स्त्रियों व पुरुषों की आयु व स्वभाव (गुण) को ध्यान में रखकर उनके बीच अस्थायी विवाह सम्बन्ध स्थापित करेगा। इस हेतु राज्य उत्सवों का आयोजन करेगा । (4) इस प्रकार के अस्थायी विवाहों से उत्पन्न सन्तान को उसके जन्म के साथ ही राज्य ले लेगा और उनका लालन–पालन भी राज्य ही करेगा। यह कार्य इस प्रकार से किया जायेगा कि बच्चे के माता–पिता अपनी संतान को नहीं पहचान सकें। इस स्थिति में समस्त अभिभावक वर्ग की स्त्रियाँ व पुरूष उनके माँ–बाप होंगे।

परिवार के साम्यवाद का आधार

प्लेटो ने परिवार के साम्यवाद की योजना का समर्थन तीन प्रमुख आधारों पर किया है–

(1) राजनीतिक आधार – प्लेटो चाहता था कि स्त्रियाँ भी पुरुषों के समान राजय के भासन व रक्षा–कार्य में भाग लें। उसकी परिवार के साम्यवाद की योजना स्त्रियों को इस प्रकार का अवसर प्रदान करती है।

(2) नैतिक आधार– प्लेटो के अनुसार जब भाासक वर्ग के स्थायी परिवार होते हैं तो वे अपने परिवारों के मोह के कारण अनचित नीतियों का पालन करते हैं। इससे भाासक वर्ग के विभिन्न परिवारों में परस्पर विरोध उत्पन्न होता है और राज्य की एकता के लिए भय उत्पन्न हो जाता है। परिवार के साम्यवाद की योजना उसके अभिभावक वर्ग (शासक वर्ग) के ऐसे नैतिक पतन को रोकती है।

(3) सुप्रजनन का आधार– प्लेटो के अनुसार आदर्श राज्य के लिए श्रेष्ठ नागरिकों की जरूरत होती है और इसके लिए जरूरी है कि राज्य में श्रेष्ठ सन्तानें जन्म लें, किन्तु इसके लिए आवश्यक है कि श्रेष्ठ स्त्रियों व पुरूषों में सहवास हो। प्लेटो की दृष्टि में आदर्श राज्य में श्रेष्ठ स्त्रियों एवं पुरुष केवल अभिभावक वर्ग में ही सम्भव है, अतः वह इस वर्ग के स्त्रियों व पुरुषों के बीच अस्थायी विवाह सम्बन्ध को उचित मानता है। इसमें भी वह यह सावधानी रखता है कि स्त्रियों व पुरुषों के जोड़े. उनकी आयु व स्वभाव (गुण) को ध्यान में रखकर बनाये जायें, ताकि श्रेष्ठतम सन्तति की प्राप्ति हो ।

परिवार के साम्यवाद के उद्देश्य– प्लेटो के परिवार के साम्यवाद के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं–

(1) स्त्रियों की मुक्ति और राज्य का लाभ प्लेटो का मत था कि योग्यता व क्षमता की दृष्टि से स्त्रियाँ सभी प्रकार से पुरुषों के समान होती हैं। किन्तु तत्कालीन एथेंस में स्त्रियाँ घर की चार दीवारी में बन्ध थीं और उनकी उपलब्धि केवल सन्तान के पालन–पोषण तक सीमित थी।

प्लेटो परिवार की साम्यवादी योजना के द्वारा स्त्रियों को परम्परागत जीवन–प्रणाली से स्वतंत्र देखना चाहता था और उन्हें पुरूषों के समान राजनीति में सक्रिय देखना चाहता था। उसका मत था कि इससे राज्य को भी स्त्रियों की सेवा का लाभ मिलेगा

(2) श्रेष्ठ नागरिकों की प्राप्ति – प्लेटो आनुवंशिक आधार पर यह मत प्रकट करता है कि श्रेष्ठ माता–पिता की सन्तान भी श्रेष्ठ होती है। परिवार के साम्यवाद की योजना के अनुसार राज्य स्वास्थ्य व गुण की दृष्टि से अभिभावक वर्ग की श्रेष्ठ स्त्रियों व पुरूषों के जोड़े बनायेगा और उनके अस्थायी विवाह सम्बन्ध से श्रेष्ठ सन्तति प्राप्त होगी, जो श्रेष्ठ नागरिक बनने की क्षमता रखेंगी।

(3) अभिभावक वर्ग की क्षमता में वृद्धि – परिवार के साम्यवाद की योजना अभिभावक वर्ग को परिवार की दैनिक आवश्यकताओं की चिन्ता से मुक्त रखती है और वे परिवार के कुप्रभावों से भी मुक्त रहते हैं। इस स्थिति में अभिभावक वर्ग अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति करने में अधिक सक्षम हो जाता है।

(4) जनसंख्या का सन्तुलन – परिवार के साम्यवाद की योजना का एक प्रमुख उद्देश्य आदर्श नगर– राज्य की जनसंख्या को आदर्श सीमा में बनाये रखना है। प्लेटों के अनुसार, "विवाहों की संख्या को हम भाासकों के स्व–विवेक पर छोड़ देंगे, वे इस लक्ष्य को सदैव ध्यान में रखेंग कि युद्धों, महामारियों आदि से जनसंख्या की होने वाली हानि के बाद भी नागरिकों की जनसंख्या यथासम्भव स्थिर रहे, और वे ऐसे सभी सम्भव प्रयत्न करेंगे कि हमारा राज्य न तो जनसंख्या की दृष्टि से बड़ा हो पाये और न छोटा रह जाये...! एण्टोनी फ्लू के अनुसार प्लेटो सामाजिक दृष्टि से जनसंख्या की वृद्धि की विस्फोटक स्थिति के बारे में सतत् जागरूक है। (5) सम्पत्ति के साम्यवाद की पूर्ति – जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सम्पत्ति के साम्यवाद की स्थापना की गयी है वे उद्देश्य पूरी तरह से तब तक प्राप्त नहीं किये जा सकते तब तक कि सम्पत्ति के साम्यवाद के साथ–साथ परिवार के साम्यवाद की योजना भी लागू नहीं की जाये। यदि अभिभावक वर्ग की स्थायी विवाह करने का अधिकार दिया जायेगा तो स्थायी परिवार भी बनेंगे जिनके संचालन के लिए निजी सम्पत्ति भी जरूरी होगी । इस स्थिति में अभिभावक वर्ग के लिए सम्पत्ति के साम्यवाद की योजना भी लागू नहीं हो सकेगी। इस प्रकार सम्पत्ति का साम्यवाद तथा इससे प्राप्त होने वाले लाभ भी तब ही प्राप्त

किये जा सकते हैं जब इसके अनुपूरक रूप से परिवार के साम्यवाद की योजना भी लागू की जाये ।

(6) राज्य की एकता की प्राप्ति परिवार के साम्यवाद की योजना लागू होनें पर अभिभावक वर्ग के सभी पुरुषों व स्त्रियों में पति—पत्नी का सम्बन्ध होगारू उनकी सन्तानें सभी की सन्तानें होगी और इस प्रकार समस्त अभिभावक वर्ग एक बड़े व उदार परिवार का रूप ध ाारण कर लेगा। इससे अभिभावक वर्ग के विचारों एवं आचरण में विरोध उत्पन्न नहीं होगा और राज्य की एकता मजबूत होगी। इसी प्रकार जब इस अभिभावक वर्ग की सन्तान का पालन—पोषण सार्वजनिक शिशु गृहों में होगा और सार्वजनिक विद्यालयों में दीक्षा होगी तो ये बच्चे भी परिवार की संकीर्णता तथा स्वार्थपरता से मुक्त होंगे। इससे पुनः राज्य की एकता मजबूत होगी ।

परिवार की साम्यवाद की आलोचना

(1) स्त्री व पुरूष की समानता भ्रमपूर्ण प्लेटों का परिवार का साम्यवाद इस भ्रमपूर्ण धारणा पर खड़ा है कि स्त्रियां केवल लिंग की दृष्टि से पुरुषों से भिन्न होती हैं, अन्यथा स्त्रियां सभी प्रकार से पुरूषों के समान होती है। किन्तु उसकी यह मान्यता सामान्य अनुभव के विरूद्ध है। प्रायः देखा जाता है कि पुरूष स्त्रियों की तुलना में अधिक उद्यमी, उत्साही एवं अनुदार होते हैं और प्रायः स्त्रियाँ भी पुरूषों से अधिक कोमल, दयालु तथा संवेदनशील होती है। बार्कर का मत है, ष्स्त्री की प्रकृति में लिंग मात्र एक ऐसा एकाकी तथ्य नहीं है जिसमें और केवल जिसके द्वारा वह पुरूष से भिन्न होती है, अपितु यह अन्तर उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को ही पुरुषों से भिन्न रंग दे देता है ।

(2) पशु—जगत् के नियम मान्य नहीं — प्लेटो ने परिवार के साम्यवाद की व्याख्या एवं समर्थन के लिए पशु—जगत् के विभिन्न उदाहरण दिये हैं। इन उदाहरणों के आधार पर प्लेटों ने स्त्रियों को सैनिक वर्ग में भाामिल किया है और नस्ल सुधार के लिए अस्थायी विवाह सम्बन्ध का समर्थन किया है। आलोचकों का मत है कि पशु—जगत् के नियमों को मानव—समाज में लागू करना अनैतिक है और यह मानव—— जगत् के स्तर पर गिराने के समान है।

(3) न्याय सिद्धान्त के विरूद्ध रू— प्लेटो के न्याय सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक को अपने स्वाभाविक गुण के अनुसार आचरण करना चाहिए, किन्तु प्लेटों के परिवार का साम्यवाद इस सिद्धान्त

के का उल्लंघन करता है। स्त्रियों के लिए स्वाभाविक गुण बच्चों का लालन—पालन है और इसमें उन्हें सहज कुशलता भी प्राप्त हो सकती है, किन्तु प्लेटों परिवार के साम्यवाद के सिद्धान्त को लागू करके अभिभावक वर्ग की स्त्रियों को इस स्वाभाविक कर्म से वंचित रखता है। आलोचकों के अनुसार यह स्त्रियों के प्रसंग में न्याय सिद्धान्त का उल्लंघन है।

(4) श्रेष्ठ सन्तति की गारण्टी नहीं मानव के विकास में आनुवांशिकता एवं वातावरण दोनों ही तत्वों का अत्यन्त महत्व है। प्लेटों ने श्रेष्ठ स्त्री—पुरुषों के जोड़ों की व्यवस्था करके आनुवांशिकता के तत्व को पर्याप्त महत्व दिया है, किन्तु वह अभिभावक वर्ग की सन्तान को उचित वातावरण नहीं दे सकता है। वस्तुतः प्लेटों की परिवार की साम्यवादी योजना में ऐसा वातावरणं दिया जाना सम्भव भी नहीं है। सार्वजनिक शिशु—गहों में राजकीय कर्मचारियों की देख—रेख में पले बच्चों का उचित भावनात्मक व नैतिक विकास सम्भव नहीं है। यह कार्य केवल परिवार के माध्यम से माता—पिता नहीं ले सकते है। स्नेह, अपनत्व व प्रेम के अभाव में विकसित ये बच्चे न तो श्रेष्ठ सन्तति सिद्ध हो सकते हैं और न आदर्श राज्य के श्रेष्ठ नागरिक । परिवार के साम्यवाद में पले बच्चों की दुर्दशा को ध्यान में रखते हुए अरस्तू करता है, ष्प्लेटोवादी पुत्र होनें से चचेरा भाई होना अच्छा है ।ष (5) परिवार का अन्त अनुचित प्लेटो श्परिवार के महत्त्व को समझने में असमर्थ रहा है। परिवार का अन्त करना मानव समाज के लिए अहितकर होगा —

परिवार आदिम समाजों के विकास के परिणामस्वरूप बनी एक ऐतिहासिक संस्था है। इसके पीछे युगों का अनुभव है। इसे समाप्त करने का अर्थ है पुनः असभ्यता के युग में लौटना (पप) राज्य की तरह ही परिवार भी मानव—स्वभाव से उत्पन्न संस्था हैय यह भी राज्य की तरह एक प्राकृतिक संस्था है। अतः राज्य के नाम पर परिवार का अन्त उचित नही है । (पपप) प्लेटो ने परिवार को स्वार्थ व संकीर्णता के संस्कार देने वाली संस्था माना है, किन्तु यह वास्तव में श्नागरिकता की प्रथम पाठशालाश है। अरस्तू ने परिवार को नैतिक गुणों को सिखाने वाली संस्था बताया है, जैसे — सहयोग, सहानुभूति, अनुशासन आदि ।

(6) यौन सम्बन्धों की दृष्टि से अनैतिक व्यवस्था —— (प) प्लेटो की परिवार के साम्यवाद की योजना केवल अस्थायी विवाह सम्बन्ध को स्वीकारती हैं और इसे भी एक मात्र यौन—सम्बन्ध का रूप देती हैय किन्तु वास्तव में विवाह मात्र यौन—सम्बन्ध नहीं होता है, अपितु यह स्त्री व पुरुष के बीच नैतिक, मानसिक व आध्यात्मिक सम्बन्ध भी होता है ।
(पप) प्लेटो ने राज्य के लिए सन्तति—प्रजनन के नाम पर यौन—सम्बन्धों को सार्वजनिक विषय बनाया है और इसे यांत्रिक रूप दिया है, जो मानव—स्वभाव की दृष्टि से अनैतिक च अमनोवैज्ञानिक है।

(पपप) राज्य के सार्वजनिक शिश—गृहों में बच्चों लालन—पालन इस प्रकार से किया जाना है कि उन्हें अपने माता—पिता का ज्ञान नहीं हो सकता और माता—पिता को अपनी सन्तान की पहचान नहीं हो सकती है। इसी प्रकार सगे भाई—बहन भी एक दूसरे को पहचानने में असमर्थ रहेंगे। इस स्थिति में यह भय बना रहता है कि उन व्यक्तियों में यौन सम्बन्ध स्थापित हो जायें जिनमें ऐसे सम्बन्ध नैतिक दृष्टि से निषिद्ध हैं। इस प्रकार यह व्यवस्था अनैतिक यौन सम्बन्धों की स्थापना करके संस्कृति व सभ्यता के लिए ही विनाशकारी सिद्ध हो सकती है।

(7) योजना के असफल होने की सम्भावना प्लेटो की योजना इस विश्वास पर आध रित है कि माँ—बाप एवं सन्तति एक—दूसरे को नहीं पहचानेंगे और इसलिए पक्षपता का जन्म नहीं होगा। किन्तु मानव स्वभाव ही ऐसा है कि माँ—बाप तथा सन्तति में यह जिज्ञासा हमेशा ही रहेगी कि वे एक—दूसरे की पहचान करें। आकृति अथवा अन्य उपायों के द्वारा परस्पर ऐसी पहचान करना असम्भव भी नहीं है। किन्तु ऐसा होने पर प्लेटों की परिवार के साम्यवाद की सम्पूर्ण योजना ही ष असफल हो जायेगी ।

(8) राज्य की एकता के लिए संकट — परिवार के साम्यवाद की योजना के अन्तर्गत श्राज्य अस्थायी विवाह के लिए स्त्री व पुरुषों के जोड़े बनाता है, किन्तु जोड़े बनाने की यह व्यवस्था अस्पष्ट व अव्यवहारिक है। इस व्यवस्था को लेकर अभिभावक वर्ग में द्वेष व विरोध ा उत्पन्न हो सकते हैं और इससे उनमें संघर्ष का जन्म हो सकता है। इस स्थिति में राज्य की एकता को मजबूत करने के नाम पर स्थापित परिवार के साम्यवाद की योजना ही राज्य की एकता को खतरा पैदा कर सकती है।

(9) राज्य की प्रकृति के विरुद्ध प्लेटों ने राज्य की एकता को सुदृढ़ करने के लिए परिवार के साम्यवाद की योजना को प्रस्तुत किया है। किन्तु अरस्तू का मत है कि राज्य की प्रकृ ति एकल नहीं, बहुल है। स्पष्ट है कि प्लेटो राज्य की वास्तविक प्रकृति ही समझने में असमर्थ रहा है। परिवार के साम्यवाद की योजना के द्वारा प्लेटो अभिभावकों के निजी परिवारों का अन्तर करके सम्पूर्ण राज्य को ही एक परिवार का रूप दे देता है। वस्तुतः राज्य की रचना में एकत्व पर अत्यधिक बल देना उसकी मूल प्रकृति के ही विरुद्ध है। प्लेटो के इस प्रगत्न की आलोचना करते हुए अरस्तू कहता है, ष्राज्य अन्तर में उस सीमा तक एकता प्राप्त कर लेगा कि वह राज्य ही नहीं रहेगा।

(10) अभिभावक वर्ग की दृष्टि से दोषपूर्ण—

प्लेटो ने अभिभावक वर्ग पर परिवार के साम्यवाद की योजना को बन्धनकारी रूप मैं लागू किया है। वस्तुतः यह योजना अभिभावक वर्ग की शिक्षा एवं विवेक के प्रति एक प्रकार का

अविश्वास है, जिसे उचित नहीं माना जा सकता है।

अभिभावक वर्ग को उत्पादक वर्ग के पारिवारिक विवाहों को हल करने का अधि कार है, किन्तु वे इस दृष्टि से असक्षम ही सिद्ध होंगे, क्योंकि उन्हें स्वयं पारिवारिक जीवन का कोई अनुभव नहीं होता है।

(पपप) पारिवारिक जीवन के अभाव में अभिभावक वर्ग का जीवन नीरस व आनन्दहीन होगा और वे राज्य के कार्यों के प्रति उदासीन हो जायेंगे। वस्तुतः ऐसा भाासक वर्ग भी राज्य को नीरसता व आनन्दहीनता ही देगा।

(पअ) परिवार के साम्यवाद की योजना अभिभावक वर्ग को साधन मानती है और राज्य को साध्य द्य अभिभावक वर्ग की दृष्टि से यह अनुचित है।

(11) अमनोवैज्ञानिक व अव्यवहारिक योजना– परिवार के साम्यवाद की योजना अपनी प्रकृ ति से अमनोवैज्ञानिक और अव्यवहारिक है। यही कारण है कि यह योजना प्लेटो के जीवन में ही असफल मानली गई और इसे आज तक कहीं भी लागू नहीं किया गया है। प्लेटो ने स्वयं श्रिपब्लिकश की इस योजना की त्यागकर अपने अगले ग्रन्थ श्लॉजश में स्थायी विवाह तथा निजी परिवार की व्यवस्था को मान्यता दी है।

(12) योजना की आवश्यकता नहीं – अरस्तू का मत है कि प्लेटो जिस न्याय की स्थापना चाहता है उसकी प्राप्ति के लिए परिवार के साम्यवाद की कोई आवश्यकता नहीं है, इसलिए प्राप्ति शिक्षा–व्यवस्था द्वारा हो सकती है। प्लेटो लोभ, पक्षपात आदि के दोषों के अन्त के लिए परिवार के साम्यवाद को लागू करना चाहता है। ये दोष नैतिक रोग के समान है और इनका इलाज भौतिक साध न द्वारा नहीं हो सकता है। अरस्तू का मत है कि प्लेटो नैतिक रोग के लिए भौतिक उपचार प्रस्तुत करता है, इसलिए यह अमान्य व अनावश्यक है।

प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने अनेक दृष्टियों से प्लेटो के परिवार के साम्यवाद की कटु आलोचना की है, इनमें से अधिकांश आलोचनाओं का उल्लेख उपरोक्त सामान्य आलोचना में किया जा चुका है। संक्षेप में, श्अरस्तू द्वारा परिवार के साम्यवाद की आलोचनाओं का सारांश इस प्रकार है

परिवार के साम्यवाद से एकता के स्थान पर सामाजिक अव्यवस्था मिलेगी।

इस व्यवस्था में बच्चों का विकास सबका उत्तरदायित्व होगा, किन्तु इससे बच्चो की अपेक्षा होगी क्योंकि सबकी जिम्मेदारी किसी के जिम्मेदारी नहीं होती है ।

इस साम्यवादी व्यवस्था के समर्थन में पशु–जगत के उदाहरण मानव की नैतिकता के विरुद्ध है ।

राजय द्वारा अस्थायी विवाह सम्बन्धों की व्यवस्था अव्यवहारिक है।

इस व्यवस्था में निकटतम सम्बन्धियों में यौन–सम्बन्ध सम्भव है, अतः यह अनैतिक व्यवस्था है ।

यह अभिभावक वर्ग के लिए कष्टकारी व्यवस्था है।

जब स्त्रियाँ सार्वजनिक कार्यों में भाग लेंगी तो गृह कार्य की हानि होगी ।

परिवार की व्यवस्था का अन्त होने पर अनेक सद्‌गुणों का अन्त हो जायेगा ।

यदि यह व्यवस्था वास्तव में अच्छी है तो इसे उत्पादक वर्ग पर भी लागू किया जाना चाहिए।

इस बात की सम्भावना है कि माता–पिता तथा बच्चे एक–दूसरे को पहचान लें और यदि ऐसा होता है तो सम्पूर्ण साम्यवादी व्यवस्था ही असफल हो जायेगी।

परिवार के साम्यवाद की योजना सम्पूर्ण राज्य को ही एक बड़े परिवार का रूप देती है, जो राज्य की प्रकृति के विरुद्ध है ।

राज्य बहुल संस्था है, उसकी एकता पर अत्यधिक बल देना अनुचित है। इससे राज्य का ही अन्त हो जायेगा ।

निष्कर्ष – प्लेटो ने साम्यवाद के जिन दो रूपों का उल्लेख किया है वे अपनी प्रकृति से

नकारात्मक हैं। इसकी साम्यवादी व्यवस्था का उद्देश्य अभिभावक वर्ग के नैतिक विकास के मार्ग की बाधाओं को हटाना है। ग्रीन के अनुसार, ष्प्लेटो के साम्यवाद का उद्देश्य नैतिक मानव–जीवन के मार्ग की बाधाओं अथवा मानव मस्तिष्क के ऊर्ध्वगामी विकास के मार्ग की बाधाओं को दूर करना है ।ष सम्पत्ति के साम्यवाद के समर्थन में उसका यह तर्क एकदम उचित है कि आदर्श भासन अथवा स्वच्छ भाासन के लिए जरूरी है कि राजनीतिक भाक्ति तथा ध न की भाक्ति का पृथक्करण किया जाये। किन्तु व्यवहार में सम्पत्ति के साम्यवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता है, क्योंकि मानव जीवन में निजी सम्पत्ति की व्यवस्था का अपना महत्त्व है। जहाँ तक परिवार की साम्यवादी व्यवस्था का सम्बन्ध है, यह सिद्धान्त एवं तर्क की दृष्टि से चाहे जितनी आकर्षक एवं उचित प्रतीत होता हो, किन्तु परम्परागत नैतिकता, संस्कृति तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से यह पूर्णतः अव्यवहारिक है और सम्भवतः यही कारण है कि इसे आज तक कहीं भी लागू करने का का कोई प्रयत्न तक नहीं किया गया है।

अभ्यास प्रश्न

1 प्लेटो का संक्षित जीवन परिचय दें ।
2 प्लेटो के आदर्श राज्य की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये ।
3 प्लेटो के न्याय सिद्धांत की विवेचना कीजिये ।
4 प्लेटो की शिक्षा योजना तथा उसकी सीमाओं की व्याख्या कीजिये ।
5 प्लेटो के साम्यवाद के सिद्धांत की समीक्षा कीजिए।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1- **राजनीतिक चिन्तन का इतिहास लेखक डॉ. सुरेश मिश्रा प्रकाशक लक्ष्मी नारायण अग्रवाल**, **आगरा प्रकाशन वर्ष** 2018

2- **पश्चिमी राजनीतिक विचारक लेखक डॉ. श्यामलाल प्रकाशक राजपाल एंड संस**, **दिल्ली**, **प्रकाशन वर्ष** 2016

3- **भारतीय और पाश्चात्य राजनीतिक विचारक**, **डॉ. सुभाष शर्मा**, **विश्व पुस्तकालय**, **लखनऊ**, 2020

4- **भारतीय राजनीतिक विचार**, **डॉ. रवीन्द्र कुमार**, **प्रकाशन संस्थान**, **दिल्ली** 2017

5- **राजनीतिक सिद्धांत और विचारक** , **डॉ. आर.सी. गुप्ता**, **सहोदया पब्लिकेशन**, **जयपुर** 2019

6- **राजनीतिक विचारकों की विचारधाराएं**, **डॉ. हरिकृष्ण सिंह**, **साहित्य भवन**, **आगरा**, 2021

7- **राजनीतिक विचार – प्लेटो से अंबेडकर तक**, **डॉ. सुरेश चंद्र**, **ओरिएंट ब्लैकस्वान** (**हिंदी अनुवाद**) 2015

8- **राजनीतिक सिद्धांत**: **एक परिचय**, **डॉ. पुष्पेश पंत**, **नेशनल बुक ट्रस्ट** (NBT), **भारत** 2014

MATS UNIVERSITY

MATS CENTRE FOR DISTANCE AND ONLINE EDUCATION

UNIVERSITY CAMPUS: Aarang Kharora Highway, Aarang, Raipur, CG, 493 441

RAIPUR CAMPUS: MATS Tower, Pandri, Raipur, CG, 492 002

T : 0771 4078994, 95, 96, 98 Toll Free ODL MODE : 81520 79999, 81520 29999

Website: www.matsodl.com